ध्वनिसिद्धान्त

का

काव्यशास्त्रीय,

सौन्दर्यशास्त्रीय

और

समाजमनोवैज्ञानिक

अध्ययन

॥ इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० लिट् उपाधि के लिए स्वीकृत शोधप्रबन्ध

ध्वनिसिद्धान्त का काव्यशास्त्रीय, सौन्दर्यशास्त्रीय और समाजमनोवैज्ञानिक अध्ययन

डॉ० कृष्णकुमार शर्मा

एम. ए. (हिन्दी-संस्कृत), पी. एच. डी., डी लिट्

अभिनव भारती

४२-सम्मेलन मार्ग • इलाहाबाद २११००३

प्रस्तावना

आनन्दवर्धनप्रतिपादित ध्वनिसिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र परम्परा की अन्यतम उपलब्धि है। यह सिद्धान्त काव्य, काव्यरचना-प्रक्रिया और काव्य-सौन्दर्य के व्यापक प्रतिमानों को प्रस्तुत करता है।

आनन्दवर्धन का युग (ईसा ८५५-८८३) धर्म और दर्शन की दृष्टि से भी वैविध्यपूर्ण था। शंकर के अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन हो चुका था। अद्वैत सिद्धान्त पारमार्थिक रूप से एक ब्रह्म की स्थापना करते हुए व्यावहारिक दृष्टि से सगुण को भी स्वीकार करता है। प्रो० हिरियन्ना ने धर्म, दर्शन, काव्य और काव्य-शास्त्र में भारतीय मानस की सदृशसूत्रता का उद्घाटन करते हुए कविता और आलोचना के विकास की समांतरता को प्रकट किया है।[1] वैदिक काव्य का विषय प्रकृति और उसकी शक्तियाँ था, क्लासीकल काव्य में प्रकृति के स्थान पर अनुभूति को स्वीकार किया गया।[2] इस प्रकार कवि की दृष्टि बाहर से भीतर की ओर स्थानान्तरित हुई। दार्शनिक विचारणा में भी यह दृष्टि-सादृश्य है। ब्रह्म और जगत् की एकता का प्रतिपादन, असंख्य देवताओं की मान्यता से चलकर एक अन्तर्यामी की धारणा यही तो है। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में भी यही घटित हुआ। भामह और उद्भट दोष-गुण और अलंकारादि बाह्य तत्त्वों के विवेचन में काव्यशास्त्र को बाँधे रहे। आनन्दवर्धन ने इन तत्त्वों से उठकर काव्य के आत्मा प्रतीयमान अर्थ की चर्चा की। यह सिद्धान्त आत्मा सिद्धान्त के पूर्ण सदृश है। जैसे जगत् के उपादान और अनुभव स्वयं में सत्य नहीं है वरन् एक चरम सत्य की विविधरूपा, किन्तु अपूर्ण अभिव्यक्ति है, उसी प्रकार शब्द और वाच्यार्थ कविता के बाह्य रूपाकार हैं, जब तक सहृदय इस बाह्य को भेद कर कविता के चरम प्रतीयमान अर्थ तक नहीं पहुँचता उसे चित्तविस्तार रूपा चमत्कृति की अनुभूति नहीं हो सकती। यह धारणा शंकर की वेदान्ती विचारणा के अनुकूल है। इसी प्रकार आनन्दवर्धन 'स एव अर्थः काव्यस्यात्मा' कहकर भी ध्वनि में वस्तु और अलंकार की वाच्यातिशयी प्रतीयमानता को स्वीकार करते हैं।

पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टि-भेद उस युग का सत्य था। आनन्दवर्धन का सिद्धान्त काव्य के सन्दर्भ में इस युग सत्य का प्रमाण है। ऐसा प्रतीत होता है

---

१. डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी 'एम० हिरियन्नाज व्यूज आन थिअरी आव पोएट्री' (निबन्ध)

२ आर्ट एक्सपीरीएन्स, एम० हिरियन्ना, पृ० ६

जैसे आनन्दवर्धन का व्यक्तित्व दो स्तरों में प्रसरण करता है। एक स्तर ध्वन्यालोक के प्रथम और द्वितीय उद्योत में है जहाँ 'स एवार्थ' कहा गया है, द्वितीय स्तर की प्रतीति चतुर्थ उद्योत में होती है। जिसमें अनन्त काव्य-मार्गों की स्वीकृति दी गई है। आनन्दवर्धन एक ओर कवि का प्रतीयमानता का मार्ग दिखाते हैं कि कहीं चलना नहीं है वाच्यार्थ तक ही सीमित नहीं रहना। प्रतीयमानता के चरम तक, जो काव्य सृजन का चरम बिन्दु है—पहुँचना है। दूसरी ओर आनन्दवर्धन सहृदय का विधान करते हैं कि सहृदय है तो स्वयं प्रतीयमान अर्थ का पा ही लेगा।

आनन्दवर्धन की दृष्टि में सौन्दर्य वस्तुनिष्ठ होते हुए भी सहृदय की अपेक्षा रखता है। सहृदय के अभाव में सौन्दर्य है यह कौन कहेगा? और वस्तु सौन्दर्य के अभाव में सहृदय सौन्दर्य पायेगा भी कहाँ?

ध्वनिसिद्धान्त काव्य की रचना प्रक्रिया का सिद्धान्त है। कवि की अनुभूति ही रस रूप अर्थ में परिणत होती है। कवि की लौकिक अनुभूति दुःख-सुखात्मक और वैयक्तिक है जब यह काव्यरूप में परिणत होती है तो रस कहलाती है। यह रसरूप अनुभूति प्रमाता के हृदय में व्यक्त होती है। ध्वन्यालोक के अनुसार आनन्दवर्धन के मत को प्रस्तुत करते भी आज जैसे डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी रस को स्वतः 'प्रमातानिष्ठ' लिख जाते हैं।

व्यंजना वृत्ति पर आधृत ध्वनिसिद्धान्त काव्यार्थ की सार्वभौम व्याख्या प्रस्तुत करता है। प्रस्तुत लेखक का विश्वास है कि ध्वनिसिद्धान्त प्रतिपादित विचारणाएँ कविता के सौन्दर्य और उसकी अनुभूति में सम्बद्ध समस्याओं का समाधान तो करती ही है, सृजन-प्रक्रिया विषयक सुचिन्तित निष्कर्ष भी उपस्थित करती हैं। अतः इस सिद्धान्त में प्रस्तुत विषय आधुनिक तो क्या, किसी भी युग की कविता के लिए संगत है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध ध्वनिसिद्धान्त को नए ज्ञान के प्रकाश में व्याख्या करते हुए भारतीय काव्यशास्त्र के निषेध के युग में उसकी प्रामाणिकता पुनः प्रतिपादित करता है।

ध्वनिसिद्धान्त के दो रूप हैं—सामान्य और विशिष्ट। सामान्य स्वरूप सभी रचनाओं के सौन्दर्य की व्याख्या हेतु संगत है। सौन्दर्य का स्वरूप, आधान और अनुभूति तथा सौन्दर्यविषयक अन्य समस्याओं के सन्दर्भ में आनन्दवर्धन ने जो धारणाएँ ईसा की नवम शताब्दी में उपस्थित की थी उनकी मूल्यवत्ता ललित रचनाओं के प्रसंग में आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रियों की विचारणाओं से प्रमाणित होता है। ध्वनिसिद्धान्त के इस स्वरूप की, ललित रचनाओं के सन्दर्भ में व्याख्या हिन्दी में प्रथम बार इस शोध-प्रबन्ध में की जा रही है। यह इस सिद्धान्त की, इस प्रकाश में पुनः व्याख्या है।

भरत का रससिद्धान्त नाट्य सन्दर्भीय है। काव्य में रस के स्वरूप का विधान आनन्दवर्धन ने ही किया है। काव्य में रस प्रतीयमान अर्थरूप में ही रह सकता है।

एक ओर आनन्दवर्धन ने रस और कवि की अनुभूति का सम्बन्ध स्थापित किया है दूसरी ओर सहृदय की अनिवार्यता ज्ञापित कर रस का सम्बन्ध उसकी चित्तवृत्तियों से जोड़ा है। डॉ० नगेन्द्र ने रस को काव्य का सार तत्त्व कहते हुए ध्वनिसिद्धान्त में रस-सिद्धान्त की अपेक्षा कल्पना पर बल और अनुभूति की गुणीभूतता की चर्चा की है। यह विचारणा उपयुक्त नहीं है। आनन्दवर्धन ने कवि की अनुभूति को ही रस रूप में परिणत माना है—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

उपर्युक्त कारिका में 'शोक' अनुभूति के काव्यात्मारूप अर्थ में परिणत होने का ही कथन है। अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि ध्वनिसिद्धान्त में अनुभूति का गौण स्थान है। सच यह है कि डॉ० नगेन्द्र कथित व्यापक 'रस-सिद्धान्त' आनन्दवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त की रस-ध्वनि का ही विवेचन है, भरत के मूल रस सिद्धान्त का नहीं। ध्वनिसिद्धान्त के इस काव्यशास्त्रीय पक्ष का उद्घाटन इस शोध प्रबन्ध में किया गया है।

ध्वनिसिद्धान्त काव्य-रचना-प्रक्रिया का विवेचन भी करता है। कवि की अनुभूति काव्यसृजन की प्रक्रिया में प्रतीयमान होकर व्यक्त होती है। काव्यात्मक आवेग और नियंत्रण का द्वन्द्व अनुभूति को प्रतीयमान होने को बाध्य करता है। अतएव अनुभूति की काव्यगत प्रतीयमानता आधुनिक समाजमनोवैज्ञानिक शोधों से प्रमाणित तथ्य है। आधुनिक कविता के शिल्प-उपादान—प्रतीक, बिम्ब और पुराख्यान आदि भी कवि की मूल अनुभूति को ही व्यंजित करते हैं। इस दृष्टि से बिम्ब और प्रतीक का विवेचन प्रथम बार इस ग्रन्थ में किया गया है। इस प्रकार यह शोध ग्रन्थ ध्वनिसिद्धान्त को नई दृष्टि से पुनः प्रस्तुत करता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में नौ अध्याय, उपसंहार और एक परिशिष्ट है।

प्रथम चार अध्यायों में यह बतलाया गया है कि परवर्ती काव्यशास्त्र में प्रतिफलित काव्यात्मा, अलंकार, गुण आदि की मान्यताओं का मूल स्रोत ध्वन्यालोक ही है। पंचम अध्याय में आधुनिक शैलीशास्त्र की दृष्टि से ध्वनिसिद्धान्त पर विचार कर यह सिद्ध किया गया है कि आधुनिक शैलीशास्त्र की कविता-विश्लेषण-प्रणाली वही है जो ध्वनिसिद्धान्त में भाषा अवयवों की व्यंजकता के सन्दर्भ में कही गई है, इसी अध्याय में जर्मन काव्यशास्त्री ग्रीअरविश की काव्य-व्यवस्था के समकक्ष ध्वनिसिद्धान्त को एक काव्य-व्यवस्था के रूप में देखा गया है।

छठे अध्याय में आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रियों, कलाकारों और कलाविदों की मान्यताओं के संदर्भ में ध्वनिसिद्धान्त के सौन्दर्यशास्त्रीय पक्ष का विवेचन किया

गया है। सातवें अध्याय में वक्ता की प्रभाविता और फारग्राउण्डेड विधियों के प्रकाश में व्यंजक अवयवों का विवेचन है। आठवें अध्याय में समाजमनोविज्ञान के प्रमाणों से यह प्रमाणित किया गया है कि कविता में कवि की अनुभूति प्रतीयमान होकर ही व्यक्त होती है।

नवम अध्याय में बिम्ब, प्रतीक और पुराख्यान की व्यंजकता हिंदी कविता के उद्धरण देकर विवेचित की गई है। उपसंहार में कतिपय निष्कर्ष हैं। परिशिष्ट १ में डॉ० नगेन्द्र को भेजे गये प्रश्न एवं उनके उत्तर हैं।

'ध्वनिसिद्धान्त पर कुछ कार्य हुए हैं उन्हें तीन वर्गों में रखा जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे ग्रन्थ हैं जो ध्वनिसिद्धान्त के शब्दशक्ति पक्ष का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करते हैं जैसे डा० भोलाशंकर व्यास कृत ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त। इस ग्रन्थ में व्यंजना शक्ति से सम्बन्धित शास्त्रीय विवेचन है। द्वितीय प्रकार के वे ग्रन्थ हैं जिनमें ध्वनिसिद्धान्त का किंचित् व्याख्याओं के साथ उपस्थित किया गया है। डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी कृत आनन्दवर्धन' ग्रन्थ इसी कोटि का है। तृतीय कोटि में वे साहित्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ हैं जो साहित्यशास्त्र के अन्य सम्प्रदायों के साथ ध्वनि सम्प्रदाय का भी विवरण देते हैं। इसके अतिरिक्त अँग्रेजी में डा० कृष्णमूर्ति, डॉ० हिरियन्ना, कृष्ण चैतन्य आदि के कार्य ध्वनिसिद्धान्त पर नूतन संकेत भी देते हैं। इस पृष्ठभूमि में प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की विषयवस्तु परीक्षणीय है।

अन्त में, मैं उन सभी प्राचीन और अर्वाचीन काव्यशास्त्रियों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिनके ग्रन्थों का अध्ययन मैंने इस शोध प्रबन्ध के लिए किया है। आदरणीय डा० नगेन्द्र के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी शंकाओं का समाधान करने की कृपा की है।

इस ग्रन्थ की सहायक ग्रन्थ-सूची को अकारादि क्रम में तकनीकी स्वरूप, उदयपुर विश्वविद्यालय के सहायक पुस्तकालयाध्यक्ष श्रीनारायण नाटानी ने दिया है, उनका कृतज्ञ हूँ।

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय आचार्य तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के परामर्श से यह ग्रन्थ लिखा जा सका है, उनके प्रति कुछ भी कह कर मैं ऋणमुक्त नहीं हो सकता, न होना चाहता हूँ।

अन्त में उत्तर प्रदेश में विद्युत् संकट और कागज की अप्रत्याशित कमी के बाद भी हिन्दी के पुराने पत्रकार एवं अभिनव भारती के संचालक श्री रामेश्वरप्रसाद मेहरोत्रा ने जिस तत्परता से ग्रन्थ के प्रकाशन में रुचि ली है उसके लिए वह बधाई के पात्र हैं।

—कृष्णकुमार शर्मा

विषय-सूची

संकेत सूची

सू० ना० शु०	सूर्य नारायण शुक्ल
ब० सं०	बड़ौदा संस्करण
ना० शा०	नाट्यशास्त्र
आ० वि०	आचार्य विश्वेश्वर
का० प्र०	काव्य प्रकाश
आ० प्र०	आनन्द प्रकाश
हि० अ० भा०	हिन्दी अभिनव भारती
भा० का० शा०	भारतीय काव्यशास्त्र
ध्व०	ध्वन्यालोक
रे० प्र०	रेवाप्रसाद
हि० व० जी०	हिन्दी वक्रोक्तिजीवित
औ० वि० च०	औचित्यविचारचर्चा
ज० पा०	जगन्नाथ पाठक

अध्याय प्रथम

ध्वनिसिद्धान्त : प्रेरणा और सिद्धि

१-१ प्रेरणा—आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित ध्वनिसिद्धान्त व्यंजना-व्यापार पर आधृत है। आनन्दवर्धन ने वाच्यार्थ से व्यतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ को व्यंग्यार्थ कहा है और व्यंग्यार्थ की प्रतीति "व्यंजना" द्वारा सिद्ध की है। प्रतीयमान अर्थ के अस्तित्व की ओर आनन्दवर्धन के पूर्व भी संकेत किये जाते रहे थे, परन्तु इसकी सर्वप्रथम निर्भ्रान्त स्थापना ध्वन्यालोक में ही सम्पन्न हुई है। "ध्वन्यालोक" में आचार्य आनन्दवर्धन ने स्पष्ट लिखा है कि यह सिद्धान्त विद्वानों द्वारा पूर्वतः संकेतित भूमिका पर आधृत है। निम्नलिखित श्लोक का 'सूरिभिः' पद आनन्दवर्धन की इसी भावना को व्यक्त करता है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥[1]

वृत्ति में लिखा गया है—सूरिभिः कथितः इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः, न तु यथा-कथंचित् प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते। प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः।[2] वैयाकरण-श्रूयमाण वर्णों में 'ध्वनि' का व्यपदेश करते हैं—ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति।[3] इस प्रकार आनन्दवर्धन की व्यंजना और 'ध्वनि' का प्रेरणास्रोत वैयाकरणों का 'श्रूयमाण वर्णों में ध्वनि' का व्यवहार है। अतः व्यंजना सम्बन्धी धारणा और व्यंजकत्व व्यापार द्वारा प्रतीत व्यंग्यार्थ की प्रेरणा को भली भाँति समझने के लिये वैयाकरणों के श्रूयमाण वर्ण-विषयक सिद्धान्त को स्पष्ट करना अपेक्षित है। जिस 'आधार' (श्रूयमाणेषु वर्णेषु...आदि) का संकेत आनन्दवर्धन ने किया है—उसका सूत्र-स्थापन स्फोटायन ने किया था, परन्तु वह विस्तार न पा सका। सर्वप्रथम, 'स्फोट'[4] शब्द का प्रयोग कर पतंजलि ने उस पूर्व परम्परा का निर्देश किया है।

१. आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, बालप्रिया टीका, पृ० १०३
२. वही, पृ० १३२
३. वही, पृ० १३३
४. जोशी 'प्रतिभादर्शन', पृ० २१७

परन्तु इस सिद्धान्त की पूर्ण व्याख्या भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' ग्रन्थ मे उपलब्ध होती है।

१-२ श्रूयमाण प्रक्रिया के अग—'श्रूयमाणवर्ण प्रक्रिया के दो अग। एक श्रूयमाण वर्ण ('वाक्') की उत्पत्ति और द्वितीय, इस वाक् का श्रोता द्वारा ग्रहण है। वाक् की उत्पत्ति के विषय में भर्तृहरि से पूर्व की परम्परा, चार स्थितियाँ मानती रही है—१ परा, २ पश्यन्ती, ३ मध्यमा और ४ वैखरी। 'परा' स्थिति वक्ता की इच्छा से सम्बन्धित है, ज्यो ही वक्ता के मन मे अभिव्यक्ति की इच्छा वक्तुरिच्छा) उत्पन्न होती है। शब्द-परमाणु आकाश म बादलो के समान (अभ्राणीव)—उमडने लगते हैं। इन शब्द-परमाणुओ मे चयन प्रक्रिया (इस स्थिति मे) नही हो पाती, इच्छा का ही प्राधान्य रहता है। 'परा स्थिति म उत्पन्न हुई इच्छा का विश्लेषण 'पश्यन्ती' अवस्था मे होकर उसका शब्दरूप निश्चित हो जाता है, अत इसे चिन्तन अथवा *मनन की अवस्था भी कह सकते हैं। विश्लेषण का कार्य तेजस् तत्त्व द्वारा होता है—स* **मनोभावमापद्य तेजसा पाकमागत** ' इसलिए 'पश्यन्ती' का कार्य 'विश्लेषणपूर्ण विनिश्चय' कहा गया है। 'मध्यमा' अवस्था' मे प्राण और वायु का योग कहा गया है। इसे प्रयत्न की अवस्था कहते हैं। उच्चारणावयव और प्रश्वास की समस्त प्रक्रिया इसी अवस्था मे सम्पन्न होती है। 'पश्यन्ती' अवस्था मे निश्चित शब्द के अनुसार ही उच्चारणावयव और प्रश्वास मे अवरोधादि प्रयत्न होते है। इस प्रकार जो निश्चित स्वरूप वाली वाक् व्यक्त होती है, वह वैखरी कहलाती है। यह 'वैखरी' ही वक्ता के पारस्परिक व्यवहार का माध्यम है। इन चार अवस्थाओ मे से भर्तृहरि, 'पश्यन्ती', 'मध्यमा', और 'वैखरी' का ही परिगणन करते हैं, व्याकरण का अधिकार-क्षेत्र अधिक से अधिक 'पश्यन्ती' अवस्था तक ही है। क्योंकि इसी अवस्था मे अर्थभावनासहित शब्द 'बुद्धिस्थ' रहता है और *प्रकृति-प्रत्यय विश्लेषण प्रक्रिया भी सम्पन्न होती है*—

> 'तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थ श्रुतीनां कारण पृथक्'[२]
> वितर्कित पुरा बुद्ध्या क्वचिदर्थे निवेशित '

'परा' मे व्याकरण की गति नही है इसीलिये भर्तृहरि ने उसका उल्लेख नही किया, 'वक्तुरिच्छा' का विश्लेषण भर्तृहरि ने अवश्य किया है। अत वाक् की उत्पत्ति मे भर्तृहरि द्वारा तीन चरण माने गये हैं—

(१) पश्यन्ती। (२) मध्यमा। (३) वैखरी।

---

२ सू० ना० शु० वाक्यपदीयम्, कारिका ११३, पृ० १२०

१ सू० ना० शु० वाक्यपदीयम्, कारिका ४६, पृ० ६३

२ वही, का० ४७, पृ० ६४

यही 'वैखरी' वाक् श्रोता तक पहुँचती है। ग्रहण का क्रम उत्पत्ति के क्रम का विलोम है। 'श्रूयमाण' वर्णों का अवसर इस 'ग्रहण' के प्रसंग में ही उत्पन्न होता है। ग्रहण की प्रक्रिया में चार चरण हैं—नाद-स्फोट-ध्वनि (व्यक्ति) और स्वरूप। 'स्वरूप' से तात्पर्य है – श्रोता द्वारा वक्ता की इच्छा के 'स्वरूप' का समझा जाना।

१-३ नाद— व्यक्त वर्णध्वनियाँ नाद के रूप में ही श्रोता तक पहुँचती हैं। व्यक्त ध्वनि वायु में, तरंग रूप में प्रसरण करती है। तरंग की विशेषता व्यक्त वाक् के अनुरूप ही होती है। अर्थात् दीर्घ और ह्रस्व उच्चरित वर्ण के अनुसार तरंग की तरंगलम्बाई (Wave Length) भी होगी। यह तरंग कान के पर्दे से टकरा कर वर्ण का पुनरुत्पादन करेगी, यह पुनरुत्पादित वर्ण ही नाद है। इस प्रकार प्रत्येक उच्चरित वर्ण की तरंग उस वर्ण का नाद उत्पन्न करेगी—क्योंकि सभी उच्चरित वर्णों की तरंगें एक साथ नहीं पहुँचती, उच्चारण के क्रम से पहुँचती हैं। अतः नाद क्रमजन्मा होता है। इसी अर्थ में भर्तृहरि ने नाद को क्रमजन्मा कहा है—**'नादस्य क्रमजन्मत्वात्'**[1] परन्तु, यहीं एक प्रश्न होता है, कि उच्चरित वर्णों की तरंगें क्रमशः पहुँच कर क्रमशः ही नाद को उत्पन्न करेंगी, तब शब्द की पूर्णता का ज्ञान कैसे होगा ? क्योंकि दूसरे वर्ण की तरंग पहुँचने तक प्रथम वर्ण की तरंग तिरोहित होने लगेगी। इसी समस्या का समाधान 'स्फोट सिद्धान्त' है।

१-४ स्फोट—शब्द की पूर्णता का ज्ञान 'स्फोट' में होता है। 'स्फोट के अनुग्रह से शब्द सुनाई पड़ते हैं, अर्थ का बोध होता है। स्फोट निमित्त और अर्थबोधक भी है। श्रोता के लिए वैखरी निमित्त है और स्फोट अर्थबोधक, क्योंकि पूर्व-पूर्व वर्णों के नष्ट हो जाने से और उत्तर-उत्तर वर्ण के एक साथ न रहने से अर्थबोध नहीं हो सकता, अतः स्फोट ही अर्थबोधक माना गया है।'[2] उदाहरण के लिये 'गौः' शब्द लें। इसमें तीन वर्ण हैं ग्, औ, और : (विसर्ग), वक्ता जब 'गौः' का उच्चारण करेगा, तब ये तीन वर्ण क्रमशः तीन ध्वनि तरंगों के रूप में श्रोता के कान के पर्दे से टकरा कर क्रमशः नाद उत्पन्न करेंगे। परन्तु 'गौः' की प्रतीति तो तीनों वर्णों के एकान्वित रूप में ही हो सकती है, पृथक्-पृथक् में नहीं। एक अथवा दो वर्णों में ही पूर्ण 'गौः' की प्रतीति मानने पर, शेष वर्ण व्यर्थ कहे जाएँगे। लेकिन तीनों वर्णों का एकान्वित रूप भी सम्भव नहीं है, क्योंकि कोई भी ध्वनि दो क्षण से अधिक नहीं ठहरती। जब तक 'औ' ध्वनि पहुँचेगी 'ग' ध्वनि तिरोहित हो जायेगी। स्फोट की धारणानुसार 'गौ' का अर्थबोध 'स्फोट' द्वारा होता है। अर्थात् 'पूर्व-पूर्व वर्णों के संस्कार ('ग्' का संस्कार, 'औ' का संस्कार) अन्तिम वर्ण (: विसर्ग) के उच्चारण

---

१. वाक्यपदीय, कारिका ४८

२. वही, पृ० १३

के साथ संयुक्त होकर शब्द की पूर्णता को प्रतीति के साथ ही अर्थबोध कराते हैं। यही 'पूर्णता की प्रतीति' स्फोट है। भर्तृहरि स्फोट में शब्द और अर्थ, दोनों की पूर्णता की समकालिक अनुभूति मानते हैं। वाक्य की पूर्णता की प्रतीति, वाक्यस्फोट कही गयी है। वाक्यपूर्णता के साथ-साथ वाक्यार्थ-प्रतीति भी होती है। 'यद्यपि ध्वनियों के क्रम से जन्म लेने के कारण स्फोट सक्रम प्रतीत होता है तथापि वह सक्रम नहीं है, जैसे मयूर के अंडे के रस में मयूर के अंग-प्रत्यंग अक्रम रहते हुए भी क्रम से ही विकसित होते हैं, वैसे ही स्फोट भी अक्रम है किन्तु ध्वनि के क्रम से उच्चरित होने से स्फोट में सक्रमता प्रतीत होती है। इसी प्रकार शब्द में वर्ण, पद, वर्णावयव, पदावयव, जाति, व्यक्ति, सखण्ड आदि प्रतीतियाँ भ्रम हैं। वस्तुतः एक तथा अन्य वाक्य ही स्फोट है।'[१]

१-५ व्यंग्य व्यंजकभाव —भर्तृहरि ने नाद और स्फोट में व्यंजक-व्यंग्य भाव कहा है जैसे ग्रहण (इन्द्रिय) और ग्राह्य (रूप आदि) की योग्यता नियत है — वैसे स्फोट और नाद की व्यंग्य-व्यंजक भाव से योग्यता नियत है।

ग्रहणग्राह्यो सिद्धा नियता योग्यता यथा।
व्यंग्य-व्यंजकभावेन तथैव स्फोटनादयो ॥[२]

नाद व्यंजक है और स्फोट व्यंग्य। नाद और स्फोट का यह संबन्ध नित्य और स्वाभाविक है। नाद के अभाव में स्फोट की अस्तित्व-सिद्धि ही असम्भव है। स्फोट में शब्द अथवा वाक्य की 'श्रुति' पूर्ण होती है। इस प्रकार स्फोट में अर्थ-प्रतीति भी है, किन्तु स्फोट का व्यंग्य कहा गया है, इसलिये, स्फोट में प्रतीत होने वाले अर्थ को भी व्यंग्य कहा जा सकता है। आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित व्यंग्यार्थ का आधार यही धारणा है। 'नाद' व्यंजक है, यह नाद वर्णध्वनियों से उत्पन्न होता है, अतः नाद, ध्वनिरूप ही है। ध्वनि, वर्णों का गुण है, नाद का व्यंजकत्व, कारण स्वरूप वर्णों का ही व्यंजकत्व है। वर्ण ही शब्द का निर्माण करते हैं तथा शब्द की पूर्णता के साथ ही अर्थ की प्रतीति भर्तृहरि द्वारा कही गई है, इसलिये अर्थ के प्रति वर्णनिर्मित शब्द का भी व्यंजकत्व सिद्ध होता है। इसी आधार पर शब्द तथा वाक्य व्यतिरिक्त अर्थ में आनन्दवर्धन ने व्यंजक-व्यंग्य भाव प्रतिपादित किया है। इस प्रकार व्यंग्य-व्यंजक भाव मूलतः वैयाकरणों द्वारा प्रतिपादित है, स्थिति साम्य के कारण आनन्दवर्धन ने इसका उपयोग 'ध्वनि-सिद्धान्त' में किया। व्यंग्य-व्यंजक भाव के अर्थ में विस्तार भी हुआ क्योंकि ध्वनि-सिद्धान्त के अन्तर्गत, शब्द ही नहीं, वाच्य, लक्ष्य, और व्यंग्य की व्यंजकता भी प्रतिपादित की गई है।

---

१ सू० ना० शु० वाक्यपदीयम्, पृ० १३
२ वही का० ९७, पृ० १०६

काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में भी रसाभिव्यक्ति स्वीकार की गई है। अतः अभिव्यक्ति सिद्धान्त के निश्चित संकेत व्याकरण और नाट्यशास्त्र दोनों में ही उपलब्ध होते हैं। व्याकरणशास्त्र में प्रतिपादित व्यंजक-व्यंग्य भाव की चर्चा की जा चुकी है। भरत के एतद्विषयक कथन निम्नलिखित हैं—

(१) नानाभावाभिनय-व्यंजितान् वागांगिकसत्त्वोपेतान्
स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः।[१]

(नाना प्रकार के भावों के आंगिक, वाचिक और सात्विक अभिनयों से स्थायी-भाव व्यंजित होते हैं तथा सहृदय उनका आस्वादन करते हैं।)

(२) अष्टौ भावाः स्थायिनः।
त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणः।
अष्टौ सात्त्विकाः।
एते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतवः ॥[२]

(स्थायी भाव आठ होते हैं, तैंतीस व्यभिचारी भाव हैं, आठ सात्विक भाव हैं। ये काव्य-रस की अभिव्यक्ति में हेतु हैं।)

(३) काव्यार्थसंश्रितैर्विभावानुभाव-व्यंजितैः।
एकोनपंचाशद्भावैः अभिनिष्पद्यन्ते रसाः ॥[३]

(काव्यार्थ के आश्रित रहने वाले विभाव-अनुभाव से व्यंजित भावों से रस निष्पन्न होते हैं।)

१-६ ध्वनि—'ध्वनि' शब्द का प्रयोग भी आनन्दवर्धन ने वैयाकरणों के मतानुसार किया है। नाद के कारणभूत वर्णों को वैयाकरणों ने 'ध्वनि' कहा है और नाद को व्यंजक, इस आधार पर आनन्दवर्धन ने व्यंजक को 'ध्वनि' कहा है। तद-नुसार व्युत्पत्ति का स्वरूप होगा—'ध्वनति यः स व्यंजकः शब्दो ध्वनिः'। 'स्फोट' के अनन्तर जो अर्थविस्तार होता है, वह श्रोता द्वारा ग्रहण की तृतीय अवस्था है। इसे भी भर्तृहरि ने 'ध्वनि' अथवा 'व्यक्ति' कहा है—

'कैश्चिद् व्यक्तय एवास्याः ध्वनित्वेन प्रकल्पिताः[४]

अतः अर्थविस्तार भी ध्वनि कहा गया है। इस सूत्र को ग्रहण कर आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ को भी 'ध्वनि' संज्ञा दी है—

'ध्वन्यते इति ध्वनिः'

---

१. ना० शा० व० सं० पृ० २८८
२. ना० शा० ब० सं० पृ० ३४८
३. वही, पृ० ३४९
४. वाक्यपदीयम्, का० ९३

वैयाकरणो ने इसे 'व्यक्ति' कहा है, आनन्दवर्धन ने भी प्रतीयमान अर्थ की व्यजना प्रतिपादित की है। शब्द और अर्थ के इस धर्म को ध्वनन अथवा व्यजकत्व कहा है—

'ध्वन्यते अनेन इति ध्वनि'

वैयाकरणो की उपर्युक्त धारणाएँ ही, ध्वनि-सिद्धान्त' में गृहीत व्यजना (व्यक्ति), व्यजक-व्यग्य-भाव और व्यजकत्व का आधार है। ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत मे भी आनन्दवधन ने कहा है कि उन्होंने यह सिद्धान्त वैयाकरणो से ग्रहण किया है, अत वैयाकरणो से विरोध-अविरोध का प्रसग ही नहीं होता—

'परिनिश्चितनिरपभ्र शब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनि-व्यवहार इति तैं सह किं विरोधाविरोधौ चिन्त्येते।'[1]

'व्यक्ति' के उपरान्त, वक्ता के इच्छारूप अर्थ (स्वरूप) की प्रतीति कही गई है। यह अर्थ मे अर्थ को व्यजना का आधार है। आर्थी व्यजना का मूल स्रोत यही है। यह मान्य है कि वैयाकरणो की उपर्युक्त धारणाएँ अर्थग्रहण की प्रक्रिया के प्रसग म हैं—और ध्वनिसिद्धान्त भी अर्थग्रहण के आयाम प्रस्तुत करता है। 'ध्वन्यालोक' म आचार्य आनन्दवधन ने 'ध्वनि-सिद्धान्त' स्थापन द्वारा प्रतीयमान अर्थग्रहण कराने वाली, शब्द की व्यजनावृत्ति का प्रतिपादन किया और इस प्रकार काव्य के 'सर्वांगपूर्ण' सिद्धान्त की 'रूपरेखा' प्रस्तुत की। व्यजना का आधार तो व्याकरण म था, परन्तु उसका पूर्णरूप म स्थापन उतना सरल नहीं था। आनन्दवर्धन को व्यजनाव्यप्रतीयमान अर्थ (व्यग्यार्थ) की निर्विवाद अस्तित्व-सिद्धि के लिए पर्याप्त तर्कों का आश्रय लेना पड़ा तब तक शब्द-शक्ति के रूप मे अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य ही मान्य थी। अत व्यग्यार्थ का अभिधेयार्थ, लक्ष्यार्थ और तात्पर्यार्थ से अतिरिक्त सिद्ध कर उसके स्वरूप का स्पष्ट निरूपण भी आनन्दवर्धन को करना था। ध्वनि सिद्धान्त का आधार व्यजना है, अत व्यजना की सिद्धि 'ध्वनि' की सिद्धि है। ध्वनि-विरोधियों ने भी इसलिए आधारभूत व्यजना का विरोध किया। आचार्य आनन्दवर्धन न ध्वनि अथवा व्यजनाविरोधियो के कतिपय विकल्पो को स्वय प्रस्तुत कर उनका तर्कपूर्वक खडन किया है। ध्वन्यालोक के प्रथम श्लोक म ही ध्वनिविरोधियों के विकल्प कहे गये हैं—

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्य समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभाव जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद् वाचा स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीय
तेन ब्रूम सहृदयमन प्रीतये तत्स्वरूपम्॥[1]

---

१ आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक —(आ० वि०) पृ० २

('काव्य की आत्मा' ध्वनि है, ऐसा काव्यतत्त्वविदों द्वारा भली भाँति परम्परा से प्रकट किया गया है। (तब भी) कुछ उसका अभाव कहते हैं, अन्य उसे 'भाक्त' कहते हैं, और कुछ उसे वाणी का अविषय (गिरातीत, अवर्णनीय) तत्त्व कहते हैं, इसलिए 'सहृदयों के मन की प्रसन्नता हेतु हम उसका स्वरूप कहते हैं।')

इस श्लोक में 'ध्वनि' का निषेध करने वालों की तीन कोटियाँ कही गई हैं—

(१) अभाववादी (ध्वनि का अभाव मानने वाले।)

(२) ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव करने वाले।

(३) ध्वनि को अनिर्वचनीय मानने वाले।

१-७ अभाववादी—अभाववादियों के निम्नलिखित तीन विकल्प दिये गये हैं[१]—

(क) प्रथम विकल्प—कुछ अभाववादी यह कहकर ध्वनि का निषेध कर सकते हैं कि—'काव्य शब्दार्थ शरीर वाला है' (**शब्दार्थशरीरन्तावत् काव्यम्**)। इस शब्दार्थ-रूप धर्म को सभी निर्विवाद रूप से स्वीकारते हैं। तथा शब्दगत अर्थात् शब्द के रूप के माध्यम से सौन्दर्य बढ़ाने वाले, 'चारुत्वहेतु' अनुप्रासादि प्रसिद्ध ही हैं। अर्थगत चारुत्वहेतु उपमादि भी परिचित हैं। वर्णों की विशिष्ट संघटना से चारुत्व निष्पन्न करने वाले (**वर्णसंघटनाधर्माश्च**) माधुर्य आदि गुण भी प्रतीत होते ही हैं। इन गुणों से अभिन्न रहने वाली (**तदनतिरिक्तवृत्तयो**) जो उपनागरिका आदि वृत्तियाँ कुछ लोगों द्वारा प्रकाशित की गई हैं, वे भी श्रवणगोचर हुई हैं। वैदर्भी आदि रीतियाँ भी ज्ञात हैं (**रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः**)। तब इन सबसे व्यतिरिक्त यह 'ध्वनि' नाम का क्या है[२] ?

(ख) द्वितीय विकल्प—अन्य कह सकते हैं—'ध्वनि है ही नहीं'।[३] परम्परागत मार्ग से व्यतिरिक्त मार्ग में काव्यप्रकार मानने से काव्यत्व की हानि है। अर्थात् परम्परा से जिसमें काव्यत्व माना जाता रहा है, जैसे शब्द, अर्थ, अलंकार आदि, इनसे व्यतिरिक्त (ध्वनि) में काव्यत्व स्वीकार करने से काव्यत्व की हानि ही होगी। अतः परम्परायुक्त मार्ग में ही काव्यत्व है, उससे भिन्न मार्ग (ध्वनि) में नहीं। काव्य का लक्षण[४], 'सहृदयों के हृदयों को आनन्द देने वाला 'शब्दार्थयुक्तत्व' है। अर्थात् शब्द अर्थ का ऐसा और समायोजन, जो सहृदयों के हृदय को आनन्द दे, काव्य है। यदि

१. 'तदभाववादिनां चामी विकल्पाः संभवन्ति'। पृ० ५

२. आनन्दवर्धन, ध्व० (आ० वि०) पृ० ५।

३. नास्त्येव ध्वनिः। —पृष्ठ वही

४. 'सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।' —पृष्ठ वही

ध्वनिसम्प्रदाय मे कतिपय व्यक्तियो को सहृदय मानकर ध्वनि मे काव्य का व्यपदेश किया जाय तो अन्य विद्वानो का मान्य न होगा।'[1]

(ग) तृतीय विकल्प—ध्वनि का निषेध करने वालो का तृतीय विकल्प यह हो सकता है—'ध्वनि' नाम का कुछ अपूर्व (अर्थात् पहले जिसका कथन न किया जा चुका हो ऐसा) सभव ही नही हो सकता। यदि वह (ध्वनि) कमनीयता का अतिक्रमण नही करता है तो पहले से कहे गये अनुप्रासादि चारुत्व हेतुओ मे ही उसका अन्तर्भाव हो जायगा। और पहले से कहे गये चारुत्वहेतुओ मे से ही किसी का (तेषामन्यतमस्यैव वा) यह नूतन नाम (ध्वनि) रखा जाता है (अपूर्वसमाख्यामात्र-करणे) तो यह अतीव तुच्छ कथन होगा (यत्किंचन कथन स्यात्)। साथ ही वाक् के अनेक विकल्प होने से, कथनशैलियो के अनन्त होने से, प्रसिद्ध काव्य लक्षणकारो द्वारा (काव्यलक्षणविधायिभि) कोई प्रकारलेश प्रदर्शित रह भी गया हो (अप्रदर्शिते प्रकारलेशे) तो उस छोटे से प्रकार को ही 'ध्वनि' 'ध्वनि' कह कर, असत्य सहृदयता से आँखें बन्द कर जो नृत्य किया जाता है उसका हेतु हम नही जानते। (ध्वनिर्ध्वनिरिति यदेतदलीकसहृदयत्वभावनामुकुलितलोचनैं नृत्यते, तस्य हेतु न विद्म)। अनेक महात्माओ द्वारा अनेक अलकार-प्रकार प्रकाशित किये गये हैं—प्रकाशित किए भी जायेंगे, पर उनकी ऐसी दशा सुनाई नही पडती जैसी 'ध्वनि' 'ध्वनि' कहने वालो की है। अत ध्वनि प्रवाद मात्र है। इसमे कुछ भी विचारणीय (क्षोदक्षम) तत्त्व नहीं है।[2] इस विषय मे आनन्दवर्धन ने अपने समकालीन मनोरथ कवि का श्लोक भी उद्धृत किया है। मनोरथ कवि ध्वनि-विरोधी थे—

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किंचन मन प्रह्लादि सालङ्कृति,
व्युत्पन्नै रचित न चैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्य च यत्।
काव्य तद् ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशसन् जडो,
नो विद्मोऽभिदधाति कि सुमतिना पृष्ट स्वरूप ध्वने ॥

'जिसमे, मन को प्रसन्न करने वाली (मन प्रह्लादि अलकारसहित (सालङ्कृति) कोई वस्तु (अर्थतत्त्व) नही है। जो व्युत्पन्न शब्दो (व्युत्पन्नैर्वचनै) से रचा नही गया, और वक्रोक्तिशून्य है (वक्रोक्तिशून्यम्)। ऐसे काव्य को—'ध्वनि' समन्वित है—कहकर प्रीतिपूर्वक प्रशसा करता हुआ मूर्ख ('ध्वनिना समन्वितमिति' प्रीत्या प्रशसन् जडो) विद्वानो के द्वारा (सुमतिना) पूछे जाने पर, ध्वनि का स्वरूप (ध्वन स्वरूप) क्या कहता है (कहेगा) हम नही जानते।'[3]

१ वही पृष्ठ ६

२ तस्मात् प्रवादमात्र ध्वनि। न त्वस्य क्षोदक्षम तत्त्व किंचिदपि प्रकाशयितु शक्यम्।

३ आनन्दवर्धन 'ध्वन्यालोके (आ० वि०) पृष्ठ ७

१-८—लक्षणा में ध्वनि के अंतर्भाव का निषेध—(भाक्तमाहुस्तमन्ये[1]) अन्य विद्वान् ध्वनिसंज्ञक काव्य को गुणवृत्ति कहते है ।[2] यद्यपि 'ध्वनि' नाम का प्रयोग कर काव्य के लक्षण निर्माताओं ने गुणवृत्ति अथवा अन्य किसी प्रकार का प्रकाशन नहीं किया है, और न काव्य में (काव्येषु) गुणवृत्ति से (अमुख्यवृत्त्या) व्यवहार दिखलाने वालों ने ध्वनिमार्ग का जरा-सा स्पर्श करके भी उसका लक्षण ही किया (मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति) । तब भी ध्वनि और लक्षणा की त्रिविध व्युत्पत्ति में साम्य की कल्पना करके कहा जा सकता है, 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' इति ।

भामह के 'काव्यालंकार' पर उद्भट ने 'भामहविवरण' व्याख्या की रचना की थी । काव्य के हेतुओं के सम्बन्ध में भामह की निम्नलिखित कारिका है—

शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः ।
लोको युक्तिकलाश्चेति मन्तव्याः काव्यहेतवः ।।

इस कारिका में प्रयुक्त 'शब्द' और 'अभिधान' का भेद उद्भट ने स्पष्ट किया है—इस प्रकरण का अभिप्राय यह है कि 'शब्द' पद से शब्द का ग्रहण करना चाहिये और 'अर्थ' पद से अर्थ का । शब्द का अर्थबोधनपरक जो व्यापार है उसे 'अभिधान' पद से ग्रहण करना चाहिये । यह अभिधान या अभिधा-व्यापार मुख्य और गुणवृत्ति भेद से दो प्रकार का है ।[3] इस प्रकार भामह ने 'अभिधान' पद से, उद्भट ने गुणवृत्ति पद से और वामन ने 'सादृश्यात् लक्षणावक्रोक्तिः' में 'लक्षण' से ध्वनिमार्ग का थोड़ा-सा स्पर्श, अन्यार्थ की प्रतीति मानकर किया तो है, पर उसके लक्षण का निरुपण नहीं किया । 'भक्ति' में ध्वनि का अंतर्भाव करने वालों के साथ नित्यप्रवर्तमान सूचक 'लट्' लकार के 'आहुः' का प्रयोग, मत की निश्चितता की ओर संकेत करता है । 'जगदुः' और 'ऊचुः' अभाववादी मतों की संभावना का प्रकाशन करते हैं । 'भक्ति' अथवा लक्षणा के—मुख्यार्थबाध, तद्योग और प्रयोजन—तीन बीज कहलाते है । इन तीनों दृष्टियों से लक्षणा (भक्ति) की तीन प्रकार से व्युत्पत्ति की जाती है—

(१) मुख्यार्थस्य भंगो भक्तिः (मुख्यार्थबाधपरक व्युत्पत्ति)
(२) भज्यते सेव्यते पदार्थेन इति सामीप्यादिधर्मो भक्तिः (तद्योगपरक व्युत्पत्ति)
(३) प्रतिपाद्ये शैत्यपावनत्वादौ श्रद्धातिशयो भक्तिः (प्रयोजनपरक व्युत्पत्ति)

इन मुख्यार्थबाधादि तीन बीजों से जो अर्थ प्राप्त होता है वह भाक्त अथवा लक्ष्यार्थ है । 'गुणवृत्ति' ने शब्द और अर्थ दोनों का ग्रहण होता है । 'गंगायां घोषः'

१. 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' आनन्दवर्धन, ध्व० (आ० वि०) पृ० ८
२. — वही
३. —वही पृ० ४

इस उदाहरण वाक्य में 'सामीप्यादि' गुण के द्वारा ही 'गंगा' शब्द का तट अर्थ में वृत्तिबोधकत्व है। शब्द की जिस अर्थ में वृत्ति होती है, वह अर्थ भी गुणवृत्ति हो सकता है। और अमुख्य अभिधा-व्यापार तो गुणवृत्ति कहा ही जाता है। गुणवृत्ति की ये तीनों व्युत्पत्तियाँ अभिनवगुप्त ने इस प्रकार दी है—

(१) गुणा सामीप्यादयो धर्मास्तैक्ष्ण्यादयश्च, तैरुपायैर्वृत्तिरर्थान्तरे यस्य (शब्दस्य)
(२) तैरुपायैर्वृत्तिर्वा शब्दस्य यत्र स गुणवृत्ति (अर्थ)
(३) गुणद्वारेण वा वर्तनं गुणवृत्तिरमुख्याभिधाव्यापार । (व्यापार)[1]

जैसे 'ध्वनि' की शब्दपरक, अर्थपरक और व्यापारपरक व्याख्याएँ होती हैं, वैसे ही गुणवृत्ति की भी। इसी आशय से आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है, कि कुछ लोग 'ध्वनि' को 'गुणवृत्ति' कहते हैं। ध्वनि का विरोध करने वाले इस प्रकार के भी हो सकते हैं, जो ध्वनि के अस्तित्व को स्वीकार करें पर उसे वाणी के लिए अगोचर कह, ध्वनि को अवर्णनीय (गिरागोचर) माने। इस प्रकार आनन्दवर्धन ने ध्वनिविरोधियों के मतों को प्रस्तुत किया है।

ध्वनिसिद्धान्त का आधार व्यञ्जना-व्यापार-प्रतीत्य व्यंग्यार्थ है। अतः अभिधा आदि प्रसिद्ध अर्थ—व्यापारों से प्रतीत होने वाले वाच्यार्थ आदि से पृथक् व्यंग्यार्थ की सत्ता सिद्ध करना व्यञ्जना (अतः ध्वनि) सिद्धि का प्रथम चरण है। व्यंग्यार्थ की सिद्धि में (अर्थ प्रतीति में किसी न किसी व्यापार को अनिवार्य स्थिति माने जाने के कारण) व्यञ्जना की स्थापना स्वतः हो जाएगी। अभाववादियों के प्रथम विकल्प में शब्द और अर्थ तक ही काव्य माना गया है। इसलिए आनन्दवर्धन ने भी सर्वप्रथम वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ का पृथक् अस्तित्व अनेक तर्कों से प्रमाणित किया है।

१ ९ व्यंग्यार्थ—वाच्यार्थ के सामर्थ्य से आक्षिप्त होता है तथा उसके वस्तु-मात्र, अलंकार और रसादि अनेक भेद होते हैं। इन सभी भेदों में वह व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न ही है।[2] आनन्दवर्धन ने विधिरूप वाच्यार्थ से निषेधरूप व्यंग्यार्थ के तथा इसकी विलोम स्थिति के अनेक उदाहरण देकर वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पार्थक्य सिद्ध किया है।

१-१० वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में विषयगत भेद—भी प्रतिपादित किया गया है। विषयगत भेद का तात्पर्य है वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के विषयों का पृथक्-पृथक् होना, अर्थात् वाच्यार्थ किसी के प्रति हो और व्यंग्यार्थ किसी अन्य के प्रति। जैसे 'कस्य वा न भवति रोषो ' आदि श्लोक में।[3]

१. आनन्दवर्धन, 'ध्वन्यालोक' (स० डा० त्रिपाठी) पृ० ५५
२ द्रष्टव्य लेखककृत व्यंजना सिद्धि और परंपरा, पृ० १३-१५
३ " " " पृ० १६

१ ११ रसादि की व्यंग्यता— रसादि रूप ध्वनि वाच्य के सामर्थ्य से आक्षिप्त होने पर भी, शब्द का साक्षात् व्यापार न होने से, वाच्यार्थ से भिन्न ही है। यदि रसादि को वाच्य माना जाय तो यह वाच्यता निम्नांकित प्रकार से सभव है

स्वशब्द से, अर्थात् रस अथवा शृंगारादि शब्द का प्रयोग किया जाय और उससे रस-प्रतीति हो तो रसादि को वाच्य कहा जा सकता है। इस स्थिति को स्वीकार करने पर, जहाँ जहाँ 'रस' अथवा 'शृंगार' आदि पदों का प्रयोग हुआ हो वहाँ रस-प्रतीति भी होनी चाहिए।[1] परन्तु यह देखा जाता है कि सर्वत्र रसों का स्वशब्दनिवेदितत्व नही होता।[2] स्वशब्दनिवेदितत्व होने पर भी विशिष्ट विभावादि के प्रतिपादन द्वारा ही रस की प्रतीति होती है।[3] 'रस' अथवा 'शृंगारादि' शब्दों के प्रयोग से वह प्रतीति अनूदित मात्र होती है।[4] शृंगारादि शब्दों से तत्तत् रस की प्रतीति नही होती। (न तु तत्कृता)। लकिन, जहाँ स्वशब्द से (रसादि शब्द से) अभिधान न भी हो, पर विभावादि का प्रतिपादन हो, रस की प्रतीति होती है।[5] केवल स्वशब्द के अभिधान से तो अप्रतीति ही सिद्ध है। रस तो वाच्य के सामर्थ्य से आक्षिप्त व्यंग्य ही होता है, स्वयं वाच्य नही। अतः व्यंग्यार्थ का अस्तित्व तो मानना ही होगा। अभाववादियो का द्वितीय विकल्प था कि, प्रसिद्ध मार्ग से भिन्न में काव्य मानने से काव्यत्व की हानि है।[6] इसका उत्तर देते हुए आचार्य आनन्दवर्धन कहते है; 'यह कथन युक्ति-युक्त नही है। क्योंकि लक्षण बनाने वालों को वह ज्ञात नहीं हुआ, इसलिए वे लक्षण न कर सके, अन्यथा लक्ष्य ग्रन्थो (रामायणादि) की परीक्षा करने पर तो वह 'ध्वनि' ही सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने वाला तत्त्व सिद्ध होता है।[7] उससे भिन्न, अर्थात् जिसमे ध्वनि नहीं है वह चित्रकाव्य ही है।'

१-१२ अलकारादि में ध्वनि के अंतर्भाव का निषेध—अभाववादियो का तृतीय विकल्प था, 'यदि ध्वनि रमणीयता का अतिक्रमण नही करती तो पूर्वोक्त चारुत्व-हेतुओं-अलंकारादि-मे ही उसका अतर्भाव हो जायगा।'[8] आनन्दवर्धन इस युक्ति को भी असमीचीन मानते है (तदप्यसमीचीनम्)। क्योंकि वाच्य-वाचक भाव पर समा-

१. ध्व० (आ० वि०) पृ० १८
२. " " "
३. आनन्दवर्धन, ध्व० (आ० वि०) पृ० १८
४. वही
५. वही
६. ध्व० (आ० वि०) पृ० ३८
७. वही पृ० ३८
८. वही " "

श्रित मार्ग (अलकारादि) मे व्यग्य-व्यजकभाव समाश्रित ध्वनि का अतर्भाव कैसे हो सकता है ? वाच्य-वाचक के चारुत्वहेतु (अलकारादि) तो इस ध्वनि के अग, हैं, ध्वनि अगी रूप है ।

अलकारादि-वाच्य-वाचक पर ही आश्रित हैं, परन्तु व्यग्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न है तथा उसकी प्रतीति व्यजना से होती है । व्यजक और व्यग्य मे 'व्यजकत्व' व्यापार होता है । क्योकि 'ध्वनि व्यग्य व्यजक भाव पर आश्रित है, अत अलकारादि चारुत्व-हेतुओ मे ध्वनि का अतर्भाव नही हो सकता ।[1] इस सबन्ध मे आनदवर्धन द्वारा उद्धृत परिकर श्लोक यह है—

> व्यग्य-व्यजकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वने ।
> वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्त पातिता कुत ।।
> (ध्वनि के व्यग्य-व्यजक सम्बन्ध पर आधारित होने के कारण, वाच्यवाचक-भाव पर आश्रित चारुत्वहेतुओ मे उसका अन्तर्भाव नहीं ।)

परन्तु अलकारादि मे ध्वनि का अन्तर्भाव करने वालो का कथन है कि जहाँ प्रतीयमान अर्थ की विशदता से प्रतीति नही होती वहाँ भल ही ध्वनि का विषय न मानें पर जहाँ प्रतीयमान अर्थ की विशदतापूर्वक प्रतीति होती है,—जैसे, समासोक्ति आक्षेप, अनुक्तनिमित, विशेषोक्ति, पर्यायोक्ति, अपह्नुति, दीपक, सकर आदि अलकारो मे, वहाँ तो ध्वनि का चारुत्वहेतु अलकारो मे अन्तर्भाव माना ही जा सकेगा । अभाववादियो के इस तर्क का भी आनन्दवर्धन ने निरस्त किया है । ध्वनि की परिभाषा है—

> यत्रार्थ शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
> व्यक्त काव्यविशेष स ध्वनिरिति सूरिभि कथित ।।

अर्थात् जहाँ अर्थ स्वय को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत कर अर्थान्तर की अभिव्यक्ति करते हैं, वहाँ ध्वनि है । इसका आशय है कि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति ही प्रमुख हो, शब्द का अभिधेय अथवा वाच्यार्थ गौण होकर विशदतापूर्वक व्यग्यार्थ की प्रतीति कराये तब ध्वनि कही जा सकती है । पूर्वकथित समासोक्ति आदि मे अर्थान्तर की प्रतीति तो होती है, किन्तु, वाच्यार्थ गुणीभूत नही होता । इसलिए इन अलकारो मे ध्वनि का अतर्भाव नही माना जा सकता । समासोक्ति आदि प्रासगिक अलकारो के उदाहरण देकर आनन्दवर्धन ने उनमें व्यग्यार्थ की प्रधानता का अभाव सिद्ध किया है ।[2]

---

१ द्रष्टव्य लेखककृत व्यञ्जना सिद्धि और परपरा, पृ० १८

१ द्रष्टव्य व्यजना सिद्धि और परपरा, पृ० १९-२५

शब्द और अर्थ (शब्दार्थों) जहाँ व्यंग्यनिष्ठ हों, व्यंग्य के प्रति तत्पर हों (तत्परावेव), वही ध्वनि का संकररहित विषय समझना चाहिये। अतः चारुत्वहेतुओं अलंकारादि में ध्वनि का समावेश नहीं हो सकता। व्यंग्य का जिसमे प्राधान्य हो उस काव्य-विशेष को ध्वनि कहा गया है। अलंकार, गुण, वृत्ति आदि उसके अंग रूप में ही प्रतिपादित किये जा सकते है। पृथक्-पृथक् (पृथग्भूतो) अवयवों को ही अवयवी नहीं कहा जाता, समन्वित रूप में तो अवयव, अवयवी के अंग ही कहे जाते है, स्वयं अंगी नहीं। ध्वनि के महाविषय होने से अलंकारादि में उनका अंतर्भाव नही होता।'[१] इस प्रकार आचार्य आनन्दवर्धन ने अभाववादियों के तृतीय तर्क का निराकरण किया। अतः यह सिद्ध हुआ कि व्यंग्यार्थ की स्वतंत्र सत्ता है, उसका अन्तर्भाव पूर्वकथित अलंकारादि चारुत्वहेतुओं में नही हो सकता और जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता हो वहीं ध्वनि का स्थल है, अन्यत्र नहीं।

आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा संस्तुत ध्वनि-सिद्धान्त, यों ही कह दिया गया सिद्धान्त नही है वरन् पहले भी विद्वान् इसका संकेत कर चुके है। सर्वप्रथम विद्वान् वैयाकरण हैं, क्योंकि व्याकरण ही समस्त विद्याओं का मूल है। वैयाकरण श्रूयमाण वर्णों में 'ध्वनि' का व्यवहार करते हैं।[२] वैयाकरणों के मत का अनुसरण करने वाले काव्यतत्त्व के ज्ञाता विद्वान् इसलिए (१) वाच्य, (२) वाचक, (३) व्यंग्यार्थ, (४) व्यंजनाव्यापार और (५) काव्य पद मे ध्वनि का व्यपदेश करते हैं अतः ध्वनि सिद्धान्त का आधार व्याकरण है। इसलिये इसे यों ही कहा हुआ कथन मात्र नही समझ लेना चाहिये।

इस प्रकार के स्वरूपवाली और आगे जिसके भेद-प्रभेदों का अध्ययन किया गया है, ऐसी ध्वनि का निरूपण किसी अप्रसिद्ध अलंकार के प्रतिपादनतुल्य नही है। अतः ध्वनि के प्रतिपादन में उत्साह समुचित ही है (ध्वनिविरोधियों ने ध्वनिवादियों के ध्वनि के प्रति उत्साह को अकारण कहा है।)

१-१३ व्यंग्यार्थ और लक्ष्यार्थ में पार्थक्य—भक्ति और ध्वनि एकत्व प्राप्त नही करती, ध्वनि का स्वरूप ही भिन्न है। वाच्य-वाचक द्वारा, वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ, जैसे प्रधानता से, तात्पर्यरूप में प्रकाशित होता है, वहाँ ध्वनि होती है। भक्ति (लक्षणा) तो उपचार मात्र है।[४] आनन्दवर्धन ने भाक्तवादियों के तीन विकल्प

---

१. आनन्दवर्धन, ध्व० (आ० वि०) पृ० ५२

२. प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। वही, पृ० ५३

३. ध्व० (आ० वि०) पृ० ५३

४. द्रष्टव्य—व्यंजना : सिद्धि और परम्परा, पृ. २७ से ३०.

देकर सप्रमाण उनका खण्डन किया है। इस तर्क-प्रक्रिया के अनुसार भक्ति और ध्वनि मे एकत्व प्रतिपादन-मान्यता मे अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष हैं।

लक्षणा में ही ध्वनि के अन्तर्भावित न होने के अन्य कारण भी हैं। जिस प्रयोजन का बोध कराने के लिये मुख्य अभिधा-व्यापार को छोड़कर गुणवृत्ति का आश्रय लिया जाता है, उस प्रयोजन के प्रति 'शब्दस्खलद्गति' (बाधित) नही होता—

मुख्यां वृत्ति परित्यज्य गुणवृत्त्यार्यदर्शनम् ।
यदुद्दिश्य फल, तत्र शब्दो नैव स्खलद्गति ॥[1]

इसका आशय यह है कि शब्द जब मुख्यार्थ मे बाधित होता है, तब लक्षणा होती है। जैसे 'गगाया घोष' उदाहरण मे 'गगा प्रवाह मे ग्राम की स्थिति' असभव होने से 'गगा' शब्द का 'प्रवाह रूप' मुख्यार्थ बाधित है या कह कि 'गगा' शब्द अपने मुख्यार्थ मे 'स्खलद्गति है। मुख्यार्थ मे स्खलद्गति होने से ही वह तट रूप लक्ष्यार्थ का बोध कराता है। इस प्रयोग का प्रयोजन शैत्य पावनत्वादि की प्रतीति कराना है। प्रयोजन का इस प्रतीति के लिये ही मुख्य वृत्ति को त्याग कर लक्षणा द्वारा अर्थ-दर्शन कराया गया है, इस प्रयोजन के प्रति 'गगा' पद स्खलद्गति नही है।

लक्षणा द्वारा अर्थ प्रतीति मे, मुख्यार्थबाध, तद्योग, रूढि अथवा प्रयोजन होना अनिवार्य है। परन्तु व्यग्यार्थ (प्रयोजन) के प्रति शब्द के अर्थ में बाध न होने से अथवा प्रयोजन म शब्द के स्खलद्गति न होने से प्रयोजन'की प्रतीति लक्षणा द्वारा नहीं हो सकती। प्रयोजन तो व्यग्य ही होता है। इस प्रकार व्यजनागम्य व्यग्यार्थ (प्रयोजन) और बाधितमुख्यार्थ से प्रतीत लक्ष्यार्थ का भेद और स्वरूप स्पष्ट होने से लक्ष्यार्थ अथवा लक्षणा म व्यग्यार्थ अथवा व्यजना का अन्तर्भाव नही किया जा सकता। फिर भी, यदि किसी प्रयोग मे चारुत्वातिशयविशिष्ट अर्थ के प्रकाशनरूप प्रयोजन के सम्पादन में शब्द बाधितार्थ हो, तो शब्द का प्रयोग ही दूषित होगा।"[2]

अत वाच्य-वाचक भाव पर आश्रित गुणवृत्ति व्यग्य-व्यजक भाव पर आश्रित व्यजना का लक्षण कैसे हो सकती है?—

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता ।
व्यजकत्वकमूलस्य ध्वने स्याल्लक्षण कथम् ॥[3]
(वाचक के आश्रय से गुणवृत्ति व्यवस्थित है, वह व्यजकत्व पर आधारित ध्वनि का लक्षण कैसे हो सकती है।)

---

१ ध्वन्यालोक (आ० वि०) पृ० ६२
२ वही
३ वही, पृ० ६५

तब, भक्ति ध्वनि के किसी भेद का उपलक्षण तो हो सकती है, 'भक्ति' में ध्वनि का अन्तर्भाव करने वालों का यह तृतीय संभावित विकल्प है—

'कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्'[१]

भक्ति, वक्ष्यमाण ध्वनि के अनेक भेदों में से किसी विशेष भेद का उपलक्षण हो सकती है। तब भी सम्पूर्ण ध्वनि का उपलक्षण तो नहीं होगी। यदि दुर्जनतोष न्याय से यह माने कि 'भक्ति (लक्षणा) से ध्वनि लक्षित हो सकती है तब तो अभिधा-व्यापार द्वारा ही समस्त अलंकारवर्ग भी लक्षित हो सकता है, ऐसी स्थिति में पृथक्-पृथक् अलंकारों का लक्षण करने की आवश्यकता भी नहीं रह जाती।[२]

यदि यह माने कि पहले ही ध्वनि का लक्षण कर दिया गया है, तो इससे ध्वनि का ही पक्ष सिद्ध होता है—

लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः।

क्योंकि 'ध्वनि' का लक्षण पहले ही किया गया है, इससे सिद्ध होता है कि ध्वनि है। 'ध्वनि है', यह ध्वनिवादियों का मत है ही। यदि यह मत पहले से ही सिद्ध है तो ध्वनिवादी बिना प्रयत्न ही सफल हो गये।[४]

१-१४ ध्वनि की अनाख्येयता का निवारण—ध्वनि की अनिर्वचनीयता इसके विरोधियों का अंतिम विकल्प है। ऐसे लोगों को आचार्य आनन्दवर्धन का उत्तर है कि—

'सहृदयों के हृदयों को आनन्द देने वाली ध्वनि अवर्णनीय (अनाख्येय) है, यह कथन भी परीक्षा करके कहा हुआ नहीं है।' क्योंकि उपर्युक्त रीति से ध्वनि के सामान्य और विशेष लक्षण कर दिये जाने पर भी यदि उसे अनाख्येय ही कहा जायगा तो ऐसी अनाख्येयता (तत्) का प्रसार तो सभी वस्तुओं में हो सकेगा।'[५]

अर्थात् व्यंग्यार्थ का अस्तित्व सिद्ध कर दिया गया है, व्यंग्यार्थ की प्रधानता का आख्यान कर ध्वनि की परिभाषा की गई है। लक्षणा से उसका भेद भी प्रतिपादित किया गया। इसके बाद भी यदि ध्वनि को गिरागोचर-अनाख्येय ही कहा जाय, तो फिर संसार की कोई भी वस्तु अनाख्येय हो सकती है। यदि अनाख्येय कहने से यह तात्पर्य है कि ध्वनि महान् है, अन्य काव्यों में ध्वनि काव्य की श्रेष्ठता अवर्णनीय

---

१. वही पृ० ६७
२. वही
३. वही
४. ध्व० आ० वि० पृ० ६७
५. यत् उक्त्या नीत्या··· तत् सर्वेषामेव वस्तूनाम् तत्प्रसक्तम्···वही पृ० ६८

है। और 'अनाख्येयता' पद मे अतिशयोक्ति द्वारा ध्वनि की उत्कृष्टता प्रतिपाद्य है, तब तो ठीक है।

१-१५ व्यजक के दृष्टिकोण से व्यजना सिद्धि—तृतीय उद्योत मे आचार्य ने वर्ण, शब्द, शब्दाश, सघटना आदि का व्यजकत्व प्रतिपादित कर ध्वनि के भेद-प्रभेदो का प्रदर्शन किया है।[1]

१ १६ वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ मे घट प्रदीप-न्याय—यदि वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ मे कोई न्याय घटित होता है तो वह प्रदीप न्याय ही है। जैसे प्रदीप के द्वारा घट की प्रतीति उत्पन्न होने पर भी प्रदीप का प्रकाश निवर्तित नहीं होता, उसी प्रकार व्यग्य की प्रतीति मे भी वाच्यावभास रहता है।[2] प्रथम उद्योत मे वाच्य और व्यग्य का सम्बन्ध निरूपित करते हुए कहा गया था—

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जन ।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृत ॥१॥

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थ सम्प्रतीयते ।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वद् प्रतिपत्तस्य वस्तुन ॥२॥

स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रथयन्नपि ।
यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते ॥३॥

जैसे आलोक चाहने वाला मनुष्य, दीपशिखा मे (आलोक का उपाय होने के कारण) यत्नवान् होता है, वैसे ही व्यग्यार्थ मे आदर वाला उसके उपाय-स्वरूप वाच्यार्थ मे यत्नवान् होता है ॥१॥

जैसे पदार्थ के द्वारा वाक्यार्थ का बोध होता है, वैसे ही प्रतीयमान वस्तु (अर्थ) की प्रतीति वाच्यार्थपूर्वक होती है ॥२॥

पदार्थ अपने सामर्थ्य से वाक्यार्थ का प्रतिपादन करते हुए भी वाक्यार्थ की निष्पत्ति हो जाने पर पृथक् भासित नही होता ॥३॥

उपर्युक्त कारिका सख्या २ मे पदार्थ और वाक्यार्थ की बात कही गई है, तब ध्वनिवादियो के अनुसार भी वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ मे पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय घटित हो रहा है फिर तात्पर्यवादी और आनन्दवर्धन की मान्यता मे भेद कहाँ हुआ ? इस प्रश्न

---

१ द्रष्टव्य लेखककृत व्यजना सिद्धि और परपरा, पृ० ३२-३७

२ तस्माद् घटप्रदीपन्यायस्तयो । यथैव हि प्रदीपद्वारेण घटप्रतीतावुत्पन्नाया न प्रदीपप्रकाशो निवर्तते तद्वद् व्यग्यप्रतीतौ वाच्यावभास । ध्व० (आ० वि०) पृ० २५७

का समाधान करते हुए आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है कि प्रथम उद्योत की इस कारिकाओं का लक्ष्य, उपाय का सादृश्यत्व मात्र बतलाना है,[1] वस्तुतः पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय घटित करना नहीं। जैसे पदार्थ, वाक्यार्थ का उपाय है, वैसे वाक्यार्थ व्यंग्यार्थ का उपाय है, इतना ही उस कारिका 'यथा पदार्थद्वारेण…' आदि का आशय है। उससे पदार्थ वाक्यार्थ न्याय नहीं समझना चाहिये।

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में आचार्य आनन्दवर्धन ने घट-प्रदीप न्याय स्वीकार किया है। इससे पुनः एक शंका उठती है कि घट-प्रदीप न्याय में दीप और घट इन दो का एक साथ प्रकाशन होता है, इस न्याय को वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में घटित करने पर, वाक्य के दो अर्थ होने लगेंगे, और इस प्रकार वाक्य की परिभाषा ही व्यर्थ हो जायगी क्योंकि वाक्य एकार्थत्व की प्रतीति कराने वाला ही होता है[2] (ऐकार्थ्यलक्षणत्वात्)।

आनन्दवर्धन के मतानुसार वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के प्रसंग में यह दोष नहीं आता। क्योंकि वाच्य और व्यंग्य की स्थिति गौण और प्रधान आदि होती है। कहीं व्यंग्य अर्थ प्रधान और वाच्य उपसर्जनीभाव से स्थित होता है और कहीं वाच्य प्रधान होता है, व्यंग्यार्थ गौणरूप से रहता है।[3] जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है, वहीं ध्वनि कही गयी है। अतः यह सिद्ध होता है कि वाक्य के व्यंग्यनिष्ठ होने पर भी, व्यंग्यार्थ अभिधेय नहीं वरन् व्यंग्य ही होता है। आशय यह हुआ कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति में भी वाच्यार्थ की उपस्थिति तो रहेगी ही, यही वाच्यार्थ अभिधेय है, वाच्यार्थ रूप उपाय से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, अतः व्यंग्यार्थ अभिधेय नहीं है, उसे व्यंग्य ही मानना होगा।

१-१७ व्यंग्यार्थ के वाच्यत्व के निषेध का एक और तर्क—जहाँ शब्द व्यंग्यार्थनिष्ठ नहीं होता, व्यंग्यार्थ गुणीभूत होता है, वहाँ व्यंजना-विरोधी भी उस गुणीभूत व्यंग्य को वाच्यार्थ तो नहीं मानेंगे। परन्तु इस गुणीभूत व्यंग्य की स्थिति यह

---

१. 'तदुपायत्वमात्रात् साम्यविवक्षया' पृ० वही

२. नन्वेवं युगपदर्थद्वययोगित्वं वाक्यस्य प्राप्तं, तद्भावे च तस्य वाक्यतैव विघटते। तस्या ऐकार्थ्यलक्षणत्वात्। ध्व० (आ० वि०) पृ० २५८

३. नैष दोषः, गुणप्रधानभावेन तयोर्व्यवस्थानात्। व्यंग्यस्य हि क्वचित् प्राधान्यं वाच्यस्योपसर्जनीभावः। क्वचिद्वाच्यस्य प्राधान्यमपरस्य गुणभावः, तत्र व्यंग्यप्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तमेव। वही

४. व्यंग्यपरत्वेऽपि काव्यस्य न व्यंग्यस्याभिधेयत्वमपितु व्यंग्यत्वमेव। वही

सिद्ध करती हैं कि शब्द का कोई व्यंग्य अर्थ भी होता है।[१] और जब व्यंग्यार्थ के गुणीभूतत्व को स्वीकार करते हैं, तो जहाँ उसका प्राधान्य होता है, वहाँ उसे अस्वीकार कैसे किया जा सकता है। इसलिए व्यंजकत्व को वाचकत्व से पृथक् ही मानना होगा।

१-१८ आश्रयभेद से व्यजकत्व की प्रामाणिकता—वाचकत्व का आश्रय शब्द ही होता है, शब्द से भिन्न अभिधेयार्थ का प्रतिपादन सम्भव नही है। परन्तु व्यंग्यार्थ का आश्रय शब्द भी है और अर्थ भी। अतः व्यजकत्व केवल शब्द का ही नही होता अर्थ का भी होता है। जहाँ एक अर्थ अन्य अर्थ की व्यजना करे वहाँ अर्थ मे व्यजकत्व है। इसलिये आश्रय के भेद से भी व्यजकत्व का भेद प्रमाणित होता है।

'इतश्च वाचकत्वाद् व्यंजकत्वस्यान्यत्व, यद्वाचकत्व शब्दैकाश्रयमितरत्तु शब्दाश्रयमर्थाश्रय च शब्दार्थयोद्वयोरपि व्यंजकत्वस्य प्रतिपादितत्वात्।

अत अभिधाशक्ति और तात्पर्यशक्ति से भिन्न व्यजकत्व व्यापाररूप व्यजनाशक्ति है।

१-१९ लक्षकत्व और व्यजकत्व भेद-प्रकरण—मुख्यार्थ बाधित होने पर सादृश्येतर सम्बन्ध से (लक्षणा) अथवा सादृश्य सम्बन्ध से शब्द अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है। सादृश्य-सम्बन्ध पर आधारित को गुणवृत्ति कहते हैं और सादृश्येतर पर आधारित को लक्षणा कहते हैं। पूर्व प्रकरण म वाचकत्व और व्यजकत्व म भेद बतलाते हुए वाच्यत्व की शब्दाश्रयता और व्यजकत्व के शब्दार्थाश्रयत्व का प्रतिपादन किया था। जैसे व्यञ्जकत्व शब्द और अर्थ दोनो के आश्रित है, वैसे ही लक्षणा अथवा गुणवृत्ति भी शब्द और अर्थ दोना के आश्रित है। तब लक्षकत्व मे ही व्यञ्जकत्व को भी क्यो न समाहित मान लिया जाय? गुणवृत्ति म व्यञ्जकत्व का अन्तर्भाव मानने वालो का तर्क है कि वह (गुणवृत्ति) भी उपचार तथा लक्षणा से शब्द और अर्थ दोनो में आश्रित होती है। इस तर्क को ठीक मानते हुए भी आनदवर्धन ने गुणवृत्तित्व और व्यञ्जकत्व मे स्वरूपगत तथा विषयगत भेद प्रतिपादित किया है।[२]

इसके अनन्तर आनन्दवर्धन ने वाक्यतत्त्वविद् मीमांसको के मत मे भी व्यञ्जकत्व का अनिवार्य अवसर सिद्ध किया।[३]

---

१ तदस्ति तावद् व्यंग्य शब्दानां कश्चिद् विषय इति। ध्व० (आ० वि०) पृ० २५८

२ इस विषय के पूर्ण विवेचन हेतु द्रष्टव्य लेखककृत व्यञ्जना सिद्धि और परंपरा, पृ० ३९

३ वही, पृ० ४५ ४८

यह व्यञ्जकत्व वैयाकरणों के भी प्रतिकूल नहीं है। क्योंकि अविद्यासंस्कार-रहित शब्दब्रह्म को स्वीकार करने वाले विद्वान् वैयाकरणों के सिद्धान्त का आश्रय लेकर ही ध्वनिसिद्धान्त का प्रवर्तन हुआ है। इसलिए वैयाकरणों से विरोध-अविरोध का प्रश्न ही नहीं उठता।[1]

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को कृत्रिम मानने वाले नैयायिकों के मत में शब्दों का अन्य अर्थो के प्रति व्यञ्जकत्व, दीपक आदि के प्रकाशकत्व के समान अनुभवसिद्ध है। नैयायिकों का शब्दों के वाचकत्व के विषय में मतभेद हो सकता है (वाचकत्व स्वाभाविक है अथवा संकेतकृत है, इस प्रकार का मतभेद) परन्तु वाचकत्व के पश्चात् होने वाले व्यञ्जकत्व के सम्बन्ध में मतभेद का अवसर नहीं है। क्योंकि व्यञ्जकत्व तो लोकप्रसिद्ध तथा अनुभूत है। नैयायिक 'आत्मा' जैसे अगोचर अर्थ में विप्रतिपत्तियाँ खड़ी कर सकते हैं, परन्तु 'नील' को नील ही कहेंगे, पीत नहीं, अतः प्रत्यक्ष में तर्क का अवसर नहीं आता। इसी प्रकार, वाचक शब्दों का, अवाचकशब्दरूप गीतादि ध्वनियों का व्यञ्जकत्व तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है। इस प्रत्यक्षसिद्धि के विषय में तर्क का अवसर नहीं है। विद्वानों की गोष्ठियों में शब्द से अनभिधेय सुन्दर अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले अनेक प्रकार के वचन कहे जाते हैं—इस सत्य को कौन अस्वीकार कर सकेगा।

व्यञ्जकत्व और लिंगत्व में भी साम्य दिखलाया गया है, इससे एक और विप्रतिपत्ति उत्पन्न होती है। शब्दों के बोधकत्व का नाम ही व्यञ्जकत्व है और वह लिंगत्वरूप है। इससे जो व्यंग्य की प्रतीति होती है, वह लिंगी की प्रतीति के समान है—इसलिये व्यञ्जक और व्यंग्य भाव लिंग-लिंगी भाव ही है। पुनः वक्ता का अभिप्राय व्यंग्य है—यह ध्वनिवादी भी मानते हैं—परन्तु वक्ता का अभिप्राय अनुमेय होता है। अतः व्यञ्जना, अनुमिति के अन्तर्गत है।

उपर्युक्त तर्क का उत्तर आनन्दवर्धन ने दो प्रकार से दिया है—यह कि अनुमिति रूप ही यदि व्यञ्जना मानी जाय तो भी वह अभिधा और गुणवृत्ति से तो पृथक् ही सिद्ध हुई। भले ही व्यञ्जकत्व, लिंगत्व रूप मानें पर प्रसिद्ध सम्बन्ध और लक्षकत्व से वह भिन्न है। इस उत्तर से यह सिद्ध हुआ कि व्यञ्जना पृथक् है। यह प्रौढिवाद से उत्तर हुआ। अनभिमत बात को कुछ समय के लिये स्वीकार करके उत्तर देना प्रौढिवाद कहलाता है। द्वितीय उत्तर यह है कि वास्तव में व्यञ्जना अनुमिति के अन्तर्गत नहीं हो सकती, क्योंकि व्यञ्जकत्व सर्वत्र लिंगत्वरूप नहीं होता और व्यंग्य की प्रतीति सर्वत्र लिंगी की प्रतीति के समान नहीं होती।[2] अपने मत को आचार्य आनन्दवर्धन ने इस प्रकार कहा है—

---

१. ध्व० (आ० वि०) पृ० २७६

२. न पुनरयं परमार्थो यद् व्यञ्जकत्वं लिंगत्वमेव सर्वत्र, व्यंग्यप्रतीतिश्च लिंगिप्रतीतिरेवेति। ध्व० (आ० वि०) पृ० २७०

'शब्दों का विषय दो प्रकार का होता है, एक अनुमेय और दूसरा प्रतिपाद्य। वक्ता के कहने की इच्छा अनुमेय है। यह इच्छा भी दो प्रकार की होती है—प्रथम शब्द के स्वरूप के प्रकाशन की इच्छा और द्वितीय, शब्द से अर्थ प्रकाशन की इच्छा। इनमें प्रथम शब्दव्यवहार का अंग नहीं है। इससे किसी प्रकार के अर्थ का ज्ञान न हो सकने से ही इसे शब्दव्यवहार में अनुपयोगी कहा है। अर्थप्रकाशनरूप इच्छा, शब्द-बोधव्यवहार का अंग है। ये दोनों शब्दों का अनुमेय विषय हैं। विशेष प्रकार के शब्द को सुनकर शब्दस्वरूपप्रकाशन की इच्छा अथवा शब्द द्वारा अर्थप्रकाशन की इच्छा का अनुमान होता है। शब्द के प्रयोक्ता को अर्थप्रतिपादन की इच्छा का, विषयीभूत अर्थ का स्वरूप अनुमेय नहीं कहा जा सकता।'[1]

वैशेषिक दर्शन में अनुमान में ही शब्द का भी अंतर्भाव कर दिया गया है। जैसे अनुमान प्रक्रिया में—व्याप्तिग्रहण, लिंगदर्शन, व्याप्तिस्मृति तथा अनुमिति ये चार चरण हैं वैसे ही शब्द में—संकेतग्रह, पदज्ञान, पदार्थस्मृति के बाद शब्दबोध होता है। इसलिए समानविधि होने से शब्द भी अनुमान ही है। आचार्य आनन्दवर्धन ने इस मान्यता का खण्डन किया है।

व्यञ्जकत्व सदैव लिंगत्व रूप नहीं होता, दीपक आदि के प्रकाश में बिना लिंगत्व के ही व्यञ्जकत्व दिखलाई पड़ता है।[2] इसी प्रकार प्रतिपाद्य विषय लिंगी की भाँति शब्द से सम्बन्धित नहीं है। जैसा कि कहा जा चुका है, वक्ता की विवक्षा लिंगी रूप में शब्दों से सम्बद्ध है। यदि प्रतिपाद्य विषय को लिंगी मानें तो उसमें लौकिक पुरुषों द्वारा की जाने वाली विप्रतिपत्तियों का अभाव होगा, क्योंकि अनुमेयार्थ निश्चित होता है, उसमें विप्रतिपत्तियों के लिये अवसर नहीं होता।[3] परन्तु प्रतिपाद्य विषय में विप्रतिपत्तियों का अवसर होता है अतः वह अनुमेयार्थ नहीं हो सकता। इसलिये व्यञ्जना—अनुमान नहीं हो सकती।

१-२० अनुमान और व्यञ्जना—व्यञ्जना का अनुमान में अंतर्भाव करने की आकांक्षा वालों का एक और तर्क हो सकता है। प्रामाण्य और अप्रामाण्य, अनुमान साध्य है। व्यंग्य अर्थ के सत्य-असत्य के निर्णय हेतु भी अनुमान अपेक्षित होगा।

---

१ विवक्षाविषयत्वं हि तस्यार्थस्य शब्दलिंगितया प्रतीयते न तु स्वरूपम्। ध्व० (आ० वि०) पृ० २८०

२ न च व्यञ्जकत्वं लिंगत्वरूपमेव, आलोकादिष्वन्यथा दृष्टत्वात् ध्व० (आ० वि०) पृ० २८२

३ प्रतिपाद्यस्य च विषयस्य लिंगत्वे तद्विषयाणां विप्रतिपत्तीनां लौकिकैरेव क्रियमाणानामभावः प्रसज्येतेति। वही

इस प्रकार व्यंग्यार्थ भी अनुमान का विषय सिद्ध होता है। प्रामाण्य और अप्रामाण्य विषयक दो मत—मीमांसक और नैयायिक-प्रसिद्ध हैं। मीमांसक प्रामाण्य को स्वतः प्रामाण्य मानते हैं और अप्रामाण्य को परतः कहते हैं। नैयायिक प्रामाण्य और अप्रामाण्य, दोनों को ही परतः मानते हैं। परतः प्रामाण्य वह है जिसमें ज्ञान-ग्राहक सामग्री और ज्ञान का प्रामाण्य-ग्राहक सामग्री पृथक्-पृथक् हो। नैयायिक मत में ज्ञान का ग्रहण अनुव्यवसाय से होता है। सर्वप्रथम 'अयं घटः' यह ज्ञान होता है, तदनन्तर 'घटज्ञानवान् अहम्' यह प्रतीति होती है—यही 'अनुव्यवसाय' है—व्यवसाय का अर्थ है 'ज्ञान'—'अयं घटः' इस ज्ञान से 'घटज्ञानवान् अहम्' यह प्रतीति होती है, ज्ञान के बाद होने के कारण इसे 'अनुव्यवसाय' कहा गया। अतः ज्ञान के ग्रहण की सामग्री यह 'अनुव्यवसाय' है। 'प्रामाण्य' का ग्रहण प्रवृत्तिसाफल्य अनुमान से होता है। ज्ञान के बाद प्रवृत्ति होती है। यदि यह प्रवृत्ति विफल होती है तो ज्ञान का अप्रामाण्य होता है। इस प्रकार प्रामाण्य-अप्रामाण्य दोनों ही अनुमान-साध्य है। व्यंग्यार्थ के प्रामाण्य-अप्रामाण्य भी अनुमानसाध्य होने से वह अनुमेयार्थ ही है।

इसका समाधान आनन्दवर्धन ने इस प्रकार किया है—प्रामाण्य और अप्रामाण्य के विषय में किसी भी साधन का उपयोग करें, चाहे मीमांसकों के ज्ञातता-सिद्धान्त का अथवा नैयायिकों के 'अनुव्यवसाय' सिद्धान्त का, परन्तु शब्द के वाचकत्व रूप व्यापार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता वैसे ही व्यंग्यार्थ प्रामाण्य-अप्रामाण्य में किसी भी प्रमाण का उपयोग होने से कोई हानि नही। इससे व्यञ्जकत्व व्यापार को पृथक् शब्द व्यापार मानने में कोई बाधा नही पड़ती है।[1]

पुनः लौकिक, तथा वैदिक वाक्यों में तो प्रामाण्य-अप्रामाण्य का प्रश्न महत्त्वपूर्ण होता है, वहाँ प्रमाण के उपयोग को भी महत्त्व हो सकता है। परन्तु काव्य में व्यंग्यार्थ के प्रामाण्य-अप्रामाण्य का प्रयोजन कुछ भी नही है, तब प्रमाण-प्रयोगों की बात भी उपहासास्पद है। इसलिए सर्वत्र लिंगी प्रतीति ही व्यंग्यप्रतीति नही है।

अतः निष्कर्ष रूप में गुणवृत्ति और वाचकत्व आदि से व्यञ्जकत्व भिन्न ही है।

इस प्रकार आचार्य आनन्दवर्धन ने व्यञ्जकत्व व्यापार को पूर्वकथित सभी व्यापारो से पृथक् सिद्ध किया। व्यंग्यार्थ के अस्तित्व का निर्विवाद प्रतिपादन प्रथम

---

१. यथा च वाच्यविषये प्रमाणान्तरानुगमेन सम्यक्त्वप्रतीतौ क्वचिद् क्रियमाणायां तस्य प्रमाणान्तरविषयत्वे सत्यपि न शब्दव्यापार-विषयताहानिस्तद्वद्व्यंग्यस्यापि। ध्व० (आ० वि०) पृ० २८५

२. काव्यविषये च व्यंग्यप्रतीतीनां सत्यासत्यनिरूपणस्याप्रयोजकत्वमेवेति तत्र प्रमाणान्तरव्यापारपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यते। तस्माल्लिंगिप्रतीतिरेव सर्वत्र व्यंग्यप्रतीतिरिति न शक्यते वक्तुम्। वही

उद्योत में किया जा चुका है। व्यग्य-व्यञ्जक की सिद्धि हो जाने पर इनका परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने वाला व्यञ्जना व्यापार भी सिद्ध हो जाता है, क्योंकि यह प्रश्न उठता है कि व्यग्य भी प्रमाणित हुआ और व्यञ्जक भी, तब ये किस सम्बन्ध द्वारा सम्बद्ध हैं ? व्यञ्जक किस शक्ति द्वारा व्यग्यार्थ को प्रतीति कराता है ? व्यग्य और व्यञ्जक में व्यञ्जना शक्ति ही इस प्रतीति को अपना विषय बनाती है। अत. अब तक कही गई अभिधा, लक्षणा और तात्पर्यवृत्ति से भिन्न व्यञ्जनावृत्ति स्वीकार करनी होगी। इस रूप में व्यञ्जना प्रतिपादन का श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को ही है। इसका आधारभूत स्रोत वैयाकरणो का नाद और स्फोट का व्यग्य-व्यञ्जक भाव है, तथापि व्यग्य-व्यञ्जक भाव का पूर्ण पल्लवन ध्वन्यालोक में ही है।

परन्तु, काव्यशास्त्र की इस 'अभूतपूर्व उपलब्धि' का विरोध भी हुआ। विद्वानों ने एक सिरे से व्यग्यार्थ और व्यञ्जना को अस्वीकृति दी। धनजय-धनिक ने तात्पर्य का अतिविस्तार कर उसी में व्यञ्जना का पर्यवसान कर उसे भिन्न वृत्ति मानने से इनकार किया। मीमासक तो इसके सर्वाधिक विरोधी रहे। उन्होंने अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त व्यञ्जना नाम की कोई वृत्ति हो सकती है, इस पर विश्वास ही नहीं किया। नैयायिक महिम भट्ट ने आलकारिको के व्यग्यार्थ को 'अनुमान' के अन्तर्गत कर दिया। 'अखडार्थवादी' वेदान्ती और वैयाकरणो से भी 'व्यञ्जना' को विरोध ही मिला।[1]

आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के पचम उल्लास मे उपरिकथित व्यञ्जना-विरोधियो के पूर्वपक्षो को उद्धृत करते हुए सभी मतो में व्यञ्जना का निर्विवाद अवसर सिद्ध किया है। यह काव्यप्रकाश की अन्यतम उपलब्धि है। सर्वप्रथम आचार्य मम्मट ने व्यग्यार्थ और वाच्यार्थ का भेद स्पष्ट कर व्यञ्जना का वाच्यार्थभिन्न अस्तित्व प्रतिपादित किया है—

(१) **वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ भेद प्रकरण**—वाच्यार्थ, तात्पर्यार्थ आदि से व्यग्यार्थ सर्वथा भिन्न है, इस तथ्य का आचार्य मम्मट ने अनेक युक्तियो से सिद्ध किया है। रस की व्यग्यता से यह प्रसग प्रारम्भ किया गया है।

रस को प्रतीति व्यञ्जना द्वारा ही सभव है, रस रूप अर्थ स्वप्न मे भी वाच्य नहीं हो सकता।[2] यदि रस को वाच्य मानें तो 'रसादि' शब्द द्वारा अथवा रस विशेष के बोधक 'शृगारादि' शब्दो के प्रयोग से उसकी प्रतीति होनी चाहिए, परन्तु व्यवहार में यह प्रमाणित नहीं होता। रस-प्रतीति तो विभावादि के प्रयोग से ही होती है, यह

---

१ ध्वनिविरोधी आचार्यों के मतों के लिए देखिए लेखक की 'व्यजनावृत्ति : सिद्धि और परपरा का द्वितीय अध्याय।

२ 'रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्य'। मम्मट, काव्यप्रकाश, (आ० वि०) ५ म उ०, पृ० २१७

तथ्य अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध है।[१] यदि 'विभावादि' का प्रयोग है तो रस-प्रतीति भी होगी, यदि प्रयोग नहीं है तो प्रतीति भी नहीं होगी। अतः विभावानुभावसंचारिमुखेन ही रस-प्रतीति सम्भव है, इसलिये रस व्यंग्य ही है।[२] रस की वाच्यता का निषेध तो हुआ पर रस लक्ष्यार्थ भी तो हो सकता है, व्यंग्य ही क्यों? इस शंका का समाधान करते हुए मम्मटाचार्य कहते हैं कि रस लक्षणीय भी नहीं है, क्योंकि लक्ष्यार्थ की प्रतीति में मुख्यार्थबाधादि तीन बीज अनिवार्य हैं। रस-प्रतीति में, इन तीन अनिवार्य 'बीजों' में से एक भी नहीं है, अतः मुख्यार्थबाधादि के अभाव के कारण रस लक्षणीय नहीं है।[३]

(२) लक्षणामूलक ध्वनि में व्यंजना की अनिवार्यता—आचार्य आनन्दवर्धन ने लक्षणामूलक ध्वनि के दो भेद किए हैं। प्रथम अर्थान्तरसंक्रमित और द्वितीय अत्यंत-तिरस्कृत वाच्य।[४] इनमें से प्रथम में वाच्यार्थ प्रकरण के विमर्श से अनुपयुक्त प्रतीत होता है, इसलिए वह अर्थान्तर में संक्रमित हो जाता है। द्वितीय में वाच्यार्थ अनुपपद्यमान होता है और अन्य ही अर्थ की प्रतीति कराता है, इसीलिये इसे अत्यंततिरस्कृत-वाच्यध्वनि कहा गया है। इन दोनों ही ध्वनि-रूपों में प्रयोजन विशेष व्यंग्य होता है, प्रयोजन अभिधा अथवा लक्षणा द्वारा द्योत्य नहीं है। काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में इस प्रसंग की विस्तृत व्याख्या है। प्रयोजनविशिष्ट के व्यंग्य होने के कारण ही लक्षणा का अवसर उपस्थित होता है। प्रयोजन के अभाव में लक्षणा-प्रवृत्ति ही न हो सकेगी, अतः वस्तुरूप अर्थ की प्रतीति भी व्यञ्जना द्वारा ही सम्भव है।[५]

(३) अभिधामूला संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि और व्यंजना—अभिधामूलक संलक्ष्य-क्रमव्यंग्य ध्वनि के तीन भेद हैं—शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ और उभयशक्त्युत्थ।

इनमें शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि वहाँ होती है, जहाँ प्रकरणादि अभिधा-नियामकों द्वारा शब्द एकार्थ में नियन्त्रित हो जाता है और उसके पश्चात् भी अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है। यह स्पष्ट है कि अभिधा के नियन्त्रित होने पर भी जिस अन्यार्थ की प्रतीति हो रही है, वह अभिधार्थ नहीं है, वह लक्ष्यार्थ भी नहीं है। तब उसे व्यं-

---

१. तस्य प्रतिपत्तेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभावाद्यभिधानद्वारेणैव प्रतीयते। वही, पृ० २१७
२. तेनाऽसौ व्यङ्ग्य एव ' वही, पृ० २१७
३. मुख्यार्थबाधाद्यभावान्न पुनर्लक्षणीयः। वही, पृ० २१७
४. अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ।
   अर्थान्तरे संक्रमितमत्यंतं वा तिरस्कृतम्॥
५. अर्थान्तरसंक्रमितात्यंततिरस्कृतवाच्ययोर्वस्तुमात्ररूपं व्यंग्यं विना लक्षणैव न भवतीति प्राक् प्रतिपादितम्। का० प्र० (आ० वि०) पृ० २१७

व्यार्थ ही कहा जाना चाहिए और वह व्यञ्जना द्वारा ही प्रतीत्य है।[1] अर्थ ही नहीं वरन् वाच्यार्थ और प्राकरणिक अर्थ का उपमानोपमेयभाव प्रतीति भी निर्विवाद रूप से व्यंग्य ही है।

(४) *अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि में व्यंजना की अनिवार्यता*—संलक्ष्यक्रम अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि में वाच्यार्थ प्रथमतः उपस्थित होता है, तदनन्तर व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। वाच्यार्थ, वाक्यार्थ ही है। वाक्य से अर्थ की निष्पत्ति के विवेचन में मीमांसक अधिकारी माने जाते हैं अतः इस सदर्भ में आचार्य मम्मट ने मीमांसकों के अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद तथा भट्ट लोल्लटादि के मतों में व्यञ्जना का अनिवार्य अवसर सिद्ध किया है। मीमांसकों के मत को भली भाँति स्पष्ट करने के लिए संकेतग्रह का विवेचन अनिवार्य है।

संकेतग्रह किसमें हो? इस प्रश्न के समाधान में मतवैभिन्य है। मीमांसक जाति में ही संकेतग्रह मानते हैं। व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से 'आनन्त्य' और 'व्यभिचार' दोष उत्पन्न होते हैं। जिस व्यक्तिरूप अर्थ में शब्द का संकेतग्रह हुआ है, उसमें उसी व्यक्ति विशेष अर्थ की प्रतीति होगी। अतः भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की प्रतीति के लिए उनमें पृथक्-पृथक् संकेतग्रह मानना होगा। इस प्रकार अनन्त संकेतग्रह मानने में अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी होगी। इस दोष को "आनन्त्यदोष" कहते हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से वर्तमान में स्थित व्यक्तियों में तो भले ही निर्वाह हो जाय पर भूत तथा भविष्य के व्यक्तियों का क्या होगा, जो वर्तमान में स्थित नहीं है, उनमें संकेतग्रह कैसे होगा? यदि इस आनन्त्यदोष के परिहार हेतु यह मान लें कि २-४ व्यक्तियों में संकेतग्रह मान लिया जाय और शेष की प्रतीति बिना संकेतग्रह के होती रहेगी, तो "शब्द" संकेतग्रह से ही अर्थ की प्रतीति कराता है, इस नियम का उल्लंघन होने से "व्यभिचार" दोष होगा। इसलिए इन दो, "आनन्त्य" और "व्यभिचार", दोषों के कारण व्यक्ति में संकेतग्रह मानना अनुपयुक्त है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से महाभाष्यकारकृत चतुर्धा शब्द-विभाग, १—जाति, २—गुण, ३—क्रिया और ४—यदृच्छा भी सम्भव न होगा।

मीमांसक गुण, क्रिया और यदृच्छा शब्दों में भी जाति का अनुसंधान कर केवल जाति में ही संकेतग्रह मानते हैं। "अनुगतप्रतीति" के कारण को "सामान्य" अथवा "जाति" कहते हैं।[2] यह अनुगत प्रतीति गुण, क्रिया और यदृच्छा शब्दों में

---

१ शब्दशक्तिमूले तु अभिधाया नियन्त्रणेनानाभिधेयस्यार्थान्तरस्य तेन सहोपमादेरलंकारस्य च निर्विवादं व्यंग्यत्वम्। वही पृ० २१८

२ "अनुवृत्तिप्रत्ययहेतु सामान्यम्।"

भी होती है। गुण में अनुगतप्रतीति का उदाहरण दूध, बरफ, शंख आदि में शुक्लत्व सामान्य की प्रतीति है। ओदन, गुड़ आदि में पाकत्व सामान्य है, यह क्रिया में जाति का अनुसंधान हुआ। भिन्न-भिन्न व्यक्ति यदृच्छा शब्दों का उच्चारण करते है, परन्तु परिणाम की प्रक्रिया निरन्तर होने के कारण न तो वह वस्तु ही रहती है जिसका ज्ञान उस यदृच्छा शब्द से होता है और न बोलने वाला ही वह व्यक्ति रहता है जो क्षण भर पूर्व बोल रहा था, लेकिन फिर भी उस यदृच्छा शब्द से वस्तु का भान होता है, अतः उसमें भी सामान्यत्व है। यदृच्छा शब्दों में भी जाति का आधान किया जा सकता है। अतः जाति में ही संकेतग्रह मानना उचित है।

(५) **अभिहितान्वयवाद में**—अभिधा के द्वारा पदार्थ सामान्य की ही प्रतीति होती है, तदनन्तर आकांक्षा (वक्ता की), सन्निधि और योग्यता के कारण वाक्यार्थ बनता है। अतः अभिहितान्वय में तो अभिधा द्वारा वाक्यार्थ की भी प्रतीति नहीं होती। जब वाक्यार्थ ही वाच्य (अभिधेय) नहीं है तो इसके भी पश्चात् प्रतीत होने वाला व्यंग्यार्थ वाच्य कैसे हो सकता है। आचार्य मम्मट कहते हैं—

"*विशेष में संकेतग्रह करना जहाँ सम्भव नहीं है, और जातिरूप* (सामान्यरूपाणाम्) पदार्थों का परस्पर संसर्ग रूप विशेष अर्थ स्वयं पदों से उपस्थित न होकर (अपदार्थोऽपि) आकांक्षा, सन्निधि और योग्यता के कारण उपस्थित होता है, उस अभिहितान्वयवाद में व्यंग्यार्थ की अभिधेयता की बात ही क्या है।[१]

अतः अभिहितान्वयवादी मीमांसकों के मत में भी व्यंग्यार्थ अभिधेय नहीं है और वाच्यार्थ से भिन्न है, अतः उसकी प्रतीति के लिये भिन्न शक्ति, व्यञ्जना माननी होगी।

(६) अन्विताभिधानवाद में भी व्यंग्यार्थ अभिधेय नहीं है। परन्तु इस प्रसंग को आचार्य मम्मट ने, अन्विताभिधानवाद के अनुसार संकेतग्रह आधार से प्रारम्भ किया है। अन्विताभिधान वाद के स्वरूप को भलीभाँति प्रस्तुत करने के लिये यह आवश्यक भी था। संकेतग्रह के आठ आधार– (१) व्याकरण, (२) उपमान, (३) कोश, (४) आप्तवाक्य, (५) व्यवहार, (६) वाक्यशेष, (७) विवृति और (८) सिद्ध पद का सान्निध्य कहे गये हैं।[२] इनमें व्यवहार प्रमुख है। विशेषतः बालक के लिए "व्यवहार" की प्रक्रिया इस प्रकार स्पष्ट की गई है।

---

१. अर्थशक्तिमूलेऽपि विशेषे संकेतः कर्तुं न युज्यत इति सामान्यरूपाणां पदार्थानामाकांक्षासन्निधियोग्यतावशात्परस्परसंसर्गो यत्रापदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे का वार्ता व्यंग्यस्याभिधेयताम्।
का० प्र० (आ० वि०) पं० उ०, पृ० २१६

२. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

ये प्याहु —

शब्दवृद्धाभिधेयाश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति ।
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया ॥१॥

(बालक) वृद्ध तथा अभिधेय (क्रिया) आदि शब्दा को प्रत्यक्ष से देखता है, (सुनता है, "पश्यति" मे "शृणाति" का अध्याहार करना होगा, क्योकि क्रिया तो देखी जा सकती है, शब्द नही, अत प्रत्यक्ष मे देखना और सुनना, दोनो मानने हागे ।) श्रोता (मध्यम वृद्ध अथवा सेवक आदि) को चेष्टा से उसके (श्रोता के) ज्ञान का अनुमान करता है ।

अन्यथाऽनुपपत्त्या तु बोधेच्छक्तिं द्वयात्मिकाम् ।
अर्थापत्त्याऽवबोधेत सबध त्रिप्रमाणकम् ॥२॥'

(तब वह बालक) अन्यथा अनुपपत्ति (उत्तम वृद्ध द्वारा कहे गए वाक्य और उसके अर्थ मे वाचक-वाच्य सम्बन्ध है, यदि ऐसा न होता तो मध्यवृद्ध उसके अनुरूप क्रिया कैसे करता ? इस अन्यथा अनुपपत्ति) रूप अर्थापत्ति से (वह वाचक-वाच्य रूप) द्वयात्मिका शक्ति को जानता है । इस प्रकार (प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति रूप) तीन प्रमाणा मे सम्बन्ध का अवधारण करता है ।

क्योकि "व्यवहार' बालक के लिए होता है, अत उपर्युक्त दोनो श्लोको का कर्ता "बालक" ही है । इस प्रक्रिया का अधिक विवृत रूप इस प्रकार है—"उत्तम वृद्ध, पिता आदि, देवदत्त से कहता है—"देवदत्त गाय लाओ" तब देवदत्त (मध्यम वृद्ध) सास्नादिमान अर्थ (गाय) को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाता है । इस प्रकार उत्तम वृद्ध के कहे जाने पर और उस कथन के फलस्वरूप देवदत्त द्वारा गाय के लाये जाने को देखकर बालक यह समझ लेता है कि "इस देवदत्त ने उत्तमवृद्ध के वाक्य का यह अर्थ समझा ।" ऐसा वह बालक देवदत्त की चेष्टा से अनुमान कर लेता है और उत्तमवृद्ध के वाक्य और उसके अर्थ के वाचक वाच्य भाव सम्बन्ध को अर्थापत्ति प्रमाण से समझ लेता है । परन्तु यह समझना अखड वाक्य के अखड अर्थ के रूप मे ही है । पुन चैत्र (किसी भी व्यक्ति का नाम) 'गाय ले जाओ", अश्व लाओ' आदि इस प्रकार के वाक्य-प्रयोगा मे 'उस-उस" शब्द का 'वह-वह" अर्थ है, ऐसी अवधारणा करता है । इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से प्रवृत्ति और निवृत्ति करने वाला वाक्य ही प्रयोग के उपयुक्त है । वाक्य मे स्थित अन्वित पदा का ही अन्वित पदार्थों के साथ सकेतग्रह होता है । अर्थात् "गामानय" वाक्य मे "आनय"

---

१ काव्यप्रकाश, (आ० वि०) प० उ०, पृ० २२२

२ वाक्यस्थितानामेव पदानामन्विते पदार्थैरन्वितानामेव सकेतो गृह्यते । का० प्र०, (आ० वि०) पृ० २२४

"गाम्" के साथ अन्वित है और दोनों का संकेतग्रह अन्वित पदार्थों के साथ है। "गामानय" वाक्य के 'आनय" का अन्वय "अश्व" के साथ नहीं हो सकता। "अश्वमानय" में "आनय" का अन्वय "अश्व" के साथ होगा।

अतएव परस्पर अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ है।[1] पहले के अनन्वित पदार्थ का बाद होने वाला अन्वय वाक्यार्थ नहीं हो सकता। अन्विताभिधानवादियों के अनुसार परस्पर अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ के रूप में उपस्थित होता है। परन्तु, एक शब्द अनेक वाक्यों में प्रयुक्त होता है। यदि एक शब्द का अन्वय व्यक्तिविशेष से स्वीकार कर, एक अर्थ के साथ अन्वित में शक्तिग्रह मानें, तो अन्य वाक्यों में प्रयुक्त होने पर इस शब्द से अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकेगी। अतः विशेष अर्थ के साथ अन्वित में संकेतग्रह नहीं माना जा सकता, सामान्य के साथ अन्वित अर्थ में ही संकेतग्रह मानना होगा। परन्तु, अन्विताभिधानवाद में तो परस्पर अन्वित पदार्थों से ही वाक्यार्थ उपस्थित होता है और वाक्यार्थ विशेष अर्थों का परस्पर सम्बन्धरूप होता है। तब विशेष अर्थों का परस्पर सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ तो अन्विताभिधानवाद के अनुसार अभिधा से प्रतीत नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ सामान्य के साथ अन्वित में शक्तिग्रह माना गया है। इसका समाधान निम्नलिखित विधि से किया गया है।

(७) **निर्विशेषं न सामान्यम्** – इस कथन के अनुसार, बिना विशेष के कोई सामान्य रह ही नहीं सकता। आचार्य विश्वेश्वर के शब्दों में, प्रत्येक सामान्य का पर्यवसान विशेष में होता है। इसलिए सामान्यरूप से अन्वित अर्थ का पर्यवसान भी विशेष में होता है। वाक्य में अन्वित पदार्थ सामान्य नहीं विशेष होते हैं, अतः विशेष के साथ अन्वित अर्थ में संकेतग्रह मानने में कोई हानि नहीं है।[2] अन्विताभिधानवादियों के मत को आचार्य मम्मट ने इस प्रकार कहा है—

"वाक्यांतर में प्रयुक्त होने पर, प्रत्यभिज्ञा ज्ञान से यह निश्चित हो जाता है कि "वही" "वही" पद है। अतः, यद्यपि पदार्थ सामान्य के साथ अन्वय होता है, तब भी परस्पर सम्बद्ध पदार्थों के (व्यतिपिक्तानां पदार्थानाम्) के विशेष रूप ही होने से (तथा भूतत्वाद्) सामान्य से अवच्छादित होने पर भी वह (संकेतग्रह) विशेषरूप (में) हो ही जाता है यह अन्विताभिधानवादियों का मत है।[3]"

---

१. विशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थो न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्।

२. काव्यप्रकाश, (आचार्य विश्वेश्वर की टीका) पृ० २२५

३. यद्यपि वाक्यान्तरप्रयुज्यमानान्यपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययेन तान्येवैतानि पदानि निश्चीयन्ते इति पदार्थान्तरमात्रेणान्वितः संकेतगोचरः तथापि सामान्याव-च्छादितो विशेषरूप एवासौ प्रतिपद्यते, व्यतिषिक्तानां पदार्थानां तथाभूतत्वा-दित्यन्विताभिधानवादिनः।—वही—

अत अन्विताभिधानवाद मे सामान्य मे अवच्छादित विशेष सकेतग्रह का विषय होता है। तब भी वाक्यार्थ के अनन्तर जो 'अतिविशेष" अर्थ है, वह तो असकेतित होने से अवाच्य ही है और अवाच्य होने पर भी पदार्थ के रूप मे प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति मे वाक्यार्थ बोध के भी बाद प्रतीत होने वाले 'नि शेषच्युत " आदि उदाहरणो मे निषेध से विधिपरक अर्थ की प्रतीति के वाच्यार्थ होने की चर्चा असम्भव ही है।

अत अभिहितान्वयवाद मे अन्वित अर्थ अभिधा द्वारा प्रतीत होता है और वही अभिधेय या वाच्य है। अन्विताभिधानवाद मे पदार्थ सामान्य से अन्वित अर्थ वाच्यार्थ होता है। सब अन्वित विशेष अर्थ तो दोनो ही मतो मे अवाच्य रहा। वाक्यार्थ तो विशेष अर्थो का ही परस्पर सम्बन्ध रूप है और वह दोनो मतो मे अभिधा द्वारा उपस्थित नही होता, तब वाक्यार्थ के भी अनन्तर प्रतीत होने वाला व्यग्यार्थ अभिधेय कैसे हो सकता है ?

यह पहले कहा जा चुका है कि अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि मे पहले वाक्यार्थ ज्ञात होता है तब व्यग्यार्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार आचार्य मम्मट ने यह सिद्ध किया कि मीमासकों की विचार-प्रणाली मे वाक्यार्थ ही वाच्य नही है, तब "व्यग्यार्थ अभिधा से ज्ञेय होगा" यह कथन अपलाप मात्र है। अत व्यग्यार्थ की प्रतीति के लिये अभिधा से अतिरिक्त शक्ति माननी होगी और वह शक्ति व्यञ्जना ही है।

(८) नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते—मीमासको की यह भी धारणा है कि व्यञ्जनावादी जिसे व्यग्यार्थ कहते हैं उसका आधार भी शब्द ही होता है, इसलिये शब्द उस अर्थ का निमित्त है। शब्द का उस अर्थ के प्रति यह निमित्तत्व ज्ञापक रूप है। अत आलकारिको के व्यग्यार्थ और शब्द मे नैमित्तिकनिमित्त भाव अथवा बोध्य-बोधक भाव सम्बन्ध है। नैमित्तिक और निमित्त का यह सम्बन्ध बिना किसी शक्ति के नही हो सकता और वह शक्ति अभिधा ही है, क्योकि शब्द मे अर्थ की प्रतीति भी अभिधा से हो जाती है, इसलिये व्यञ्जना नामक किसी शक्ति की कल्पना व्यर्थ है।

उपर्युक्त धारणा का खडन करते हुए मम्मट ने कहा है कि उपर्युक्त मत मे शब्द को निमित्त माना है, निमित्त दो ही प्रकार के होते हैं[1]—१ कारक निमित्त, २ ज्ञापक निमित्त।

शब्द के प्रकाशक होने के कारण उसका ज्ञापक निमित्तत्व ही बन सकता है, कारक निमित्तत्व नही। लेकिन अज्ञात अर्थ मे शब्द का ज्ञापकत्व भी कैसे होगा ?[2]

---

१ तत्र निमित्तत्व कारकत्व ज्ञापकत्व वा ? का० प्र०, (आ०वि०), पृ० २२६

२ अज्ञातस्य ज्ञापकत्वन्तु कथ ? वही,

क्योंकि ज्ञातत्व संकेतग्रह होने पर ही होता है[1] और मीमांसकों के अनुसार, संकेतग्रह सामान्य से अन्वित में होता है। तब "अज्ञात" और संकेतग्रह जिसमें नहीं है, ऐसे व्यंग्यार्थ से प्रति शब्द का ज्ञापकत्व नहीं बन सकता, अतः शब्द उसका निमित्त भी नहीं होगा।

यदि शब्द का व्यंग्यार्थ के प्रति निमित्तत्व मानना ही है तो शब्द का उस विशेष नैमित्तिक में संकेतग्रह मानना होगा। जब तक यह सम्भव नहीं है तब तक शब्द से उसकी प्रतीति कैसे मानी जा सकती है? अतः नैमित्तिक (व्यंग्यार्थ) के अनुरूप निमित्त (शब्द) की कल्पना की जाती है. यह कथन व्यंग्यार्थ के सन्दर्भ में अविचार मात्र है। मम्मटाचार्य की इस तर्क-प्रक्रिया का संक्षेपण इस प्रकार किया जा सकता है—

१. मीमासक सामान्य से अन्वित में संकेतग्रह मानते हैं।

२. जब तक शब्द का व्यंग्यार्थ में संकेतग्रह न हो तब तक शब्द उसका निमित्त नहीं बन सकता।

३. मीमांसक मत में विशेष में संकेतग्रह न होने से, शब्द उस व्यंग्यार्थ का ज्ञापक निमित्त नहीं कहा जा सकता।

(६) **भट्ट लोल्लट का व्यंजनाविरोधी पक्ष**—भट्ट लोल्लट के अनुसार (सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः) अभिधा व्यापार ही इषु (बाण) के सदृश 'दीर्घदीर्घतर' है। जैसे एक ही बाण क्रमशः कवचछेदन, मर्मभेदन और प्राणहरण का कार्य करता है, वैसे ही वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य कहे जाने वाले सभी अर्थों की प्रतीति एक ही शक्ति अभिधा से हो जाती है। इसलिये अभिधातिरिक्त अन्य किसी शक्ति की कल्पना व्यर्थ है। अपनी मान्यता की प्रामाणिकता स्वरूप भट्ट लोल्लट ने शास्त्रवाक्य "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' भी उद्धृत किया है। भट्ट लोल्लट के अनुसार इस शास्त्र वाक्य का अर्थ है कि जिस अर्थ के प्रति शब्द का प्रयोग किया गया है, वही उसका अर्थ है। आलंकारिक जिस अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते है, यदि उस अर्थ की प्रतीति के लिए शब्द का प्रयोग किया गया है तो वही उस शब्द का अर्थ है। वही अर्थ वहाँ वाच्यार्थ माना जायगा। इसी प्रकार जहाँ लक्ष्य कहे जाने वाले अर्थ की कामना से शब्द का प्रयोग किया गया है, वहाँ वही अर्थ शब्द का वाच्यार्थ होगा। इन अर्थों को लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ कहने की आवश्यकता नहीं है, सभी अर्थ वाच्यार्थ ही है। शब्द अर्थनिष्ठ होता है और जिस अर्थ के प्रति उसकी परता'—'निष्ठा' है, वही अर्थ उस शब्द का वाच्यार्थ है। 'निःशेषच्युत .' आदि श्लोक में विधिरूप अर्थ ही वक्ता की इच्छा है, अतः यह

---

१. ज्ञातत्वं च संकेतेनैव ? वही,

विधिपरक अर्थ ही वाच्यार्थ है। इस तर्क प्रणाली से भट्ट लोल्लट ने अभिधा द्वारा सभी अर्थों की प्रतीति मानकर, लक्षणा और व्यञ्जना, दोनों ही शक्तियों को अस्वीकार कर दिया है।

आचार्य मम्मट ने इस तर्क प्रणाली का और 'यत्पर शब्द स शब्दार्थ' शास्त्र वाक्य के भट्ट लोल्लटकृत अर्थ को असंगत कहा है। भट्ट लोल्लटादि जो इस 'तात्पर्य-वाचायुक्ति' का ऐसा अर्थ करते हैं—मूर्ख हैं, क्योंकि वे अपने ही शास्त्र वचन का सही अर्थ नहीं जानते। इसलिये मम्मट ने इन व्यक्तियों को 'देवानांप्रिय' कहा है। आचार्य मम्मट ने स्वयं 'यत्पर' आदि तात्पर्यवाची युक्ति का वास्तविक अर्थ स्पष्ट किया है। उनके अनुसार इस तात्पर्यवाची युक्ति का अर्थ है, 'जिस अप्राप्त अंश के बोधन में विधि-वाक्य का तात्पर्य होता है, वही उस विधिवाक्य का प्रतिपाद्य अर्थ है।' आचार्य मम्मट ने अपनी विशिष्ट शैली में लिखा है—

'सिद्ध (भूत) और साध्य (भव्य) के साथ-साथ उच्चारण किये जाने पर (भूतभव्यसमुच्चारणे) सिद्ध पदार्थ, साध्य अर्थात् क्रिया के लिए उपदिष्ट होता है। (भूतं भव्यायोपदिश्यते इति)। क्रिया पदों से अन्वित (क्रियापदार्थेनान्वीयमाना) कारक पदार्थ (कारकपदार्था) प्रधान क्रिया को सपादक (प्रधानक्रिया निवर्तक) अपनी क्रिया के सम्बन्ध से (स्वक्रियासंबंधात्) साध्यता को (साध्यमानता) प्राप्त कर लेते हैं।[1] 'तदुपरांत, 'अदग्धदहन न्याय' में जो अप्राप्त होता है उसी का विधान करते हैं।' इसका तात्पर्य यह हुआ कि अग्नि जैसे अदग्ध का ही दहन करती है, उसी प्रकार विधिवाक्य अप्राप्त अर्थ का ही बोध कराते हैं। जैसे दग्ध का दहन नहीं हो सकता, वैसे ही प्राप्त का पुनः प्रापण या बाध क्या होगा? इसी तथ्य को और भी स्पष्ट करने के लिये आचार्य ने दो उदाहरण दिये हैं—

(१) लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति—यह विधिवाक्य श्येनयाग के प्रकरण में प्रयुक्त हुआ है। कुछ याग प्रधान होते हैं। प्रधानयागों के साथ कतिपय गौण यागों का भी विधान होता है। प्रधानयाग को 'प्रकृतियाग' और गौण याग को 'विकृतियाग' कहते हैं। प्रकृतियाग में याग के संपूर्ण विधि-विधानों का वर्णन होता है।[2] विकृति याग में संपूर्ण विधानों का वर्णन नहीं होता, प्रकृतियाग की अपेक्षा जो नवीन विधान होते हैं, वही वर्णित होते हैं शेष सब प्रकृतियाग के विधानवत् ही होता है।[3]

'श्येनयाग' का प्रकृतियाग है 'ज्योतिष्टोमयाग'। ज्योतिष्टोमयाग में ऋत्विक्-प्रचरण के सम्बन्ध में कहा है—'लोहितोष्णीषा विनीतवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति।' पुनः

१ काव्यप्रकाश, (सं० आचार्य विश्वेश्वर) पृ० २३२।

२ यत्र समग्रांगोपदेशः सा प्रकृतिः।

३ प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या।

'श्येनयाग' के संदर्भ में कहा है, 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' । इसमें 'सोष्णीषा' ऋत्विक् प्रचरण करते हैं, यह तो प्रकृतियाग के विधान से ही प्राप्त है। अप्राप्त अर्थ यहाँ 'लोहितोष्णीषाः' है । इसलिए समस्त वाक्य का विधेय यह 'लोहित उष्णीष' ही है । ज्योतिष्टोम याग की अपेक्षा श्येनयाग में ऋत्विकों के उष्णीष लाल रंग के होंगे । अतः 'लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरंति', यह वाक्य ऋत्विक्-प्रचरण का बोध कराने के लिए नहीं कहा गया, वरन् 'लाल उष्णीष' का बोध कराने के लिए कहा गया है, यही प्रमाणांतर से अप्राप्त था । इसलिए इस अप्राप्त अंश के बोधन में ही उस विधिवाक्य का तात्पर्य है, और यही इसका विधेयांश है ।[1] 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः', इस तात्पर्यवाचोयुक्ति का यही अर्थ है ।

२—दध्ना जुहोति :—यह वाक्य अग्निहोत्र प्रकरण में प्रयुक्त हुआ है । इसके पूर्व "अग्निहोत्रं जुहोति" कहा जा चुका है । अतः हवन का विधान तो पहले से ही प्राप्त है, केवल करण कारक में वही विधान नवीन है, यह पूर्व से प्राप्त नहीं है, अतः "दध्ना जुहोति" का विधेयांश यही है ।[2] इसलिये जो विधेय है, उसी में तात्पर्य होता है ।[3]

(१०) उपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यं न तु प्रतीतमात्रे—अभी यह कहा गया है कि जो विधेय है, उसी में तात्पर्य होता है । परन्तु तात्पर्य भी वाक्य में प्रयुक्त शब्द के अर्थ में होगा । इसका आशय यह है कि तात्पर्य का वाची शब्द वाक्य में साक्षात् प्रयुक्त होना चाहिये । प्रतीत मात्र होने वाले अर्थ में तात्पर्य नहीं हो सकता । उदाहरण के लिये "पूर्वो धावति" वाक्य लिया जा सकता है, इसमें तात्पर्य "पहले के दौड़ने" में ही है और इस तात्पर्य को प्रकट करने वाले दोनों शब्द वाक्य में उपात्त हैं अतः यह स्पष्ट हुआ कि वाच्य में उपात्त शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य होता है, यथाकथंचित् प्रतीत होने वाले अर्थ में नहीं ।

यदि, वाक्य में अनुपात्त शब्द के अर्थ में तात्पर्य माना जाय तो महद् भ्रांति होने लगेगी । "पूर्वो धावति" में "पूर्वः" शब्द सापेक्ष है, "पूर्वः" के साथ ही "अपरः" की प्रतीति भी होती है । क्योंकि, "अपरः" है तभी तो "पूर्वः" कहा जायगा । अतः "अपरः" की प्रतीति होती है । यदि प्रतीत मात्र होने वाले अर्थ में तात्पर्य होने लगा तो "पूर्वो धावति" का तात्पर्य "अपरो धावति" भी हो

---

१. इत्यत्र लोहितोष्णीषत्वमात्रं विधेयं ।

२. दध्ना जुहोति इत्यादौ दध्यादेः करणत्वमात्रं विधेयम् हवनस्यान्यतः सिद्धेः ।

३. ततश्च यदेव विधेयं तत्रैव तात्पर्यम् ।

सकेगा' जो अनुपयुक्त होगा। अत वाक्य मे उपात्त शब्द के अर्थ मे ही तात्पर्य मानना सगत है।

परन्तु, व्यग्यार्थ को प्रकट करने वाला शब्द वाक्य म उपात्त नही होता, इसलिये व्यग्यार्थ मे तात्पर्य नहीं हो सकता। अत "यत्पर" " आदि शास्त्रवाक्य व्यग्यार्थ के लिये उचित तर्क उपस्थित नही करते।

व्यञ्जनाविरोधी "विष भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्था" यह उदाहरण देक., वाक्य मे अनुपात्त शब्द के अर्थ मे भी तात्पय मानते हैं। इस वाक्य का अर्थ है, "विष खा लो पर इसके घर भोजन मत करो' और इसका तात्पर्य है "इसके घर भोजन नही करना चाहिये।" पर इस अर्थ का वाचक शब्द इस "विष भक्षय "आदि वाक्य मे उपात्त नही है, अत अनुपात्त शब्द के अर्थ मे भी तात्पर्य हो सकता है।

आचार्य मम्मट "विष भक्षय " आदि वाक्य मे भी उपात्त शब्द के अर्थ म ही तात्पर्य सिद्ध करते हैं। "विष भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्था" एक वाक्य है, इसमे जो 'च"—कार है, यह एकवाक्यता-सूचक है। इस वाक्य का तात्पर्य है कि "इसके घर भोजन नही करना चाहिये, यह "मा चास्य गृह भुङ्क्था" इस उपात्त शब्द के अर्थ मे हो है। इस प्रकार "विष भक्षय " आ द वाक्य में भी तात्पर्य उपात्त श द के अर्थ मे ही है, अनुपात्त शब्द के अर्थ मे नही। व्यञ्जनाविरोधी, "विष भक्षय " आदि को एक वाक्य नहीं मानते। उनके अनुसार दो क्रियापदो से युक्त वाक्यो में अगागिभाव नही हो सकता।[२] मम्मट "विष भक्षय " आदि वाक्य को सुहृद्-वाक्य मानते हैं। "विष भक्षय" को स्वतन्त्र वाक्य मानने से इसका अर्थ अनुपपन्न होगा, क्योकि कोई भी मित्र, "विष खा लो" यह कैसे कहेगा? अत "विष भक्षय" और "मा चास्य गृहे भुङ्क्था" मे अगागिभाव होने से, इन दोनो वाक्यो की एकवाक्यता सिद्ध हो जाती है। इसलिए तात्पर्य भी "मा चास्य गृहे भुङ्क्था", इस उपात्त शब्द मे ही कहा जायगा।

भट्ट लोल्लट ने कहा था, जितने भी अर्थ हैं, सभी अभिधा से बोध्य हैं। इसका अन्तिम और अकाट्य उत्तर देते हुए मम्मटाचार्य कहते हैं कि यदि सभी अर्थ

---

१ एव हि "पूर्वो धावति" इत्यादावपरार्थेऽपि क्वचित्तात्पर्यं स्यात्। का० प्र० (आ० वि०) पृ० २३४।

२ न ह्याख्यातवाक्ययोर्द्वयोरगागिभाव। का० प्र० (आ० वि०) पृ० २३६

३ विषभक्षणवाक्यस्य सुहृद्वाक्यत्वेनागता कल्पनीयेति, "विषभक्षणादपि दुष्टमेतद्गृहे भोजनमिति सर्वथा मास्य गृहे भुङ्क्था" इत्युपात्तशब्दार्थे एव तात्पर्यम्। वही

अभिधागम्य हैं, तो मीमांसक लक्षणा भी क्यों मानते हैं, लक्ष्यार्थ[1] की प्रतीति भी दीर्घ-दीर्घतर अभिधा व्यापार से हो ही जायगी तथा "ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः" वाक्य सुनने से उत्पन्न हर्ष और "ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी" वाक्यजनित "शोक" भी वाच्य ही क्यों न मान लिये जायँ ? क्योंकि सभी अर्थ अभिधाजन्य होते हैं। परन्तु, यह उपयुक्त नहीं है। मीमांसाशास्त्र से ही प्रमाण उद्धृत करते हुए आचार्य कहते हैं कि शब्द के अर्थ की प्रतीति में पौर्वापर्य तो मीमांसा में भी माना गया है। यदि सभी प्रतीत्य अर्थ अभिधाबोध्य माने जायँ तो यह पौर्वापर्य सम्भव नहीं होगा। तथा श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या आदि प्रमाणों में जो बलाबल का निर्णय है, वह भी सम्भव नहीं होगा। एक ही वाक्य में यदि एकाधिक प्रमाण प्रयोग की अपेक्षा हो तो पूर्व-पूर्व प्रमाण द्वारा कहे गये अर्थ को सबल और उत्तर-उत्तर प्रमाण को दुर्बल समझना चाहिये। अर्थात् एक ही वाक्य में "श्रुति" प्रमाण एक अर्थ कहता हो और लिंगादि अन्य प्रमाण अन्य अर्थ को, तो श्रुति प्रमाण ही प्रामाणिक माना जायगा। सभी अर्थ अभिधाजन्य मान लेने से, मीमांसाशास्त्र का यह निर्णय ही अप्रामाणिक होगा। इसलिये मीमांसकों के मत में भी "निषेधपरक" वाच्यार्थ से विधिपरक अर्थ की प्रतीति तो व्यंग्य ही माननी होगी।

(११) कतिपय अन्य दृष्टियों से भी व्यंग्यार्थ की वाच्यता का निराकरण—
१. "कुरु रुचिम्"—इन दो पदों का क्रम उलट कर यदि "रुचिं कुरु" लिखा जाय तो इसमें अश्लीलता दोष आ जाता है, क्योंकि तब "चिकु" सुनाई पड़ता है, जो अश्लीलार्थ का वाचक है। पर यह अश्लील अर्थ न तो "रुचि" का वाच्यार्थ है और न "कुरु" का। तब इस अश्लील अर्थ की प्रतीति में किस वृत्ति को माना जाय ? यह अभिधाजन्य तो कहा नहीं जा सकता। इसका होना व्यवहार से सिद्ध है ही, इस प्रकार के प्रयोग काव्य में वर्जनीय भी माने गए हैं। अतः ये अर्थ व्यंग्य ही हैं और इसकी प्रतीति व्यञ्जना से ही मानी जायगी।

२. नित्यानित्यदोषव्यवस्था—काव्यशास्त्र में दो प्रकार के दोष माने गए हैं, नित्य और अनित्य। व्यंग्य-व्यञ्जक भाव स्वीकार करने पर ही यह दोष व्यवस्था सम्भव है। आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार "व्यंग्य-व्यञ्जक भाव को अलग मानने पर व्यञ्जनावृत्ति से द्योत्य भिन्न-भिन्न रसों के अनुकूल अथवा प्रतिकूल होने के आधार पर नित्य-अनित्य दोषों की व्यवस्था बन सकती है,[2] दोष व्यवस्था के प्रसंग को आचार्य मम्मट ने निम्नलिखित शब्दों में कहा है—

---

१. लक्षणीयेऽप्यर्थे दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणैव प्रतीतिसिद्धेः, कस्मात्च लक्षणा ?
वही—पृ० २३७
२. काव्यप्रकाश, (सं० आचार्य विश्वेश्वर), पृ० २४०

यदि वाच्य-वाचक भाव से व्यतिरिक्त, व्यंग्य-व्यञ्जक भाव स्वीकार नहीं किया जाता तो "असाधुत्व" आदि नित्य दोष और 'श्रुतिकटुत्वादि' अनित्य दोष, यह नित्यानित्यदोषविभाजन अनुपपन्न हो जायगा। परन्तु यह विभाजन दिखलाई पड़ता है। वाच्य-वाचक भाव से भिन्न व्यंग्य-व्यञ्जक भाव का आश्रय ग्रहण करने से व्यंग्य के बहुविध होने से कहीं किसी के औचित्य और कहीं अनौचित्य के कारण यह नित्यानित्यदोषविभागव्यवस्था सम्भव होती है।[१]

३ काव्य में एक ही अर्थ के अनेक पर्यायवाची शब्दों में से किसी विशेष का प्रयोग करने से, विशेष चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। इस तथ्य की व्याख्या व्यंग्य-व्यञ्जकभाव माने बिना नहीं हो सकती। वाच्यार्थ की दृष्टि से तो सभी पर्यायवाची समान हैं, अतः विशेष पद के प्रयोग से विशेष चमत्कार नहीं होना चाहिये। परन्तु, विशेष चमत्कार का होना व्यवहार सिद्ध है, इसलिये वाच्य-वाचक भाव से व्यतिरिक्त व्यंग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध मानना ही होगा। निम्नलिखित उदाहरण—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयता
समागमप्रार्थनया कपालिनः ॥

"कपाली (महादेवजी) से समागमेच्छा के कारण अब दोनों (चन्द्रकला और पार्वती) शोचनीय हो गईं।"

यहाँ "कपालिन" प्रयोग से भगवान् शिव की दरिद्रता और बीभत्सता की अभिव्यक्ति होती है, इसीलिये, ऐसे शिव से समागमेच्छा के कारण चन्द्रकला और पार्वती शोचनीय हैं, अर्थ सगत लगता है। यदि "कपालिनः" के स्थान पर "पिनाकी" होता तो यह अर्थसगति ही नहीं होती। वाच्यार्थ की दृष्टि से कपाली और पिनाकी समान हैं, तब इनमें से एक के प्रयोग से ही विशेष चमत्कार सृष्टि, व्यंग्य-व्यञ्जक भाव की प्रामाणिकता सिद्ध करती है। यहाँ "पिनाकी" की अपेक्षा "कपाली" में काव्यानुगुणत्व अधिक है।

१-२१ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की भिन्नता के अन्य प्रमाण—(१) वाच्यार्थ सभी श्रोताओं (प्रतिपत्तृन्) के लिए एक रूप होता है, अतः उसका स्वरूप भी निश्चित होता है। "गतोऽस्तमर्कः" (सूर्य अस्त हो गया) वाक्य का वाच्यार्थ

---

१ वाच्यवाचकभावव्यतिरेकेण व्यंग्यव्यञ्जकताश्रयणे तु व्यंग्यस्य बहुविधत्वात्, क्वचिदेव कस्यचिदेवौचित्येनोपपद्यते एव विभागव्यवस्था।

—वही पृ० २४१

निश्चित है, पर इसी वाक्य का व्यंग्यार्थ प्रकरण विशेष के वक्ता, श्रोता आदि की भिन्नता के कारण अनेक रूप हो जाता है।[1]

(२) स्वरूपगत भेद—वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में स्वरूपगत भेद भी है। कहीं वाच्यार्थ विधिपरक होता है और व्यंग्यार्थ निषेधपरक, कहीं इसके विपरीत स्थिति होती है। "निःशेषच्युत..." आदि श्लोकों में वाच्यार्थ निषेधपरक है कि "दूती नायक के पास नहीं गई" परन्तु व्यंग्यार्थ विध्यर्थक है कि "दूती उस अधम नायक के पास अवश्य गई है।"

(३) कालगत भेद—वाच्यार्थ की प्रतीति के पश्चात् व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने से इनमें कालगत भेद भी है।[2]

(४) आश्रय भेद—वाच्यार्थ मात्र शब्दाश्रित है, परन्तु व्यंग्यार्थ, शब्द, उसके अंश, अर्थ, वर्ण, वर्ण-संघटना आदि पर भी आश्रित रह सकता है।

(५) निमित्त भेद—वाच्यार्थज्ञान का निमित्त शब्दानुशासन ज्ञान है, व्यंग्यार्थ प्रतीति में प्रकरणादि की सहायता, प्रतिभा की नैर्मल्य (सहृदयत्व) आदि अनेक निमित्त हैं।

(६) वाच्यार्थ का ज्ञाता मात्र बोद्धा—कहा जाता है, व्यंग्यार्थ का ज्ञाता "विदग्ध" है।

(७) कार्य भेद—वाच्यार्थ केवल प्रतीति कराता है, व्यंग्यार्थ चमत्कृति का जनक है (प्रतीतिमात्रचमत्कृत्योश्च)।

(८) संख्या भेद—वाच्यार्थ एकरूप होता है, व्यंग्यार्थ अनेक रूप।

(९) विषयगत भेद—कभी-कभी, कथन के वाच्यार्थ का विषय कोई होता है और व्यंग्यार्थ का विषय कोई अन्य ही, जैसे इस श्लोक में—

कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्,
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥

---

१. प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरणवक्तृप्रतिपत्त्रादिविशेषसहायतया नानात्वं भजते
काo प्रo, (आo विo) पृo २४२

२. निःशेषच्युतचंदनस्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो—
नेत्रे दूरमनंजने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बांधवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमिति गतासि न पुनस्तस्याधमस्यांतिकम् ॥

३. पूर्वपश्चाद् भावेन प्रतीतेः कालस्य।

एक सखी अपनी दुष्टा सखी से कह रही है—

"किसे (अपनी) प्रिया के सव्रण अधर देख कर रोष नही होगा, मना करने पर भी भ्रमर सहित पद्म सूँघने वाली, अब सहो।"

वस्तुत दुष्टा स्त्री के अधर पर परपुरुषोपभोगजनित दतक्षत है, इसे देखकर पति रुष्ट होगा, अत पति के रोष से बचाने के लिए सखी यह श्लोक कह रही है। पति कहीं पास ही है, पर सखी ऐसा बहाना कर रही है मानो उसे पति की उपस्थिति ज्ञात नहीं है। वास्तव मे वह पति को ही सुना रही है कि तुम्हारी स्त्री के अधर पर भ्रमरदशजन्य क्षत है, परपुरुषजन्य नहीं। यहाँ, वाच्यार्थ का विषय दुष्टा स्त्री है और व्यग्यार्थ का विषय पति। वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ मे इतन भेद हैं, फिर भी कोई इन्हें एक ही कहे तो वह नीले और पीले रग को एक मानने के समान होगा।[1]

अत व्यग्यार्थ, वाच्य से सर्वथा भिन्न है और उसकी प्रतीति के लिये व्यञ्जना माननी होगी।

व्यग्यार्थ, तात्पर्यार्थ से भी भिन्न है। गुणीभूत व्यग्य के असुन्दर नामक भेद के उदाहरण—

वाणीरकुञ्जोड्डीन शकुनिकुलकोलाहल शृण्वत्या।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वा सीदन्त्यगानि॥

मे "सकेत देने वाला नायक कुञ्ज मे प्रविष्ट हो गया।", यह व्यग्यार्थ है। परन्तु, इसकी प्रतीति कराकर भी वाच्यार्थ अपने ही स्वरूप मे विश्रान्त होता है। यहाँ व्यग्यार्थ अतात्पर्यविषयीभूत अर्थ है। वह किसी शब्द से अभिहित न होकर प्रतीत मात्र हो रहा है, यह प्रतीति भला किस व्यापार का आश्रय लेकर हो रही है।[2]

अत व्यग्यार्थ वाच्यार्थ, तात्पर्यविषयीभूत अर्थादि से भिन्न ही है और इस व्यग्यार्थ की प्रतीति व्यञ्जना नामक व्यापार से ही सम्भव है। इस प्रकार व्यग्यार्थ के वाच्यार्थ से भिन्न सिद्ध होने पर व्यञ्जनाविरोध उसे लक्ष्यार्थ मे अन्तर्भावित करना चाहते हैं। इसलिये मम्मटाचार्य ने व्यग्यार्थ की लक्षणागम्यता का भी निषेध किया है।

१ २२ व्यञ्जना की लक्षणागम्यता का निषेध

(१) पूर्वपक्ष – व्यञ्जनावादियो ने कहा है कि "प्रतीयमानस्तु नानात्व भजते" अर्थात् प्रतीयमान अर्थ अनवरूप होता है। व्यञ्जना को, लक्षणा मे और व्यग्यार्थ

---

१ भेदेऽपि यद्येकत्व, तत्क्वचिदपि नीलपीतादौ भेदो न स्यात्। का० प्र०, (आ० वि०) पृ० २४४

२ कस्य व्यापारस्य विषयतामवलबतामिति। वही पृ० २४६

को लक्ष्यार्थ में अन्तर्भावित करने वाले व्यञ्जनाविरोधी लक्षणीय अर्थ को भी अनेक रूप वाला मानते हैं। अपनी इस मान्यता के प्रमाणस्वरूप "कामं संतु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्व सहे" तथा "रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्" आदि उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इन उदाहरणों में "राम" शब्द का वाच्यार्थ दशरथपुत्र राम ही है परन्तु लक्ष्यार्थ दोनों उदाहरणों में क्रमशः अतीव दुःखसहिष्णु राम तथा निष्करुणराम है। अतः (१) लक्ष्यार्थ भी अनेक रूप वाला होता है (लक्षणीयोऽप्यर्थो नानात्वं भजते)। (२) विशेष व्यपदेश का हेतु है (विशेषव्यपदेशहेतुश्च भवति)। (३) शब्द और अर्थ दोनों से उसका अवगम होता है (तदवगमश्च शब्दार्थायत्तः)। (४) प्रकरणादि विमर्श की भी अपेक्षा होती है (प्रकरणादिसव्यपेक्षश्चेति)। इस प्रकार व्यञ्जनावादी ने जो विशेषताएँ व्यंग्यार्थ में मानी हैं, वे सभी लक्ष्यार्थ में भी हैं, अतः व्यंग्यार्थ का अन्तर्भाव लक्ष्यार्थ में ही हो जाता है, तब यह नूतन प्रतीयमान नाम से कहा जाने वाला क्या है (कोऽयं नूतनः प्रतीयमानो नाम)?

(२) उत्तरपक्ष—व्यञ्जनाविरोधियों के उपर्युक्त तर्कों का आचार्य मम्मट ने युक्तिसंगत खण्डन किया है।

१. यह ठीक है कि लक्षणीय नानात्व को धारण करता है, तब भी लक्ष्यार्थ अनेकार्थक शब्द के अभिधेयार्थ के सदृश नियतरूप वाला ही है (अनेकार्थशब्दाभिधेयवन्नियतत्वमेव)। मुख्य अर्थ से असम्बन्धित अर्थ लक्षणा द्वारा नहीं लक्षित होते (न खलु मुख्येनार्थेनानियतसम्बन्धी लक्षयितुं शक्यते)। इसलिये लक्ष्यार्थ यद्यपि अनेक रूप होता है, तथापि वे सभी अर्थ निश्चित रूप से मुख्यार्थ से ही सम्बन्धित होंगे। मुख्यार्थ से योग (तद्योगे) की शर्त उसमें अनिवार्य है।

परन्तु, प्रतीयमान अर्थ कहीं प्रकरणादि के कारण मुख्यार्थ से नियतसम्बन्धस्वरूप वाला होता है। जैसे "श्वश्रूरत्र निमज्जति ⋯[१] आदि श्लोक में मुख्यार्थ और व्यंग्यार्थ में नियत सम्बन्ध है। क्योंकि, मुख्यार्थ में खाट पर गिरने का निषेध है, व्यंग्यार्थ में आमन्त्रण है, अतः मुख्यार्थ और व्यंग्यार्थ में विरोध सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध प्रसिद्ध है। कुछ लोगों के अनुसार मुख्यार्थ और व्यंग्यार्थ का विषय एक होने पर नियत सम्बन्ध होता है। इस दृष्टि से भी यह श्लोक नियत सम्बन्ध का उदाहरण है, क्योंकि यहाँ मुख्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों का विषय पथिक ही है।

---

१. श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय।
मा पथिक राश्र्यन्धशय्यायां मम निमंक्ष्यसि॥

कहीं प्रतीयमानार्थ अनियत सम्बन्ध स्वरूप होता है। जैसे "कस्य[1] वा न आदि श्लोक मे वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में कोई सम्बन्ध नहीं है। इनके विषय भी पृथक्-पृथक् हैं। वाच्यार्थ का विषय सखी है और व्यंग्यार्थ का विषय पति। अत यहाँ प्रतीयमानार्थ मुख्यार्थ के साथ अनियत सम्बन्ध वाला है।

प्रतीयमानार्थ मुख्यार्थ, के साथ परम्परित सम्बन्ध वाला भी हो सकता है। जैसे "विपरीतरते[2] ·" आदि श्लोक मे। इस श्लोक का अर्थ है—विपरीत रति के समय, नाभिकमल में स्थित ब्रह्मा को देखकर, रसाकुला लक्ष्मी हरि के दक्षिण नेत्र को ढँक देती है।

परम्परा मे यह प्रसिद्ध है कि हरि का दक्षिण नेत्र सूर्य है, अत लक्ष्मी उसे ढँकती है, सूर्य के ढँकने से नाभि कमल भी सकुचित हो जायगा और ब्रह्मा उसमे बन्द होने से लक्ष्मीजी की रतिक्रीडा न देख पाएँगे। मुख्यार्थ के साथ यह व्यंग्यार्थ परम्परा से प्राप्त रुढि के कारण है। आचार्य मम्मट की शैली मे इसे देखें—

> इत्यादौ सम्बद्धसम्बन्ध। अत्र हि हरिपदेन दक्षिण-
> नयनस्य सूर्यात्मकता व्यज्यते। तन्निमीलनेन, सूर्यास्तमय
> तेन पद्मस्य सकोच ततो ब्रह्मण स्थगन, तत्र सति गोप्या-
> ङ्गस्यादर्शनेन अनियन्त्रण निधुवनविलसितमिति।[3]

अत लक्ष्यार्थ की अनेकविषयता मुख्यार्थ से बँधी है, पर व्यंग्यार्थ का नानात्व तो स्वतन्त्र है और भी, लक्ष्यार्थ मे मुख्यार्थबाधादि अनिवार्य है, परन्तु "श्वश्रूरत्र · आदि श्लोक मे मुख्यार्थ बाधा हुए बिना हो व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। जैसे अभिधा सकेतग्रह की अपेक्षा करती है (समयव्यपेक्षा) वैसे ही लक्षणा को मुख्यार्थ बाधादि तीन शर्तों की अपेक्षा है।[4] इसीलिये लक्षणा को अभिधा की पुच्छभूता कहते हैं।[5] इसके अतिरिक्त भी लक्ष्यार्थ मे व्यंग्यार्थ को पृथक् सिद्ध करने वाले तथ्य निम्नलिखित हैं—

१—लक्षणा के पश्चात् व्यंग्यार्थ की प्रतीति देखी जाती है (तदनुगमनेन तस्य दर्शनात्)।

---

१ कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियाया सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम्॥

२ विपरीतरते लक्ष्मी ब्रह्माण दृष्ट्वा नाभिकमलस्थम्।
हरेर्दक्षिणनयन रसाकुला झटिति स्थगयति॥

३ काव्यप्रकाश, (ज्ञा० वि०) पृ० २५२

४ तथा मुख्यार्थबाधादित्रयसमर्थविशेषसव्यपेक्षा लक्षणा। —वही पृ० २५१

५ अतएवाभिधापुच्छभूता सेत्याहु। · · —वही

२—लक्षणा के बिना भी केवल अभिधा के आश्रय से भी व्यञ्जना होती है।

३—व्यञ्जना, अभिधा और लक्षणा दोनों की अनुसारिणी नहीं है (न चोभया-नुसार्येव)। क्योंकि अवाचक वर्णों के द्वारा भी व्यञ्जना देखी जाती है।

४—व्यंजना शब्द पर ही निर्भर नहीं है अशब्दात्मक कटाक्षादि में भी वह प्रसिद्ध है (न च शब्दानुसार्येव अशब्दात्मकनेत्रविभागावलोकनादिगतत्वेनापि तस्य प्रसिद्धेः) लेकिन अभिधा और लक्षणा तो शब्दानुसारिणी है।

अतः व्यंग्यार्थ लक्ष्यार्थ से सर्वथा भिन्न है। इसलिये अभिधा, तात्पर्य और लक्षणात्मक व्यापारों के पश्चात् होने वाले, ध्वनन आदि पर्यायों से प्रसिद्ध व्यंजना व्यापार अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

१-२३ वेदांतियों का अखंडार्थतावाद और व्यंजना

वेदांती, पदार्थ-संसर्ग-बोधरूप वाक्यार्थ के अतिरिक्त ऐसे भी वाक्य मानते हैं, जो पदार्थ संसर्ग बोध उत्पन्न नहीं करते। इस प्रकार के वाक्यों को वे अखंडवाक्य कहते हैं। *लक्षणवाक्य, मुख्यतः इस अखंड वाक्य कोटि में आते हैं।* ये वाक्य स्वरूप मात्र का बोध कराते हैं। समस्त लक्षणपरक वाक्य "संसर्गगोचरप्रमिति" के जनक होने से "अखंडार्थवाक्य" कहलाते हैं। "तत्त्वमसि", "सोऽयं देवदत्तः" आदि वेदांतियों के ऐसे ही अखंडवाक्य हैं। अखंडार्थवाक्यविषयक एक अन्य धारणा भी है। क्रिया-कारक ज्ञान से उत्पन्न होने वाले शब्दबोध को सखंडबोध कहा जाता है, क्योंकि वाक्य को क्रिया कारकादि में विभक्त किया गया है। इसके विपरीत ऐसे वाक्य जिसमें क्रिया कारकादि का विभाजन न हो सके अखंडवाक्य कहलाते हैं।

वेदांत में ब्रह्म मात्र सत्य है, शेष मिथ्या। अतः वेदांतानुसार धर्म-धर्मि-भाव, क्रिया-कारक-भावादि सब मिथ्या हैं, यह पारमार्थिक दृष्टि से है। व्यावहारिक दृष्टि से वेदांती संसार को सत्य मानते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से ही अभिधा और लक्षणा भी मानते हैं, "तत्त्वमसि" महावाक्य की अर्थप्रतीति के लिये वेदांती लक्षणा के जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था, ये दो ही नहीं, एक तृतीय भेद और "जहदजहल्लक्षणा" भी मानते है।

उपरिकथित अखंडवाक्यों से अखंड बुद्धि ही उत्पन्न होती है, इस अखंड बुद्धि से निग्राह्य ब्रह्म उन अखंड वाक्यों का वाच्यार्थ होता है और वाक्य उसका वाचक, यह वेदांतियों का मत है।

आचार्य मम्मट कहते हैं कि जहाँ तक पारमार्थिक दृष्टि का प्रश्न है, ठीक है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से तो वेदांती भी वाक्य में पद-पदार्थ मानेंगे। इस स्थिति में "निःशेषच्युत....." आदि श्लोकों में निषेध वाक्य से जो विधिपरक अर्थ की प्रतीति होती है, उसे व्यंजना का ही विषय मानना होगा। जब, वेदांती व्यावहारिक दशा में

अभिधा और लक्षणा मानते हैं, तब पद-पदार्थ और अर्थ में विभिन्न रूप भी स्वीकार करने चाहिये। अत निषेधपरक वाक्यों से जो विध्यर्थक प्रतीति है, उसे भी मानना होगा। इनकी प्रतीति अभिधा, लक्षणा से हो नही सकती, अत इनकी प्रतीति के लिये व्यञ्जना माननी ही होगी। वेदान्तियो की व्यावहारिक दशा मे ऐसे अर्थ भी सत्य हैं, तब इनकी प्रतीति कराने वाली व्यञ्जना भी सत्य है।

"अखण्डबुद्धि से गृहीत (अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्य) वाक्यार्थ ही वाच्य है (वाक्यार्थ एव वाच्य) अखण्ड वाक्य (वाक्यम्) ही उसका वाचक (वाचकम्) है।" जो वेदाती उपर्युक्त मान्यता रखते हैं, ऐसा कहते हैं (येऽप्याहु), वे भी अभिधा की स्थिति में (तैरप्यविद्यापदपतिते), पद-पदार्थ कल्पना करते ही हैं। अत उनके पक्ष मे भी (तत्पक्षेऽपि) उक्त उदाहरण मे विधिपरक अर्थ (विध्यादि) अवश्य ही (अवश्यमेव) व्यग्य है।"[1]

वेदांतियो के इस मत के साथ आचार्य मम्मट ने वैयाकरणो के अखण्डवाक्यार्थतावाद में भी व्यञ्जना का अवसर प्रतिपादित कर दिया है। वैयाकरण, पदार्थों का समष्टिरूप वाक्यार्थ मानते हैं। पृथक्-पृथक् पदो का कोई अर्थ नही होता। व्याकरण मे जो पद-प्रकृति प्रत्यय भेद है, वह बाल-बुद्धियालो के लिए है। पद-प्रकृति-भेद-मार्ग असत्य है, पर यह सत्य तक पहुँचने के लिए आवश्यक है। जैसे वेदांती व्यावहारिक दृष्टि से ससार को सत्य मानते हैं वैसे ही व्यावहारिक दृष्टि से वैयाकरणो का पद-प्रकृति-विभाजन भी सत्य है, वस्तुत वेदाती और वैयाकरण दोनों ही अखण्डार्थवादी हैं।

१ २४ नैयायिक महिमभट्ट और व्यञ्जना

महिम भट्ट आलकारिको के व्यंग्यार्थ को अनुमान प्रक्रियालभ्य अर्थ मानते हैं। शब्द और अर्थ मे सम्बन्ध है, इसीलिए यह भी स्वीकार करना होगा कि शब्द से असबद्ध अर्थ की प्रतीति नही होती। यदि शब्द मे असबद्ध अर्थ की प्रतीति मानी जाने लगी तो जिस किसी शब्द से जिस किसी भी अर्थ की प्रतीति का अवसर उत्पन्न होने लगेगा। अत शब्द और अर्थ मे एक निश्चित भाव सम्बन्धी मानना होगा। इस सम्बन्ध के व्याप्ति रूप होने के कारण और अर्थ के शब्द रूप पक्ष मे रहने से, पक्ष में रहने की शर्त पूर्ण होने के कारण, व्यञ्जना का अन्तर्भाव अनुमान प्रक्रिया मे हो जाता है। महिमभट्ट के इस पक्ष को काव्यप्रकाशकार ने इस प्रकार उद्धृत किया है—

---

१ अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्य, वाक्यमेव च वाचकम्, इति येऽप्याहु तैरप्यविद्यापदपतितै पदपदार्थकल्पना कर्तव्यैवेति तत्पक्षेऽपि अवश्यमुक्तोदाहरणादौ विध्यादिर्व्यंग्य एव।

—काव्यप्रकाश, (आ० वि०) पृ० २५७

"व्याप्तियुक्त (व्याप्तिन्वेन) और नियतधर्मी अर्थात् पक्ष में रहने के कारण (नियतधर्मिनिष्ठत्वेन) तीन रूपों वाले लिंग से लिंगी का जो अनुमान है, उसी में व्यञ्जना का भी पर्यवसान हो जाता है।"[1]

न्याय अनुमोदित अनुमान प्रक्रिया के हेतु (लिंग) में "पक्षसत्त्वत्व", "सपक्ष-सत्त्वत्व" और "विपक्षव्यावृत्तत्व" ये तीन विशेषताएँ अपरिहार्य हैं। "पक्ष" वह है जिसमें साध्य संदिग्ध होता है,[2] जैसे "पर्वतो वह्निमान्" उदाहरण में पर्वत पक्ष है क्योंकि उसी में "साध्य अग्नि" की स्थिति सिद्ध करनी है। अतः हेतु को पक्ष में रहना चाहिये। सपक्ष वह है जिसमें "साध्य" की स्थिति निश्चित हो।[3] "पर्वतो वह्निमान्" के प्रसंग में महानस पक्ष है जिसमें साध्य का अभाव निश्चित हो वह "विपक्ष"[4] कहलाता है। इसी उद्धरण वाक्य के प्रसंग में "सरोवर" विपक्ष है, क्योंकि उसमें साध्य "अग्नि" का असंदिग्ध अभाव है। ये तीन – "पक्षसत्त्व", "सपक्षसत्त्व" और विपक्षव्यावृत्ति" अर्थात् पक्ष में स्थिति और विपक्ष में स्थिति का अभाव, हेतु के गुण हैं। इसीलिए महिमभट्ट ने त्रिरूप वाले लिंग से होने वाला "अनुमान" कहा है। अनुमान प्रक्रिया की दो और अपेक्षाएँ हैं, व्याप्ति और पक्ष-धर्मता।[5] स्वाभाविक सम्बन्ध को व्याप्ति[6] कहते हैं. और पक्षधर्मता का अर्थ है हेतु का पक्ष में रहना। इस प्रकार की अनुमान-प्रक्रिया में महिमभट्ट ने व्यञ्जना का पर्यवसान माना है। महिमभट्ट के अनुसार 'भ्रम धार्मिक[7]...' आदि श्लोक में अनुमान प्रक्रिया इस प्रकार होगी—

गृह में श्वान के न रहने से विहित भ्रमण[8] (अत्र गृहे श्वनिवृत्त्या भ्रमण विहितं) गोदावरी तीर पर उपलब्ध सिंह के कारण अभ्रमण का अनुमान कराता है (गोदावरी-तीरे सिंहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति)। क्योंकि जो-जो स्थान भीरु भ्रमण के योग्य है वे भय-कारण निवृत्ति की उपलब्धि-पूर्वक हैं (यद् यद् भीरु भ्रमणं तत्तद्भयकारण-निवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम्)। गोदावरी तीर पर सिंहोपलब्धि है (गोदावरीतीरे च

१. काव्यप्रकाश, (आ० वि०) पृ० २५८
२. संदिग्धसाध्यवान् पक्षः। तर्कभाषा; पृ० ८६
३. निश्चितसाध्यवान् सपक्षः। वही; पृ० ८६.
४. निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः। वही; पृ० ८६
५. वही; पृ० ८८
६. वही; पृ० ७२
७. भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स श्वाद्य मारितस्तेन।
   गोदावरीकच्छकुंजवासिना दृप्तसिंहेन।
८. काव्यप्रकाश, (आ० वि०) पृ० २६०

सिंहोपलब्धिरिति)। यह विरुद्ध प्रतीति कराती है (व्यापक विरुद्धोपलब्धि), इसका आशय यह है कि भयकारण के अभाव की उपलब्धि भ्रमण को विहित करती है, पर यहाँ सिंह की उपलब्धि है, यह भयकारण के अभाव के विरुद्ध है, अत अभ्रमण का अनुमान होता है। अनुमान की पचावयव प्रक्रिया म इसे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

१—प्रतिज्ञा—गोदावरीतीर भीरुभ्रमणायोग्य।

२—हेतु—भयकारणसिंहोपलब्धे।

३—व्यतिरेक व्याप्ति और उदाहरण-यद्यद् भीरुभ्रमणयोग्य तत्तद्भयकारणाभाववद् यथा गृहम्।

४—उपनय—न चेद तीर यथा भयकारणाभाववद् भयकारणसिंहोपलब्धे।

५—निगमन—तस्मात् भीरुभ्रमणायोग्य।

इस प्रकार अन्य उदाहरणो मे भी महिमभट्ट न व्यग्यार्थ को अनुमान प्रक्रिया से निष्पन्न सिद्ध किया है।

उपर्युक्त अनुमान प्रक्रिया म हेतु 'भयकारणसिंहोपलब्धि" है। इस आचार्य मम्मट ने हेत्वाभास सिद्ध किया है। जो हेतु अपने आश्रय मे ही न पाया जाय उसे स्वरूपासिद्ध[1] हेत्वाभास कहते हैं। इस उदाहरण में सिंह की उपस्थिति किसने देखी है, स्वय पडिता न तो सिंह देखा नहीं। अत प्रत्यक्ष से अथवा अनुमान से सिंह का सद्भाव निश्चित नही होता, केवल उस दुष्टा के वचनो से ज्ञात होता है। परन्तु वचन से जिस अर्थ की प्रतीति हो, वह अर्थ अवश्य होना चाहिए इसका कोई प्रामाण्य नही है। मम्मटाचार्य के शब्दो मे, 'अर्थ के साथ वचन का प्रतिबन्ध न होने से, वचन का प्रामाण्य नहीं है। (अर्थेनाप्रतिबन्धा- यसिद्धश्च न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति)।' अत सिंह (हेतु) की उपस्थिति, वन (आश्रय) मे सिद्ध न होने स यह 'हेतु' नहीं, स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है।

और यह हेतु अनैकान्तिक भी है। जो हेतु विपक्ष मे भी पाया जाय वह अनैकान्तिक है। गुरु की आज्ञा, प्रभु की आज्ञा अथवा प्रिया के कारण भीरु व्यक्ति भी ऐसे स्थानो पर गमन करता देखा जाता है। जहाँ भय का कारण हो, युद्ध क्षेत्र में भीरु भी जाते ही हैं। इसलिये जहाँ-जहाँ भय का कारण हो वहाँ-वहाँ भीरु नही जाता, यह व्याप्ति नहीं बनती। इसलिये यह अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

यह हेतु विरुद्ध भी है क्योंकि कुत्ते स डरने वाला व्यक्ति सिंह से भी डरे यह आवश्यक नहीं है। तब इस प्रकार के हेतु से स ध्यसिद्धि कैसे सम्भव है।[2]

---

१ यो हेतुराश्रये नावगम्यते स स्वरूपासिद्ध तर्कभाषा, पृ० ६१

२ तत्कथमेवंविधाद्धेतो साध्यसिद्धि। काव्यप्रकाश, (आ० वि०) पृ० २६१।

इसी प्रकार "निःशेषच्युत···" उदाहरण में "चन्दन न छूटने" को अनुमापक अथवा हेतु कहा है। पर चन्दन छूटने का कारण तो सम्भोग से भिन्न भी हो सकता है, श्लोक में ही इसका कारण "स्नान" कहा है, "स्तनों का चन्दन छूटने" की प्रतिबद्धता सम्भोग से ही नहीं है; अतः वहाँ भी हेतु अनैकांतिक है।

व्यञ्जनावादी श्लोक में प्रयुक्त (न पुनः तस्याधमस्यांतिकम्) "अधम" पद की सहायता से "निःशेषच्युतचन्दनस्तनतटं" आदि की व्यञ्जकता प्रतिपादित करते हैं। और अनुमानवादी यदि यह कहे कि "अधम" पद से ही अनुमान भी होता है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि "अधमत्व" का क्या प्रमाण है, वह न तो प्रत्यक्ष से सिद्ध है न अनुमान से। केवल वचन से उसकी प्रतीति होती है और वचन का कोई प्रामाण्य नहीं यह पहले ही कहा जा चुका है। इसलिये "अधम" पद की सहायता से अनुमान नहीं हो सकता।

पर व्यञ्जनावादी की व्यञ्जना में व्याप्ति की अपेक्षा नहीं है अतः "अधम" पद व्यञ्जना में सहायक हो सकता है, है भी। व्यञ्जना के द्वारा इस प्रकार के अर्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, इस प्रक्रिया में कोई दोष नहीं है—वरन् यह व्यञ्जना और तज्जन्य व्यंग्यार्थ की विशेषता ही है।

कविराज विश्वनाथ ने भी रस भावादि की प्रतीति हेतु अनुमान से भिन्न और अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्यवृत्ति से व्यतिरिक्त चतुर्थवृत्ति व्यञ्जना को स्वीकार किया है—"सा चेयं व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते बुधैः" पंडितराज जगन्नाथ भी न केवल व्यञ्जना और ध्वनि के पक्षधर हैं, जहाँ उनका प्राचीन आचार्यों की मान्यता से मतभेद है, वहाँ भी उन्होंने शालीनतापूर्वक पूर्वमतों को उद्धृत कर स्वमत की स्थापना की है।[1]

---

१. विश्वनाथ और पंडितराज के व्यञ्जना विवेचन के लिए द्रष्टव्य है—
"व्यञ्जनावृत्ति : सिद्धि और परम्परा" ले० डा० कृष्ण कुमार शर्मा

अध्याय द्वितीय

रस ध्वनि का स्वरूप

२-१ रससिद्धान्त बनाम ध्वनिसिद्धान्त—नई कविता के रचयिता और आलोचकों ने कहा है—"नई कविता में रस का सिद्धान्त मान्य नहीं है नई कविता का लक्ष्य रसानुभूति कराना नहीं है। इन और इन जैसे अनेक कथनों द्वारा रससिद्धान्त और रसानुभूति का निषेध किया गया तथा एक सिरे से भारत के परम्परागत काव्यशास्त्र को ही अनुपयोगी ठहराने का प्रयत्न सामने आया। एक ओर यह स्थिति है, दूसरी ओर "रससिद्धान्त" और 'रससिद्धान्त : स्वरूप और विश्लेषण'" जैसे ग्रन्थों में निष्कर्षतः कहा जा रहा है—'रससिद्धान्त काव्य का सार्वभौम सिद्धान्त है : यह मानव को उसकी देह और आत्मा, शक्ति और सीमा तथा समस्त राग-द्वेष के साथ स्वीकार करता है, रससिद्धान्त से अधिक प्रामाणिक सिद्धान्त की प्रकल्पना भी नहीं की जा सकती'।[1] इतना ही नहीं रससिद्धान्त को 'मानवतावादी सिद्धान्त' भी कहा गया।[2] परन्तु यह ध्यातव्य है कि जिस रससिद्धान्त का प्रशंसन उपर्युक्त पंक्तियों में सुधी विद्वानों ने किया है उसे भारत के परम्परागत रससूत्र-प्रतिपादित रससिद्धान्त से व्यापक माना है। तब नई कविता के रचयिताओं और आलोचकों—जो यह दावा भी करते हैं कि नई कविता वस्तुतः मानवता की कविता है—के कथनों में 'मानवतावादी रससिद्धान्त' का विरोध क्या है? परीक्षणीय यह है कि परम्परागत रस सिद्धान्त काव्य के सन्दर्भ में कितना उपयोगी है तथा आधुनिक रससिद्धान्त विषयक ग्रन्थों में प्रतिपादित उसका रूप कितना मौलिक? अब यह विवादास्पद नहीं है कि भरत का मूल रससूत्र एकान्ततः नाटक के लिए ही था। "तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" सूत्र का अर्थ है—वहाँ (रंगमंच पर) विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। इस अर्थ में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। कालान्तर में भट्ट लोल्लट शंकुक, आनन्दवर्धन, भट्टनायक और अभिनवगुप्त ने इस सूत्र की व्याख्या की। इनमें से प्रथम दो आचार्यों—भट्ट लोल्लट और शंकुक—ने इस सूत्र को नाट्य सन्दर्भ में ही देखा। ध्वन्यालोक ग्रन्थ

---

१ डा० नगेन्द्र, रस सिद्धान्त, पृ० २६३

२ डा० आ० प्र० दीक्षित, रस-सिद्धान्त : स्वरूप और विश्लेषण पृ० ४२६

की लोचन टीका में अभिनव ने शंकुक[1] के मत को उद्धृत किया है, उससे स्पष्ट होता है कि शंकुक के अनुसार नाट्य से आस्वादन होने के कारण वे इसे नाट्य-रस कहने के पक्षधर थे। अभिनवभारती में भी शंकुक का मत दिया गया है। लोल्लट और शंकुक दोनों की व्याख्या में रस व्यवहार्य ही रहा, अभी उसे "अलौकिक चमत्कार प्राण" आदि विशेषण नहीं मिले थे। "लोकातीत" केवल इसलिए कहा गया कि सम्यक्, मिथ्या, संशय और साहृश्य प्रतीतियों से इसका पार्थक्य प्रतिपादित किया जा सके।

यद्यपि शंकुक के पश्चात् आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम रस की काव्य के सन्दर्भ में व्याख्या की है—वही इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य भी है—तथापि रस-सूत्र के व्याख्याता के रूप में भट्टनायक का ही नाम लिया जाता है। काल-क्रम से भट्टनायक आनन्दवर्धन के बाद में हुए हैं। भट्टनायक ही वे प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्यानन्द की तुलना परब्रह्म के आस्वाद[2] से की है। मम्मट ने भट्टनायक के मत को तथावत् ही उद्धृत किया है। इस प्रकार भट्टनायक के द्वारा काव्य-रस के स्वरूप में अलौकिकत्व का प्रवेश हुआ। अभिनव ने रस-निष्पत्ति के विषय में भट्टनायक के मत का खंडन करते हुए भी, रस-स्वरूप के सन्दर्भ में उनकी शब्दावली को ग्रहण किया, रसास्वाद को परब्रह्मास्वाद के सदृश कहा।

२-२ अभिनवगुप्त शैव थे, उन्होंने शैवाद्वैत में प्रतिपादित आनन्द के आधार पर रसास्वाद की व्याख्या की और आस्वादन की स्थिति में आस्वादेतर की कल्पना को अग्राह्य मानते हुए रस को आस्वाद से अभिन्न कहा। क्योंकि रस की प्रतीति उसके आस्वादन में है, आस्वाद के समय रस का यदि कोई स्वरूप हो सकता है तो आस्वादमूलक ही, उससे भिन्न नहीं। इस प्रकार "रस", जो मूलतः पदार्थरूप[3] था—आस्वादरूप, आत्मास्वादरूप हो गया। अभिनव की व्याख्या में मुझे दो स्तर दिखलाई पड़ते हैं। प्रथम स्तर वह है जहाँ आनन्दवर्धन के मत को पुष्ट करते हुए वे, "तत्काव्यार्थो रसः" कहते हैं तथा इसी प्रकार का व्यवहार्य विवेचन प्रस्तुत करते हैं। द्वितीय स्तर वह है जहाँ वे काव्यास्वाद के आनन्द को शैवाद्वैत में प्रतिपादित आनन्द के आधार पर स्पष्ट करते हुए रस को आस्वादरूप कहते हैं। अभिनव के पश्चात् अधिकांश आचार्यों ने रसास्वाद को इसी रूप में प्रस्तुत किया।

---

१. "स एव लोकातीततदास्वादापरसंज्ञया प्रतीत्या रस्यमानो रस इति नाट्याद्-रसा नाट्यरसाः"
२. "सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति"
३. "रस इति यः पदार्थः" नाट्यशास्त्र, अध्याय ६

कविराज विश्वनाथ ने रसास्वाद का जो स्वरूप कहा है—उसमे 'ब्रह्मास्वादसहोदर,' 'लोकोत्तरचमत्कारप्राण' 'स्वप्रकाशानन्दचिन्मय' आदि विशेषण अभिनव के प्रभाव को स्पष्ट करते हैं।[1] इसमे सदेह नहीं कि अभिनव ने नाट्यशास्त्र और ध्वन्यालोक की टीका रचकर, इन ग्रन्थो की अनेक गूढताओ को स्पष्ट किया। "रस" के आस्वादन को दृढ दार्शनिक भूमि प्रदान की। परन्तु यह कहने मे कोई सकोच नहीं है कि भारतीय काव्यशास्त्र की शब्द और अर्थ जैसी मूलभूत इकाइयो पर आधृत चिन्तन-परम्परा को अभिनव ने दार्शनिक रग मे रग कर, काव्यास्वाद को आत्मास्वाद कह कर, उसे व्यवहार्य न रहने दिया। पडितराज जगन्नाथ ने पुन काव्य-परिभाषा को यथार्थ से जोडा। उन्होंने रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा। तब भी, सस्कृत काव्यशास्त्र मे रस की चर्चा चलती रही। इस महत् चर्चा का परिणाम यह हुआ कि काव्य का व्यावहारिक चिन्तन प्रस्तुत करने वाले अन्य सिद्धान्त परब्रह्म स्वरूप रस-चिन्तन मे निमग्न हो गए। सस्कृत काव्यशास्त्र मे "रससिद्धान्त" की स्थिति यही रही।

२-३ हिन्दी का रीतिकाल काव्यशास्त्रीय चिन्तन की दृष्टि से विशेष महत्त्व-पूर्ण नहीं है। इस काल मे रस विषयक ग्रन्थ ही अधिक रचे गए है। रसो का शास्त्रीय चिन्तन इनमे नहीं है। "विभावानुभावसचारी" सूत्र को प्रमाणित करने वाले उदाहरण ही प्रचुर मात्रा मे हैं। शास्त्रीय पक्ष जो कुछ भी है, सस्कृत ग्रन्थो के अनुकरण पर लिखा गया है, परिणामत इनमे रस-चिन्तन की मौलिकता का सर्वथा अभाव है। अन्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो पर भी कुछ ग्रन्थ उपलब्ध है, पर वे गिनती के ही हैं। हिन्दी में श्रीपोद्दारकृत काव्यकल्पद्रुम, जगन्नाथ प्रसाद "भानु" रचित काव्यप्रभाकर आदि ग्रन्थ "ध्वनिपरम्परा" के हैं। हरिऔध रचित "रसकलश" रस से सम्बद्ध सुलझा हुआ ग्रन्थ है। यही काव्यशास्त्रीय परम्परा हिन्दी को प्राप्त हुई। आचार्य श्यामसुन्दरदास के साहित्यालोचन मे और शुक्ल जी की "रसमीमासा" मे रसविवेचन के प्रति अति आग्रह स्पष्ट है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी भी रसवादी ही हैं—"फिर भी इतना कहा जा सकता है कि रसात्मक वाक्य को श्रेष्ठ काव्य मानने वाले सहृदय मात्र ध्वनि के इस अनाकांक्षित विस्तार का उचित नहीं समझते। वे रस को तो काव्य की आत्मा मानते हैं। उनकी दृष्टि मे ध्वनि रस के स्वरूप

---

१ सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदर ॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राण कैश्चित्प्रमातृभि ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रस ॥

साहित्यदर्पण ३ २ ३

और उसके आस्वादन की प्रक्रिया को स्पष्ट करने का साधन मात्र है।[१] बाबू गुलाबराय जी के "सिद्धान्त और अध्ययन" में काव्य और रस से सम्बद्ध सामग्री ही अधिक है, ध्वनि आदि सिद्धान्तों पर ८-१० पृष्ठ ही है। इस प्रकार रस का जो विवेचन हिन्दी पाठकों को मिला वह रस की "अलौकिक चमत्कार प्राण" कहने वाला था। रसानुभूति को "मधुमती भूमिका" के समकक्ष कहा गया। अन्य विद्वान् इस समकक्षता को स्वीकार न कर, अन्य समकक्षता ढूंढते रहे। हिन्दी पाठक, कवि और आलोचक के लिए रस-सिद्धान्त और भारतीय काव्यशास्त्र पर्यायवाची बन गए। सन् १९६० के पश्चात् रससिद्धान्त से सम्बद्ध दो ग्रन्थ और प्रकाशित हुए। प्रथम ग्रन्थ "रससिद्धान्त : स्वरूप और विश्लेषण", डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित का शोध प्रबन्ध है। द्वितीय, "रस-सिद्धान्त" ग्रन्थ के रचयिता डा० नगेन्द्र हैं। जहां तक रस-सिद्धान्त के प्रामाणिक शास्त्रीय पक्ष का प्रसंग है, वह इस ग्रन्थ में यथातथ्य-परक है—ग्रन्थ की शक्ति का परिचायक है। परन्तु जब डा० नगेन्द्र रस-सिद्धान्त को काव्य का सार्वभौम सिद्धान्त कहते हैं तो इस ग्रन्थ की सीमा स्पष्ट हो जाती है। यद्यपि संस्कृत में और अँग्रेजी भाषा में भारतीय विद्वानों द्वारा काव्यशास्त्र के अन्य सिद्धान्तों पर भी महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ पर वह हिन्दी के सामान्य पाठकों के लिये अज्ञेय ही रहा है। रससिद्धान्त काव्य के लिए कितना उपयुक्त है ? यह विचारणीय प्रश्न है। डा० नगेन्द्र हिन्दी के सुधी आलोचक हैं। "रससिद्धान्त ग्रन्थ" में "शक्ति और सीमा" के अन्तर्गत उन्होंने कतिपय महत्त्वपूर्ण संकेत दिये हैं। इन्हें इस प्रकार[२] सूत्रबद्ध किया जा सकता है—

१—रससिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र का सबसे प्राचीन, व्यापक एवं बहु-मान्य सिद्धान्त है।

२—आरम्भ में कुछ ऐसी भ्रान्ति हो गई थी कि रस के विभाव, अनुभाव आदि का उपस्थापन नाट्य में ही हो सकता है…किन्तु यह भ्रान्ति जल्दी ही दूर हो गई और शब्दार्थ के क्षेत्र में ही विभावादि की प्रस्तुति की सम्भावना व्यक्त हो गई।

३—आनन्दवर्धन ने ध्वनि की उद्भावना द्वारा शब्दार्थ की निहित शक्तियों का उद्घाटन किया और व्यञ्जना के द्वारा विभावादि को उपस्थित करने वाली नाट्य-सामग्री की पूर्ति की।

४—अभिनव ने इस तथ्य को और भी स्पष्ट किया; काव्य के साथ रस का उचित सम्बन्ध स्थापित हुआ और शब्दार्थ के सन्दर्भ में ही रस-सिद्धान्त की पूर्ण प्रतिष्ठा हो गई।

---

१. नन्ददुलारे वाजपेयी, नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० ११९

२. डा० नगेन्द्र, रस-सिद्धान्त, पृ० ३२६

उपर्युक्त बिन्दुओं में से प्रथम के सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि रस-सिद्धान्त सबसे प्राचीन ही है। भरत के पूर्व काव्यशास्त्र की परम्परा के होने में सन्देह का अवसर नहीं है पर प्रमाणाभाव की स्थिति में भरत ही प्रथम ज्ञात आचार्य हैं और रस-सिद्धान्त प्राचीनतम सिद्धान्त।

परन्तु द्वितीय बिन्दु में जिस विभाव-अनुभाव के काव्यगतस्थापन के विषय को भ्रांति कहा गया है, वह भ्रांति नहीं है सत्य है। काव्य में नाटक के सदृश विभावानुभाव का स्थापन वस्तुतः सम्भव ही नहीं है।

तृतीय बिन्दु में डा० नगेन्द्र ने[1] आनन्दवर्धन द्वारा व्यञ्जना-उद्घाटन और शब्दार्थ के क्षेत्र में नाट्य-सामग्री की पूर्ति स्वीकार की है।

चतुर्थ में वे यह स्वीकार करते है कि अभिनव द्वारा आनन्दवर्धन प्रतिपादित तथ्य और भी स्पष्ट किया गया। काव्य के साथ रस का उचित सम्बन्ध स्थापित हुआ। इसका निष्कर्ष यह निकला कि काव्य में जिस रससिद्धान्त की चर्चा की जाती है वह मूल रससूत्र-नियन्त्रित नहीं है। वह आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित है, अभिनव ने उसे केवल "और भी स्पष्ट" किया है। अतः उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि काव्य-विषयक रससिद्धान्त आनन्दवर्धन का है। यह वस्तुतः सत्य है। डा० कृष्णमूर्ति का यह कथन "भरत का रससिद्धान्त तो नाट्य तक ही सीमित था, उसका कविता के क्षेत्र में प्रथम बार पूर्ण और वैज्ञानिक विवेचन आनन्दवर्धन द्वारा हुआ[2] इस सत्य का ही ज्ञापन करता है। परन्तु ध्वन्यालोक की भूमिका में डा० नगेन्द्र "ध्वनि" और "रस" की तुलना करते हुए लिखते हैं—"ध्वनि और रस दोनों में रस ही अधिक महत्वपूर्ण है। उसी के कारण ध्वनि में रमणीयता आती है। पर रस को व्यापक अर्थ में ग्रहण करना चाहिये। रस को मूलतः परम्परागत सकीर्ण विभावानुभावसचारी के संयोग से निष्पन्न रस के अर्थ में ग्रहण करना संगत नहीं। रस के अन्तर्गत समस्त भावविभूति अथवा अनुभूति-वैभव आ जाता है।"[3]

उपर्युक्त उद्धरण में (१) रस को व्यापक अर्थ में ग्रहण करना चाहिये। (२) सकीर्ण विभावानुभावादि के संयोग से निष्पन्न रस नहीं समझना चाहिये और (३) रस के अन्तर्गत समस्त भाव-विभूति है आदि कहा गया है। यह तो ठीक है,

---

१ डा० नगेन्द्र को लिखे गए पत्र के उत्तर में उन्होंने रस को रस-ध्वनि से अभिन्न स्वीकार किया है, यह पत्र परिशिष्ट में दिया गया है।

२ के० कृष्णमूर्ति, एसेज इन संस्कृत लिटरेरी क्रीटीसिज्म, पृ० ६८

३ ध्वन्यालोक, भूमिका (स० आ० विश्वेश्वर) पृ० ३२

पर 'ध्वनि' और 'रस' में से रस को महत्त्वपूर्ण कहने का तात्पर्य क्या है ? क्या ध्वनि और रस तुलनीय है ? विशेषतः उस स्थिति में जब कि काव्य में रस की वही धारणा स्वीकार की जा रही हो जो आनन्दवर्धन ने दी है। 'ध्वनि' पद के तीन[1] अर्थ किए जाते हैं। प्रथम जिससे ध्वनित हो वह शब्द (व्यञ्जक) 'ध्वनि' है, स्पष्टतः यह ध्वनि रस से तुलनीय नहीं है। ध्वनि पद की द्वितीय व्युत्पत्ति है—जो ध्वनित किया जाय वह रस, अलंकार अथवा वस्तु ध्वनि है। सम्भवतः इसी ध्वनि से डॉ० नगेन्द्र इसकी तुलना करते हैं। परन्तु यह ध्वनि तो रस, अलंकार अथवा वस्तु के व्यंग्य होने का प्रतिपादन है। 'ध्वनि' सिद्धान्त कवि की अनुभूति के व्यंग्य होने का विवेचन करता है। वह रस के व्यंग्य होने का ही नहीं, वस्तु और अलंकार रूप अर्थ के व्यंग्यत्व का प्रमाण भी प्रस्तुत करता है। पुनः जब डॉ० नगेन्द्र आनन्दवर्धन के व्यञ्जना प्रतिपादन द्वारा विभावादि को उपस्थित मानते हैं, अन्य शब्दों में रस को व्यंग्य स्वीकारते हैं, तब रस की कल्पना वही हो सकती है जो आनन्दवर्धन के असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य में है। फिर डॉ० नगेन्द्र रस को संकीर्ण परम्परागत सूत्र से निष्पन्न न मानकर व्यापक देखना चाहते हैं, उसमें सम्पूर्ण भाव-विभूति का समाहार चाहते हैं। तब, यह आनन्दवर्धन की ध्वनि (रसध्वनि) से भिन्न कौन-सा रस है ? आनन्दवर्धन ने परम्परागत सूत्र के बन्धन शिथिल कर उसे कविता के लिए प्रयोगार्ह बनाया। भाव, भावाभासादि का रस के समकक्ष परिगणित कर, उनकी व्यंग्यता प्रतिपादित की। क्या इस प्रक्रिया में मानव की सम्पूर्ण भाव-विभूति नहीं आ जाती ? यही नहीं, भाव संस्पृष्ट वस्तु और अलंकार का विधान भी उसमें है। तब कौन-सा अनुभूति-वैभव शेष रह गया ? ध्वनि व्यंग्यत्व को सौंपा है। काव्य में अनुभूति व्यंग्य बनकर ही व्यक्त होती है। अनुभूति का व्यंग्यत्व ही काव्य को काव्य-पद का अधिकारी बनाता है। यह व्यंग्यत्व, यह ध्वनि इसी अर्थ में उसकी आत्मा है। अतः 'ध्वनि' और रस की तुलना का प्रश्न ही नहीं उठता। ध्वनि को काव्य की आत्मा सृजन-प्रक्रिया के संदर्भ में कहा गया है। इसमें रस, वस्तु, अलंकार और मानवमात्र की सभी अनुभूति-सम्पदा का समावेश है। अनुभव बतलाता है कि सभी कविता रसयुक्त नहीं होती। कोई कविता सहृदय में विचार झंकृत करती है, कोई भाव-संपृक्त वस्तु को प्रस्तुत करती है, किसी में भाव की उष्मा से संचलित अलंकार होता है, तब केवल 'रस' का प्रश्न कहाँ उठता है ? और 'रस', 'वस्तु' और अलंकार तीनों को पृथक्-पृथक् आत्मा कहना तर्क-संगत नहीं है। इसलिए आनन्दवर्धन ने ऐसा प्रयोग किया है, जिसमें तीनों का समावेश हो सके—यह प्रयोग सृजन-प्रक्रिया की दृष्टि से ही सम्भव है। चाहे रस हो, वस्तु हो या अलंकार व्यंग्यत्व की प्रक्रिया सब में समान है—वही प्राण है, व्यंग्य की अतिशयता होना आत्मा है, काव्य उसी से जीवंत बनता

१. डा० कृष्णकुमार शर्मा, व्यञ्जना : सिद्धि और परम्परा

है। इसी अर्थ मे ध्वनि आत्मा है। इसीलिए रस, वस्तु और अलकार के साथ ध्वनि पद का प्रयोग किया गया है जो तीनो के व्यग्य होने मे समान धर्म का प्रत्यायक है। कविराज विश्वनाथ ने ध्वनि को तीन प्रकार का मानकर यह शका की है—'क्या त्रिविध ध्वनि को काव्य की आत्मा माना जाय ?'[1] परन्तु कविराज ने इस तथ्य का विस्मृत कर दिया है कि आत्मा विविध कार्यकलापो मे व्यक्त होता है। ध्वनि अर्थात् व्यग्यत्व भी अनेक रूपाकारो में व्यक्त होता है—इसका प्रमाण प्रभूत कविता-साहित्य है। इसीलिए असलक्ष्यक्रम व्यग्य के प्रसग में आनन्दवर्धन ने इसके अनेक प्रकारो का इगित किया है। घनानन्द के 'तुम मौन सी पाटी पढ़े हो लला मन लेहु पै देहु छटाक नहीं' कवित्त मे वस्तु से भाव की अभिव्यक्ति है। कामायनी के 'नील परिधान बीच सुकुमार' पद मे अलकार के द्वारा भाव-सवलित वस्तु प्रतीयमान है। तब केवल रस का ही मानकर सपूर्ण कविता का कैसे मूल्याकन किया जा सकेगा ? ऐसी स्थिति मे 'रससिद्धान्त' को सार्वभौम सिद्धान्त भी कैसे कहा जा सकता है। अत ऐसा निकष तो ध्वनिसिद्धान्त ही है जो काव्य मे अनुभूति के केवल रस रूप अर्थ में ही परिणत होने को नही, सम्पूर्ण भाव-सम्पदा, विचार-सम्पदा के व्यग्य होने का विवेचन करता है। डॉ० नगेन्द्र और डा० दीक्षित ने जिस व्यापक रससिद्धान्त की चर्चा की है, उसकी परिणति ध्वनि मे ही है। आत्मा, परमात्मा, धर्म-दर्शन आदि से मुक्त ध्वनिसिद्धान्त काव्य-रचना की मूलभूत इकाइया—आवेग, शब्द और अर्थ पर आधृत है। आज पाश्चात्य आलोचक एक स्वर से कविता मे सजेस्टेड अर्थ के महत्त्व का स्वीकार करते हैं। आनन्दवर्धन ने यही स्थापना नवम शताब्दी मे की थी।

२-४ ध्वनिसिद्धान्त के अन्तर्गत ध्वनि के दो रूप अविवक्षितवाच्य और विवक्षितवाच्य कहे गए हैं। विवक्षितवाच्य के पुन दो स्वरूप हैं—असलक्ष्यक्रम और सलक्ष्यक्रम[2]। असलक्ष्यक्रम मे रस, भाव, आभास, भावशान्ति आदि का विधान है[3]। असलक्ष्यक्रम वहाँ होता है जहाँ रसादिरूप अर्थ वाच्य के साथ ही साथ प्रतीत

१ यत्तु ध्वनिकारेणोक्तम्—'काव्यस्यात्मा ध्वनि '—इति तत्कि वस्त्वलकार-रसादिलक्षणास्त्रिरूपो ध्वनि काव्यस्यात्मा' • •

सा० द० १, पृ० १७, चौ० प्र०

२ असलक्ष्यक्रमोद्योत क्रमेण द्योतित पर ।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधामत ॥२॥ ध्व० २ २

३ रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रम ।
ध्वनेरात्माऽङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थित ॥ ध्व० २ ३

होता है, वह प्रधानरूप से प्रतीत होने पर काव्य का आत्म (स्वरूप) होता है।'[1] अभिनव ने 'आत्मा' का अर्थ 'आत्मशब्दः स्वभाववचनं प्रकारमाह' किया है। अतः जब आनन्दवर्धन 'ध्वनि' को काव्य का आत्मा कहते हैं तब भी काव्य का स्वभाव ही प्रतिपादित करते हैं। आनन्दवर्धन ने वृत्ति में रस को अर्थ रूप (रसादिरर्थो) कहा है। जब वाच्यार्थ के मानों साथ ही प्रतीयमान अर्थ की भी प्रतीति हो तो वह असंलक्ष्यक्रम रस-ध्वनि का स्थल होता है। रस, भाव रूप आदि अर्थ जहाँ वाक्यार्थीभूत होते हैं वे सब ध्वनि के स्वभाव वाले हैं। इस प्रकार आनन्दवर्धन के असंलक्ष्यक्रम में रस-भाव आदि सबका समावेश है।

डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है—'रसशास्त्र के अनुसार रागतत्त्व की सीमा के भीतर भी रस का स्वरूप अत्यन्त व्यापक है। शास्त्र में रस की परिधि के अन्तर्गत रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता और भावशान्ति का निर्भ्रान्त रूप से समावेश किया गया है।[2] 'यहाँ रस से अभिप्राय है विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी द्वारा पुष्ट स्थायी की निर्विघ्न प्रतीति—अर्थात् रस-शब्द परिपाक की अवस्था का वाचक है।'[3]

उपर्युक्त कथन में अनेक शंकाएँ उत्पन्न होती हैं—

(१) रसशास्त्र से डॉ० नगेन्द्र का तात्पर्य क्या है?

निश्चय ही, जिस रसशास्त्र में 'रस की परिधि' में रसाभास आदि का आख्यान है वह भरत का तो हो नहीं सकता, क्योंकि स्वयं डॉ० नगेन्द्र यह स्वीकार करते हैं कि भरत ने रसाभास का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है।[4]

रसाभास के सम्बन्ध में सर्वप्रथम प्रामाणिक विवेचन आनन्दवर्धन ने किया है। आनन्दवर्धन से लेकर मम्मट तक रसाभास भावाभासादि का विवेचन किसी अन्य 'रस-शास्त्र' में नहीं है, वह असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के प्रकारों में ही वर्णित किया गया है।

अतः रस भावादि विभिन्न रूपों को सर्वप्रथम एक कोटि में रखकर आनन्दवर्धन ने ही काव्य की व्यापक सिद्धान्त-व्याख्या प्रस्तुत की है। काव्य में रागतत्त्व की सीमा के भीतर यही व्यापकता सम्भव है।

(२) 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी से पुष्ट स्थायी की निर्विघ्न प्रतीति' से क्या डॉ० नगेन्द्र परम्परागत संकीर्ण 'विभावानुभाव....' सूत्र से निष्पन्न रस का

---

१. रसादिरर्थो हि सहैव वाच्येनावभासते।
स चांगित्वेनावभासमानो ध्वनेरात्मा॥

२. डॉ० नगेन्द्र, रससिद्धान्त, पृष्ठ ३१६

३. वही, पृ० ३१६

४. वही, पृ० ३०६

ही आख्यात नहीं कर रहे हैं ? एक ओर रस की व्यापकता का पक्ष प्रतिपादित करना, दूसरी ओर परम्परागत निष्पत्ति को स्वीकार करना ? वस्तुत डॉ० नगेन्द्र रस-सिद्धान्त के प्रति आग्रहशील होने के कारण ध्वनिसिद्धान्त-प्रतिपादित रस-शास्त्र को स्वीकार करते हुए भी, 'ध्वनि' की सिद्धि रस में देखना चाहते हैं। इसी व्यापक रस-सिद्धान्त प्रतिपादित 'रस' को डॉ० नगेन्द्र तत्त्व पद का अधिकारी मानते हैं। परन्तु उपर्युक्त विवेचन में सिद्ध होता है कि यह 'तत्त्व पद का अधिकारी रस' वास्तव में 'रस-ध्वनि' ही है।

अब एक प्रश्न यह है कि जिस 'भावविभूति' और अनुभूति-वैभव' को डॉ० नगेन्द्र अपने तथाकथित व्यापक रस के अन्तर्गत रखना चाहते हैं और डॉ० दीक्षित जिस 'भाव की हल्की फुहार' में रस मानना चाहते हैं, वह काव्य में उपस्थित कैसे होंगे ? भाव और अनुभूति वाच्य तो हो नहीं सकते, इनकी प्रतीयमानता सर्वसम्मत है। साधारणीकरण की प्रक्रिया के प्रसग में डॉ० नगेन्द्र ने यही स्वीकार किया है।[१] भाव और अनुभूति, वस्तुत, सृजन की प्रक्रिया में प्रतीयमान ही हो जाते हैं। तब भाव और अनुभूति की यह प्रतीयमान अभिव्यक्ति असलक्ष्यक्रम-व्यग्य से भिन्न कैसे हुई ? क्या आनन्दवर्धन-प्रतिपादित रस, भाव आदि में समस्त 'अनुभूति वैभव' नहीं आता ? क्या 'भाव की फुहार' इससे पृथक् कुछ है ?

२-५ डॉ० नगेन्द्र ने—'अनुभूति की वाहक बनकर ही ध्वनि में रमणीयता आती है, अन्यथा वह काव्य नहीं बन सकती'[२] लिखा है। परन्तु आनन्दवर्धन ने अनुभूति का निषेध कहाँ किया है। वरन् उन्होंने तो अनुभूति को ही रसरूप अर्थ में परिणत होने का आख्यान किया है। वस्तुत भाव-भावशान्ति आदि तथा रसरूप अर्थ की स्थिति अनुभूति के सद्भाव में ही सम्भव है।

अत रससिद्धान्त में अनुभूति के सद्भाव और ध्वनि में उसके अभाव का कथन सुविचारित प्रतीत नहीं होता। डॉ० नगेन्द्र कथित रस और ध्वनि के अनुभूति तथा कल्पना विषयक अन्तर और विचार[१] किया जाय। कवि के सन्दर्भ में कल्पना

१ 'काव्य प्रसग तो अपने आप में जड़ वस्तु है इसका चैतन्य अश तो इसका अर्थ है और यह अर्थ क्या है ? कवि का सवेद्य-कवि की अनुभूति, सामान्य भावानुभूति नहीं, सर्जनात्मक अनुभूति-भाव की कल्पनात्मक पुन सर्जना की अनुभूति—भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली में 'भावना'। इसी का शास्त्रीय नाम ध्वन्यर्थ है।'

डॉ० नगेन्द्र, रससिद्धान्त, पृ० २०९

२ ध्वन्यालोक, (स० आ० विश्वेश्वर) पृ० ३२-३३

काव्यसृजन का महत्त्वपूर्ण उपादान है। इस कल्पना की सामग्री कहाँ से मिलती है? प्रेस्काट[1] के मतानुसार कल्पना बिम्बों का समेकन (FUSION) करती है, कवि-मानस में पूर्वतः निक्षिप्त अनुभूतियों-भावनाओं से रंजित बिम्बों का समेकन कविता में होता है। अतः कहा जा सकता है कि कोरी कल्पना काव्य-सृजन में अक्षम है। डॉ० नगेन्द्र ने 'भाव की कलात्मक अभिव्यक्ति' को महत्त्व दिया है। कलात्मकता तो कल्पना की प्रक्रिया है। कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए भी भाव और अनुभूति के आधार की आवश्यकता है। इसके अभाव में कलात्मक अभिव्यक्ति ही किस की होगी? अतः काव्य में कल्पना का प्रयोग स्वीकार करने में भाव की अनिवार्य स्थिति स्वीकार करनी ही होगी। कल्पना भाव को प्रतीयमानरूप में प्रस्तुत करती है, यही भाव का कलात्मक रूप है। आनन्दवर्धन अनुभूति की इसी कलात्मक अभिव्यक्ति के पक्षधर हैं—'व्यंजकत्व की पद्धति में जब अर्थ दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करता है, तब प्रदीप के समान वह अपने स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ ही अन्य अर्थ का प्रकाशक होता है जैसे 'लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती' आदि श्लोक में[2]।' इस श्लोक में भाव की कलात्मक अभिव्यक्ति ही है। 'यहाँ विभावानुभाव-संचारि......' आदि से रस-निष्पत्ति का प्रसंग नहीं है। रस-सिद्धान्त का पुनः आख्यान तथा इसके स्वरूप का विश्लेषण करने वाले विद्वान् रस के अन्तर्गत भावा-भासादि को रखना चाहते हैं। आनन्दवर्धन भाव, भावाभासादि को रस की कोटि में रखते हैं। ध्वनिसिद्धान्त में इनको रस के समकक्ष ही सत्ता है, यह इस सिद्धान्त की व्यापकता का प्रमाण है। अतः जब डॉ० नगेन्द्र भावमात्र की और डॉ० दीक्षित 'भाव फुहार' की बात करते हैं तो वह ध्वनिसिद्धान्त की ही चर्चा है। व्यंग्य भाव, वस्तु अथवा अलंकार (ध्वनि) हो सहृदयसंवेद्य काव्य-तत्त्व है। सहृदयसंवेद्य वही तत्त्व हो सकता है जिसमें अनुभूति का स्पंदन हो, अतः ध्वनि में अनुभूति का प्रतिषेध नहीं है। ध्वनि और रस में कल्पना और अनुभूति का प्रतिद्वन्द्व भी नहीं है। काव्य में रस का स्वरूप वही हो सकता है जो आनन्दवर्धन ने प्रस्तुत किया है। यह रस असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य रूप अर्थ है। यही चारुत्व है, इसी से सहृदय को चमत्कार की प्रतीति होती है। रसानुभूति के प्रसंग में अभिनवकृत प्रतिपादन उनकी दार्शनिक मेधा का परिचय भले हो व्यावहारिक आलोचना के लिए अनुपयुक्त है। इसीलिए

---

१. प्रेस्काट, द पोएटिक माइन्ड, पृ० १९४

२. व्यंजकत्वमार्गे तु यदार्थोऽर्थान्तरं द्योतयति तदा स्वरूपं प्रकाशयन्नेवा-सावन्यस्य प्रकाशकः प्रतीयते प्रदीपवद् । यथा 'लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती' इत्यादौ ।

ध्व० (आ० विश्वेश्वर) पृ० २६०

डॉ० नगेन्द्र को यह लिखना पड़ा है कि 'संकीर्ण परम्परागत अर्थ में रस को ग्रहण करना संगत नहीं है'।[1]

ध्वनिसिद्धान्त काव्य के प्रत्येक तत्त्व का स्पष्ट आख्यान करता है—अनास्थता का स्थान यहाँ नहीं है। रस-सिद्धान्तवादियों ने जिस प्रकार अभिभूत होकर रस-कीर्तन किया है, वह स्थिति आनन्दवर्धन को स्वीकार नहीं है। रस है, कवि को उसका प्रयत्नपूर्वक आयोजन करना चाहिये, पर काव्य में उसका स्वरूप वही सम्भव है जो ध्वन्यालोक में वर्णित है।

उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष निम्नलिखित हैं—

(१) भरत-प्रतिपादित रससिद्धान्त नाट्यसंदर्भीय है। भट्ट लोल्लट और शंकुक तक वह नाट्य से जुड़ा रहा। भट्ट नायक की ब्रह्मास्वाद आदि शब्दावली को ग्रहण कर अभिनव ने इसे शैवदर्शन के आनन्द से सम्बद्ध कर आत्मास्वादरूप प्रतिपादित किया। इस प्रकार रस अलौकिक, 'ब्रह्मास्वादसहोदर' आदि हो गया।

(२) दार्शनिक आधार प्राप्त कर रस चिन्तन-मनन और बुद्धिविलास तक ही सीमित रहा। व्यावहारिक आलोचना में इसका उपयोग सम्भव न रहा।

(३) काव्य मूलतः शब्द और अर्थमय इकाई है, अतः रस सम्बन्धी कोई भी मान्यता इन्हीं के माध्यम से काव्य-सन्दर्भ में प्रस्तुत की जा सकती है। भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में ऐसी धारणा ध्वनिसिद्धान्त के अन्तर्गत असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य में है। यही रस काव्य में सम्भव है, यह रस अर्थरूप ही है। नए कवि और आलोचक रस के नाम से ही न चौंकें, आनन्दवर्धन ने काव्य में रस-विषयक धारणा को यथार्थ आधार दिया है, रस आकाशकुसुम नहीं है। भारतीय काव्यशास्त्र का अर्थ केवल रस-सिद्धान्त ही नहीं है। भाषा की व्यंजना, प्रतीक, बिम्ब आदि के महत्त्व को नये कवियों और आलोचकों ने स्थान-स्थान पर स्वीकृति दी है। कविता के ये महत्त्वपूर्ण शिल्प-उपादान अनुभूति के व्यंजक हैं। इनकी व्याख्या प्रतीयमान अर्थ की यथार्थ भूमि पर ही सम्भव है। आज के पाश्चात्य विचारक प्रतीयमान अर्थ के सर्वातिशायी महत्त्व को स्वीकार कर रहे हैं। इसी धारणा का पूर्ण विवेचन आनन्दवर्धन ने नवम शताब्दी में किया था। उलझी संवेदना और जटिल अनुभूतियाँ वाच्यरूप में व्यक्त की भी नहीं जा सकतीं, वे सजेस्टेड ही हो सकती हैं। आधुनिक युग की अभिव्यक्ति अन्य कलाओं में भी इसी रूप में सम्भव है।

(४) डॉ० नगेन्द्र 'रस' का जिस व्यापक अर्थ में देखने का आग्रह करते हैं, वह व्यापक स्वरूप आनन्दवर्धन के असंलक्ष्यक्रम से भिन्न 'अन्य कुछ' नहीं है।

१ ध्व० (आ० विश्वेश्वर) पृ० ३२

ध्वनिसिद्धान्त में समस्त 'भावविभूति' और 'अनुभूति वैभव' की व्याख्या की क्षमता है।

(५) मूल रस-सिद्धान्त और ध्वनिसिद्धान्त में अनुभूति और कल्पना का द्वन्द्व नहीं है। काव्यसृजन की प्रक्रिया में कवि की अनुभूति प्रतीयमान हो जाती है—सृजनकर्ता से पृथक् होकर कवि की अनुभूति शुद्ध भावरूप धारण कर लेती है। व्यक्तित्व से मुक्त यह शुद्ध अनुभूति सहृदय में संवेदना उत्पन्न करती है। कल्पना की प्रक्रिया वैयक्तिक अनुभूति को प्रतीयमान रूप में प्रस्तुत कर उसे सहृदयसंवेद्य बनाती है। अतः ध्वनिसिद्धान्त में अनुभूति और कल्पना का समयोग है।

(६) आनन्दवर्धन ने रस, भाव, भावाभास आदि का असंलक्ष्यक्रम के भेद प्रतिपादित किये हैं—ये एक नहीं हैं, रस के अन्तर्गत नहीं, उसी की कोटि के हैं। संपूर्ण भावजगत् इनमें आ जाता है। अतः इस असंलक्ष्यक्रम कोटि के रहते अन्य किसी व्यापक रस-सिद्धान्त की कल्पना का महत्व विवादास्पद है।

(७) डॉ० नगेन्द्र ने अनुभूति को व्यंग्यार्थ माना है। डॉ० दीक्षित अनुभूति की सचाई, अभिव्यक्ति की विशदता, व्यंजना की शक्ति, और प्रतीकों में भाव-विस्तार की सामर्थ्य वाली रचना को कविता कहते हैं। यह सब ध्वनिसिद्धान्त का ही आख्यान है।

(८) 'नयी कविता बौद्धिकता की छाया में विकस रही है उसमें नए-नए अर्थों को ध्वनित करने वाला प्रतीक-विधान "आदि जिन्हें नयी कविता की प्रमुख विशेषता कहा जा सकता है' आदि कथन भी प्रतीयमान अर्थ की ओर संकेत करता है। ध्वनिसिद्धान्त के संलक्ष्यक्रम-विधान में बुद्धि तत्त्व की अपेक्षा स्पष्टतः स्वीकारी गई है। बौद्धिकता से संवलित कविता की व्याख्या ध्वनिसिद्धान्त में ही सम्भव है।

(९) अतः भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में काव्य की पूर्ण व्याख्या करने वाला सिद्धान्त ध्वनिसिद्धान्त ही है। प्रतीयमान अर्थ को महत्त्व देकर ध्वनिसिद्धान्त रचना की लघुतम इकाई रूपिम (Morpheme) से प्रारम्भ कर 'प्रबन्धकाव्य तक की व्यंजकता का विवेचन करता है।

काव्य का आत्मा

काव्य की परिभाषा करने का प्रयत्न कदाचित् काव्यशास्त्र जितना प्राचीन है। परन्तु काव्य की आत्मा के विषय में सर्वप्रथम स्पष्ट कथन आचार्य वामन का 'रीतिरात्मा काव्यस्य' ही है। यद्यपि भामह और दण्डी जैसे अलंकार-सम्प्रदायवादियों ने अलंकारों को काव्य के लिए अपरिहार्य तत्त्व स्वीकार किया है तथापि आत्मावत् उन्होंने भी नहीं कहा। रीति से वामन का तात्पर्य विशिष्ट पदरचना है, और

विशिष्ट का अर्थ है गुणयुक्त, इस प्रकार गुणयुक्त पदरचना काव्य का आत्मा है। गुण वह धर्म है जो काव्य-शोभा को उत्पन्न करता है। अत गुणो का सम्बन्ध कलाकार की चित्तवृत्ति से जोडा अवश्य जा सकता है, पर वामन के मत मे उसका स्पष्ट उल्लेख नही है।

काव्य की आत्मा के विषय मे आनन्दवर्धन का मत मत तर्कसगत है। ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका मे ही कहा गया है—

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधै य समाम्नातपूर्व', अर्थात् विद्वानो ने यह पूर्णत भलीभाँति प्रकट कर दिया है कि काव्य की आत्मा ध्वनि है। ध्वनि की परिभाषा दी जा चुकी है अत यहाँ उस पर प्रासगिक रूप से ही विचार किया जाएगा।

ध्वनि मे—व्यजक शब्द, व्यग्य अर्थ, व्यजना व्यापार और व्यग्यार्थ प्रधान-काव्य का समाहार किया गया है। यदि 'आत्मा' का अभिनवकृत अर्थ लिया जाय जिसके अनुसार 'आत्मा' शब्द 'स्वभाव' का वाचक है—'आत्मस्वभाववचनं प्रकार आह', तो 'काव्यस्यात्मा ध्वनि' का 'ध्वनि' पद के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के प्रकाश मे तात्पर्य होगा कि काव्य व्यजक शब्दार्थ, व्यग्यार्थ और व्यजना व्यापार इन तीनो के स्वभाव से युक्त है।

आत्मा का द्वितीय अर्थ है—प्राण, काया को जीवत बनाने वाला तत्त्व। इस दृष्टि से विचार करने पर 'काव्यस्यात्मा ध्वनि' का अर्थ होगा कि काव्य को जीवतता प्रदान करने वाला तत्त्व वाच्यातिशयी प्रतीयमान अर्थ है। आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ को कवि की अनुभूति से जोडा है। कवि की अनुभूति ही प्रतीयमान अर्थ रूप मे व्यक्त होकर काव्य की आत्मा रूप मे शोभा पाती है। काव्य के शब्द और अर्थ रूप शरीर मे यह अनुभूति सवलित प्रतीयमान अर्थ आत्मा स्वरूप है।

कतिपय लोगो ने शब्द और अर्थ के शरीरवत् प्रतीयमान रसरूप अर्थ के आत्मावत् प्रतिपादन पर आपत्ति करते हुए इनमे गुण-गुणी भाव का व्यवहार उचित माना है। उनका कथन है कि वाच्यार्थ रसादिमय प्रतीत होता है, रसादि से भिन्न नहीं।[1] अतएव कथावस्तु को शरीरभूत और रसादि को आत्मभूत मानने की आवश्यकता नही रहती। आनन्दवर्धन इस आपत्ति को सर्वसम्मत नही मानते, क्योकि कथावस्तु का गुणी और रसादि को गौरत्व आदि के समान गुण मानने पर, जैसे शरीर के साथ गौरत्व गुण की प्रतीति सहृदय-असहृदय सब को होती है, वैसे ही कथावस्तु के साथ रसादि

---

१ रसादिमयं हि वाच्य प्रतिभासते, न तु रसादिभि पृथग्भूतम् इति
ध्व०, (आ० वि०), पृ० २४५

की प्रतीति भी सब को होनी चाहिये। परन्तु ऐसी प्रतीति सबको नहीं होती, केवल काव्यार्थतत्वज्ञों को ही होती है।

रत्नों के प्रसंग में यह देखा जाता है कि उनके उत्कर्ष को मर्मज्ञ जौहरी ही जान पाते हैं, इसी प्रकार वाच्यत्व का रसादिमय गुण भी सहृदयों के द्वारा ही पहचाना जाता है, तब रसादिमयता को रत्नों के उत्कर्ष के समान गुण मानकर कथावस्तु और रसादि मे गुण-गुणी सम्बन्ध स्वीकारने में क्या आपत्ति है ? आनन्दवर्धन इस प्रकार के गुण-गुणी सम्बन्ध-अवधारण को भी उचित नहीं मानते। क्योंकि रत्न का उत्कर्ष रत्नस्वरूपभूत ही प्रतीत होता है। गुण स्वरूप मानने पर रसादि की प्रतीति भी विभावानुभावों से अभिन्न रूप मे होनी चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता, विभावानुभाव ही रसादि हैं ऐसी प्रतीति किसी को भी नहीं होती। यह प्रतीति तो विभावानुभावों से अविनाभाव, परन्तु उनसे पृथक् ही होती है।[१] अतः रत्नों के उत्कर्ष के उदाहरण के अनुसार भी कथावस्तु और रसादि में गुण-गुणी-भाव-सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। विभावानुभाव और रस प्रतीति में कारण-कार्य भाव अवश्य है, परन्तु शीघ्रता के कारण इस क्रम की प्रतीति नहीं होती। अतः यह प्रतिपादित हुआ कि कथावस्तु रूप शरीर में रसादि रूप प्रतीयमान अर्थ आत्मा के समान है।

आनन्दवर्धन रस रूप प्रतीयमान अर्थ को अधिक महत्त्व देते हैं और उसी में अन्य प्रकार के प्रतीयमान अर्थों का पर्यवसान भी मानते हैं। अतः रसरूप प्रतीयमान अर्थ ही काव्य की आत्मा है।

परन्तु आनन्दवर्धन ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' कहा है और वाच्य से प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता के स्थल में ध्वनि व्यपदेश किया है। पुनः 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' कहकर प्रतीयमान रस को ही काव्य का आत्मा मान लिया है। तब सामान्येन 'ध्वनि' में आत्मा पद के व्यवहार और केवल 'रस' में आत्मा पद के व्यवहार में संगति कैसे होगी।

वस्तुतः सृजन-प्रकिया की दृष्टि से विचार करने पर यह अवभासित विसंगति स्वयं निरस्त हो जाती है। कवि की अनुभूति सृजन के दौर में प्रतीयमान हो जाती है। जहां वाच्य के साथ ही प्रतीयमान अनुभूति रूप अर्थ प्रकाशित होता है, वह

---

१. 'नहि विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसा इति कस्यचिदवगमः। अतएव च विभावादिप्रतीत्यविनाभाविनी रसादीनां प्रतीतिरिति तत्प्रतीत्योः कार्य-कारणभावेन व्यवस्थानात् क्रमो अवश्यम्भावी। स तु लाघवान्न प्रकाश्यते इत्यलक्ष्यक्रमा एव सन्तो व्यंग्या रसादयः, इत्युक्तम्

—वही पृ० २४१

रस का स्थल है। कवि को इसी के प्रति अवधानवान होना चाहिये, यही प्रमुख है। इसी अर्थ में रस को काव्य का जीवित तत्व अर्थात् आत्मा कहा गया है।

परन्तु कविता के ऐसे असंख्य उदाहरण हैं जिनमें वाच्य के साथ ही प्रतीयमान भाव रूप अर्थ की प्रतीति नहीं होती। प्रतीयमान अर्थ, इन उदाहरणों में रहता है—प्रधान भी होता है, पर उस अर्थ तक पहुँचने में बुद्धि का व्यापार स्पष्ट परिलक्षित होता है। सहृदय इस अर्थ तक पहुँचकर चमत्कृत होता है। इस कोटि में और रसादि की असंलक्ष्यक्रम कोटि में उभयनिष्ठ तत्त्व प्रतीयमान अर्थ की अतिशयता है। असंलक्ष्यक्रम में अर्थाभिव्यक्ति का चमत्कृति रूप प्रकाश तुरन्त होता है, द्वितीय में बुद्धि का व्यापार होने से चित्तविस्ताररूपा चमत्कृति विलम्बित होती है। परन्तु दोनों कोटियों में फल एक है—प्रतीयमानार्थ की प्रधानता दोनों में है। अतः दोनों प्रकारों में काव्यशरीर को जीवतता देने वाला तत्त्व प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता ही है, इसी दृष्टि से सामान्येन 'काव्यस्यात्मा ध्वनि' कहा गया है।

पुनः, आनन्दवर्धन ने वस्तु और अलंकार रूप प्रतीयमान अर्थ का पर्यवसान किसी न किसी भाव के उत्प्रेरण में माना है। अतः प्रतीयमान वस्तु और अलंकार रूप अर्थ भी सहृदय की चित्तवृत्ति का अपनी भावसम्पदा से ही प्रभावित करते हैं। अतएव वस्तु और अलंकार रूप अर्थ के स्थलों में ध्वनि का व्यपदेश उचित ही है और इस अर्थ में ध्वनि को आत्मा कहना भी संगत। ध्वनि अथवा अनुभूति की प्रतीयमानता काव्य-प्रक्रिया की नियति है, वही काव्य का प्राण-तत्त्व है, अतः आत्मा भी।

आनन्दवर्धन से पूर्वआचार्यों द्वारा प्रस्तुत की गई काव्य की आत्मा विषयक विचारणाएँ इस समस्या के बहिर्वृत्त को भी स्पर्श नहीं कर सकी थीं। उच्चकोटि की कविता में अलंकारों के सद्भाव अथवा अभाव से कोई अन्तर नहीं पड़ता। कविता के ऐसे उदाहरण भी हैं जिनमें अलंकारों के अभाव में चित्ताकर्षण का गुण है और ऐसे भी जिनमें अनेक अलंकार हैं पर चित्ताकर्षण की सामर्थ्य नहीं है।

जहाँ तक गुण, रीति और वृत्ति का प्रश्न है, इनकी स्वतन्त्र अन्यनिरपेक्ष कोई भूमिका कविता में नहीं हैं। गुण रसविशेष से नियमित होते हैं अतः उनकी मूल्यवत्ता रस के संदर्भ में ही है। परिणामतः आनन्दवर्धन ने रस को काव्य का आत्मा कहा, पर ऐसा कहने में भी अनेक खतरे थे। तब रस का अर्थ परम्परागत 'विभावानुभाव • ' सूत्र में परिबद्ध समझा जाता था। आनन्दवर्धन का तात्पर्य इस प्रक्रिया से न था। इस कठिनाई को वे समझते थे। फिर प्राचीन आचार्यों ने विभिन्न काव्यों की उत्तमता की विभिन्न कोटियों का कोई विवेक नहीं किया था। आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त में इन दोषों का परिहार किया।

यह नही कहा जा सकता कि सभी कविताएँ समानरूप से उत्तम होती है। ध्वनिपूर्व काव्यसिद्धान्त इस उत्तमता की कोटियों के कोई निकष प्रस्तुत नहीं करते। ध्वनिसिद्धान्त निकष देता है। प्रतीयमान अर्थ के विविध प्रकार है। रस की प्रतीयमानता श्रेष्ठ है, परन्तु ऐसे भी काव्य-प्रकार है जिनमे रस अगभूत हो। यह काव्य प्रथम कोटि का नही कहा जा सकता; पर साथ ही, इसे काव्य की श्रेणी से बाहर भी कैसे रखा जा सकता है।

रस के अभाव मे भी सौन्दर्य हो सकता है। सौन्दर्य प्रतीयमानता का धर्म है अतः जहाँ रस प्रतीयमान नही है, कोई भाव अथवा विचार भी प्रतीयमान है वहाँ भी सौन्दर्य होगा। इस प्रकार आनन्दवर्धन ने अपने सिद्धान्त मे रस, भाव, अलंकार, विचार आदि की प्रतीयमानता का आख्यान कर सम्पूर्ण कविता को समेट लिया है।

रस ध्वनि का महत्त्व

ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत मे रस के महत्त्व को प्रतिपादित करने वाली कारिकाएँ हैं। ये रसादि अर्थ के अनुसरण, रसस्पर्श से अर्थों की अनुवृत्ति तथा अन्यान्य प्रतीयमान अर्थों की अपेक्षा रस रूप अर्थ की प्रधानता को ज्ञापित करती हैं। इससे यह निष्कर्ष भली भाँति प्राप्त किया जा सकता है कि आनंदवर्धन वस्तु अथवा अलकार रूप संलक्ष्यक्रमव्यंग्य की तुलना में रस रूप अर्थ को अधिक महत्त्व देते है।

कवि को विस्तृत रसादि रूप अर्थों का ही अनुसरण करना चाहिए क्योकि रसादि के आश्रय से परिमित काव्य-मार्ग भी अनन्त हो जाते हैं।[1] रसादि मे भाव, भावाभास, भावशान्ति आदि का भी समाहार है, अतः इन सबके अनुसरण का निर्देश दिया गया है। यदि रस भावादि के प्रत्येक के अपने-अपने विभावादि का अनुसरण किया जाय तो स्वभावतः काव्य-मार्ग अनन्त हो ही जाएँगे।[2] जिस प्रकार वसन्त ऋतु को पाकर वृक्ष नूतन से प्रतीत होते है (नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः) वैसे ही काव्य मे रस-परिग्रहण (रस-परिग्रहात्) मे पूर्वदृष्ट पदार्थ भी नूतन प्रतीत होते हैं[3] (नवा इवाभान्ति)।

---

१. युक्त्यानयानुसर्तव्यो रसादिर्बहुविस्तरः।
मितोऽप्यनन्ततां प्राप्तः काव्यमार्गो यदाश्रयात्॥
ध्व० (आ० वि०) पृ० ३४०

२. ध्व०...पृ० वही

३. ध्व० पृ० ३४१

यद्यपि व्यग्य-व्यजक भाव के अनेक प्रकार हैं तथापि आनन्दवर्धन के अनुसार रसादि रूप भेद विशेषत ध्यातव्य हैं।[1] नानारूपवाला व्यग्य-व्यजक भाव अर्थ-आनन्त्य का हेतु है। तब भी अप्रसिद्धि के लिए कवि (कविरपूर्वार्थलाभार्थी) को यत्न पूर्वक एव रसादिमय व्यग्य-व्यजक भाव मे अवधानवान होना चाहिए। यदि कवि रसादिमय अर्थ और उसके व्यजक वर्ण, पद, वाक्यादि के प्रयोग मे पूर्ण सावधान रहे तो उसका सम्पूर्ण काव्य ही अपूर्व हो जाता है[2] (कव सर्वमपूर्व काव्य सम्पद्यते)। रस के आश्रय से नूतनता के उदाहरणस्वरूप आनन्दवर्धन ने रामायण-महाभारत का उल्लेख किया है। इन महाकाव्यो मे युद्धादि का वर्णन अनेक बार किया गया है पर वह पिष्टपेषित-सा नही लगता, वरन् उनमे सर्वत्र हृदयस्पर्शिता है। रामायण-महाभारत के सारभूत कथन भी कही वाच्य-रूप मे प्रकट नही किए गए हैं। आनन्दवर्धन के अनुसार सारभूत कथन व्यग्यरूप मे प्रकाशित होकर ही शोभातिशय का हेतु बनता है[3]।

आनन्दवधन ने अनेक उदाहरणो के द्वारा दृष्टपूर्व अर्थों को रस के आश्रय से नूतनता प्रमाणित की है। कतिपय उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(१) शेषो हिमगिरिस्त्वञ्च महान्तो गुरव स्थिरा ।
यदलघितमर्यादाश्चलन्तीं बिभ्रथ भुवम् ॥[4]

(शेषनाग, हिमालय और तुम महान्, गुरु और स्थिर हो। क्योंकि मर्यादा का अतिक्रमण न करते हुए चञ्चल पृथ्वी को धारण करते हो।)

इसी भाव का व्यजक निम्नलिखित श्लोक है।

(२) वृत्तेऽस्मिन् महाप्रलये धरणीधारणायाधुना त्व शेष[5]

(इस महाप्रलय (पिता और भ्राता की मृत्यु रूप) के हो जाने पर पृथिवी (राज्यभार) को धारण करने के लिए अब तुम शेष (शेषनाग हो)।

---

१ व्यग्य-व्यजकभावेऽस्मिन्विधे सम्भवत्यपि ।
रसादिमय एकस्मिन्कवि स्यादवधानवान् ॥ वही पृ० ३४४

२ ध्व० (आ० वि) पृ० ३४४

३ ध्व० (आ० वि०) पृ० ३४६

४ वही पृ० ३४१

५ ध्व० (आ० वि०) पृ० १५६

इस श्लोक में राजा की उपमा शब्दशक्त्युद्भव अलंकार ध्वनि रूप में व्यंग्य है। इस व्यंग्य अलंकार रूप अर्थ के कारण यह श्लोक प्रथम की अपेक्षा नूतन एवं चमत्कारयुक्त है।

इसी प्रकार 'एवं वादिनि देवर्षौ' ' इत्यादि श्लोक में निम्नलिखित

(३) कृते वरकथालापे कुमार्यः पुलकोद्गमैः।
सूचयन्ति स्पृहामन्तर्लज्जयावनताननाः ॥[1]
(वर की चर्चा के अवसर पर लज्जावनत मुख वाली कुमारियाँ पुलक से आन्तरिक इच्छा को व्यक्त करती हैं।)

श्लोक की अपेक्षा अधिक चमत्कार है। 'एवं वादिनि....' आदि श्लोक में अर्थ-शक्त्युद्भव ध्वनि का आश्रय लिया गया है। द्वितीय में लज्जा और स्पृहा वाच्य रूप में कथित हैं। इसी प्रकार 'सज्जयति सुरभिमासो' आदि श्लोक निम्नलिखित श्लोक की अपेक्षा अपूर्व है—

(४) सुरभिसमये प्रवृत्ते सहसा प्रादुर्भवन्ति रमणीयाः।
रागवतामुत्कलिकाः सहैव सहकार कलिकाभिः ॥[2]
(वसन्त ऋतु के आने पर आम्रमंजरियों के साथ प्रणयी जनों को रम्य उत्कण्ठाएँ सहसा उत्पन्न होने लगती है।)

'सज्जयति सुरभिमासो....' आदि श्लोक में कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से मदन-विजृम्भणरूप वस्तु अर्थ प्रतीयमान है, इसी से इसमें चारुत्व आ गया है।

इसी प्रकार—

(५) करिणीवैधव्यकरो मम पुत्र एककाण्डविनिपाती।
हतस्नुषया तथा कृतो यथा काण्डकरण्डकं वहति ॥[3]
(एक ही बाण के प्रयोग से हथिनियों को विधवा करने वाले मेरे पुत्र को उस पुत्रवधू ने ऐसा कर दिया है कि वह अब तूणीर लादे घूमता है।)

उपर्युक्त श्लोक की अपेक्षा अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के कविनिबद्ध-वक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध होने के कारण निम्नलिखित श्लोक अधिक चारुत्वमय है—

(६) वणिजक हस्तिदन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तयश्च।
यावल्लुलितालकमुखी गृहे परिष्वङ्क्ते स्नुषा ॥[4]

---

१. ध्वन्यालोकः, (सं० आ० विश्वेश्वर) पृ० ३४२
२. वही, पृ० ३४३
३. वही, पृ० १६१
४. ध्व० (आ० वि०) पृ० १६१

(हे वणिक, जब तक चंचल अलकों से युक्त मुखवाली पुत्रवधू घर में घूमती है तब तक हमारे यहाँ हाथी दाँत और व्याघ्रचर्म कहाँ से आये।)

आनन्दवर्धन का मत है कि रस में तत्पर कवि के लिए प्रत्येक वस्तु उसकी इच्छा से, उसके अभिमत, रस का अंग बन जाती है। इस प्रकार रस के अंगरूप में उपनिबद्ध वस्तु चारुत्वातिशय का पोषण करती है। अतः सभी पदार्थों का रस के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। कवि जब रसादिमयता में तत्पर होता है तो गुणीभूतव्यंग्य ध्वनि भेद भी इसका अंग बन जाता है।[१]

इस अनन्त काव्य-जगत् में कवि ही प्रजापति है, यह विश्व उसकी इच्छा के अनुरूप ही परिवर्तित होता रहता है। यदि कवि रसिक (शृंगारी) है तो समस्त जगत् ही रसमय हो जाता है, यदि वह वीतरागी है तो जगत् नीरस हो जाता है। वस्तुतः जो कवि है, वह अपने काव्य में अचेतन को चेतन और चेतन को अचेतन सदृश प्रस्तुत कर सकता है—उनसे वैसा व्यवहार करा सकता है।[२]

सभी काव्यप्रकारों में रसादि की प्रतीति हो सकती है। परन्तु यह सम्भव है कि स्वयं कवि की रसादि की विवक्षा ही न हो। ऐसी अवस्था में यदि वह कवि अर्थालङ्कार अथवा शब्दालङ्कार की रचना करता है तो कवि की विवक्षा की दृष्टि से रस-शून्यता की कल्पना भी की जा सकती है। विवक्षित अर्थ ही काव्य-शब्द का अर्थ है, यदि कवि का विवक्षित अर्थ रसरूप नहीं है—फिर भी रस की कुछ प्रतीति होती है तो वह प्रतीति निर्बल होगी, इस दृष्टि से वह काव्य रस-शून्य होगा। रस आत्मा है अतः आत्मा से शून्य काव्य निर्जीव चित्र के समान है।[३] इसका तात्पर्य यह हुआ कि आनन्दवर्धन अलंकार और वस्तु रूप अर्थ का निबन्धन भी किसी न किसी रस अथवा भाव की छाया से युक्त मानते हैं। अलंकार अथवा वस्तुध्वनि में भी भाव का आधार रहता है। रस ध्वनि में जहाँ सहृदय कवि के विवक्षित अर्थ तक तत्काल पहुँचता है, अलंकार अथवा वस्तु ध्वनि में रस ध्वनि की अपेक्षा विलम्ब से। आनन्दवर्धन गुणीभूतव्यंग्य का पर्यवसान भी ध्वनि में मानते हैं—

---

१ तस्माद्यास्त्येव तद्वस्तु यत्सर्वात्मना रसतात्पर्यवतः कवेस्तदिच्छया तदभिमतरसांगता न धत्ते। तथोपनिबध्यमानं वा न चारुत्वातिशयं पुष्णाति सर्वमेतच्च महाकवीनां काव्येषु दृश्यते। ध्व० (आ० वि०) पृ० ३१२

२ ध्व० (आ० वि०) पृ० ३१२

३ रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
अलंकारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः॥ ध्व० (आ० वि०) पृ० ३११

(७) 'गुणीभूतव्यंग्योऽपि काव्यप्रकारो रसभावादितात्पर्यालोचने पुनः ध्वनिरेव सम्पद्यते ।'[1]

(गुणीभूतव्यंग्य नामक काव्यभेद रस आदि के तात्पर्य के विचार से फिर ध्वनिरूप हो जाता है।)

रस की परिभाषा

भारतीय काव्यशास्त्र में रस-निष्पत्ति-विवेचन का आधार भरत का 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' सूत्र है। नाट्यशास्त्र के भाष्यकार अभिनव ने इसे लक्षण-सूत्र[2] कहा है। रस की निष्पत्ति को स्पष्ट करते हुए भरत ने भोज्य रसों की उत्पत्ति के उदाहरण दिए हैं। इसी प्रसंग में—'रस इति कः पदार्थः' कहकर रस की परिभाषा अथवा स्वरूप का निरूपण भी किया गया है। प्रथम रस-स्वरूपविधायक सूत्र है—'आस्वाद्यत्वात्' अर्थात् आस्वाद्य होने से रस को 'रस' नाम से अभिहित किया जाता है। इस आधार पर रस का लक्षण आस्वादन का विषय भी होता है। जो भी रस होगा वह आवश्यक रूप से आस्वादन का विषय भी होगा। अतः रस के साथ आस्वादन का प्रसंग उसके मूल रूप के साथ ही जुड़ा है। परन्तु रस का आस्वादन कैसे होता है? भरत ने कहा है—'जैसे गुड़, द्रव्य तथा नाना ओषधियों से संस्कृत अन्न का भोग करते हुए प्रसन्नहृदय व्यक्ति हर्षादि का अनुभव करते हैं उसी प्रकार प्रसन्न प्रेक्षक विविध भावों एवं अभिनयों द्वारा व्यंजित—वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों से संयुक्त स्थायी भावों का आस्वादन करते हैं तथा हर्षादि को प्राप्त होते हैं—इसलिए नाट्य के माध्यम से आस्वादित होने के कारण ये नाट्यरस कहलाते हैं'।[3]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि भरत नाट्य के संदर्भ में रस, आस्वादन और अनुभूति तीनों का पृथक् वर्णन करते हैं। संस्कृत अन्न, उसका आस्वादन और आस्वादन का फल हर्षादि का अनुभव। इसी प्रकार रस, उसके आस्वादन और आस्वादन से उत्पन्न हर्षादि की अनुभूति का क्रम है। इन तीनों में कार्यकारण शृंखला स्पष्ट है। भरत का यह विवेचन पूर्णतः व्यावहारिक है, और इसके अनुसार रस, विभाव, अनुभाव और संचारियों के योग से रंगमंच पर निष्पन्न होता है। प्रेक्षक इस रस का आस्वादन करते हैं तथा हर्षादि का अनुभव करते हैं।

---

१. ध्व०··· (आ० वि०) पृ० ३०२

२. हिन्दी अभिनव भारती, पृ० ४४२

३. 'तथा नानाभावाभिनयव्यंजितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावनास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याताः'।

प्रेक्षक के आस्वादन के विषय मे भरत मुनि ने विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। भरत के मतानुसार रगमचगत प्रयोग का साध्य सिद्धि है। रगमच पर प्रस्तुत नाट्य के प्रति प्रेक्षक की दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती है—

(१) शारीरी अथवा मानुषी

और (२) दैवी

शारीरी प्रतिक्रिया मे प्रेक्षक के पुलकित होने, कम्प, उछालने आदि का वर्णन है—यह प्रतिक्रिया शारीरी सिद्धि है। दैवी सिद्धि मे प्रेक्षक भावमग्न हो जाता है—तन्मय हो जाता है। इस स्थिति मे उसके मुख मे कोई शब्द नही निकलता न कोई क्षुब्धता परिलक्षित होती है।[1] नाट्य-प्रयोग का लक्ष्य यही 'दैवी सिद्धि' है। इसी सिद्धि का साधन रस है। भरत के अनुसार यह रस और दैवी सिद्धि अर्थात् आनद एक ही वस्तु नही है।

भट्ट लोल्लट और शकुक (रस सूत्र के प्रथम दो व्याख्याता) ने रस की परिभाषा नहीं दी है वरन् रस-निष्पत्ति का ही विवेचन किया है। यह विवेचन नाट्य से जुडा है।

काव्य के सदर्भ मे दण्डी ने रस के भरत अनुमत रूप को स्वीकारते हुए रति स्थायीभाव की परिणति शृगार रस रूप मे प्रतिपादित की। डॉ० नगेन्द्र ने अपने 'रस-सिद्धान्त' ग्रन्थ मे भरत और दण्डी का मत उद्धृत करने के उपरात अभिनव के विवेचन को प्रस्तुत किया है। आनदवर्धन का वे छोड गए हैं, सभवत आनदवर्धन को ध्वनि-सप्रदायवादी मानकर। परन्तु जैसा कि कहा जा चुका है भरत के नाट्यसदर्भीय सूत्र के कविता के सदर्भ मे निर्भ्रान्त प्रयोक्ता तो आनदवर्धन ही है। अभिनव ने भी आनदवर्धन के सिद्धान्त का ही विस्तार किया है। रस के प्रसग मे हिन्दी अध्येताओ ने आनदवर्धन के मौलिक योगदान की सर्वथा उपेक्षा की है, उनका नाम लिया भी तो गौण रूप मे। अन्यथा नाट्य-रस के सदर्भ मे जो स्थान आद्य आचार्य भरत मुनि का है वही स्थान कविता के क्षेत्र मे रस-प्रतिष्ठापन करने वाले आनदवर्धन का है। रस की अभिव्यक्ति का सिद्धान्त आनदवर्धन ने प्रस्तुत किया है। रस की व्यग्यधर्मिता का प्रतिपादन आनदवर्धन की देन है। अभिनवगुप्त के रस-विवेचन की आधार भूमि ध्वन्यालोक ही है।

रस की परिभाषा के सम्बन्ध मे आनन्दवर्धन भरत मुनि से दूर नहीं है।

जैसे भरत मुनि ने नाट्य मे रस माना है, आनदवर्धन काव्य मे प्रतीयमान अर्थ रूप मे रस मानते है। नाट्य मे जैसे प्रत्यक्ष विभावानुभावो के द्वारा स्थायीभाव

---

१ न शब्दो यत्र न क्षोभो न चोत्पातनिदर्शनम्।
सपूर्णता च रगस्य दैवी सिद्धिस्तु सा स्मृता॥ ना० शा०

व्यंजित होता है, वैसे ही काव्य में रस प्रतीयमान अर्थ के रूप में व्यंजित होता है। नाट्य में तो प्रेक्षक की आँखों के सामने पूरा नाट्य व्यापार होता है, काव्य में यह अर्थ रूप ही हो सकता है। इसी रसरूप अर्थ की व्यंजना सहृदय में होती है। अतः आनंदवर्धन के अनुसार रस अर्थरूप है। असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के प्रसंग में लिखा है—

'रसादिरर्थो हि सहैव वाच्येनावभासते'[1]

(रसादिरूप अर्थ वाच्य के साथ ही-साथ प्रतीत होता है) यह रसादि रूप अर्थ महाकवियों की वाणी में उपस्थित रहता है—

'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।'[2]

महाकवियों की वाणी में यह रसरूप अर्थ उनकी अपनी [illegible] 'कलात्मक परिणति' होता है। महाकवियों का भाव ही प्रतीयमान रस रूप अर्थ में व्यक्त होता है। तब यही रसरूप अर्थ सहृदय में अभिव्यक्त होकर चमत्कार उत्पन्न करता है। अतः रस चमत्कार का हेतु है। गुणों के प्रसंग में भी आनन्दवर्धन ने स्पष्ट कहा है—

शृङ्गार एव रसान्तरापेक्षया मधुरः प्रह्लादहेतुत्वात्[3]

अतः रस स्वयं प्रह्लाद नहीं, उसका हेतु है। आनन्दवर्धन ने काव्य, रस, आस्वादन और अनुभव के क्रम को तर्कसम्मत ही रखा है। काव्य एक स्वतन्त्र जीवन्त अस्तित्व है, रस इस काव्य की आत्मास्वरूप है। वस्तुतः काव्य का चैतन्य अंश उसका अर्थ ही है। इसीलिए रस रूप अर्थ को—

'काव्यस्यात्मा स एवार्थः'[4]

कहा गया है। आनन्दवर्धन के उपर्युक्त विवेचन में रस का स्वरूप ही उभरता है—'रस क्या है'—इसका उत्तर नहीं मिलता। यदि देना ही चाहें तो कहा जा सकता है कि कविता पढ़ने पर वाच्यार्थ के साथ-साथ ही सी जिस अर्थ की अभिव्यक्ति में सहृदय को चमत्कार की प्रतीति होती है वह चमत्कृत करने वाला अर्थ रस है। स्पष्ट ही उपर्युक्त धारणा भरत की नाट्यरस-धारणा के अनुकूल है।

नाट्यशास्त्र के अभिनव-भारती भाष्य में परम माहेश्वर अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन के उपर्युक्त मत को स्वीकार किया है। अभिनव ने लिखा है—'तत्काव्यार्थो रसः'[5]

---

१. ध्व०, २.३
२. ध्व० १.४
३. ध्व० २.७
४. ध्व० १.५
५. हि० अ० भा०, पृ० ४७०
का०—५

अर्थात् वही काव्यार्थ रस है। काव्यात्मक वाक्य से अधिकारी सहृदय को रसात्मक व्यग्यार्थ की प्रतीति होती है। अभिनव के एतत्सम्बन्धी मत का साराश निम्नलिखित है—

(१) काव्यार्थ रस है।

(२) निर्मल प्रतिभाशाली हृदय वाला अर्थात् सहृदय इस काव्यार्थ रूप रस का अधिकारी है। (अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदय)[१]

(३) सहृदय को 'ग्रीवाभगाभिराम', 'उमापि नोलालक', 'हरस्तु किंचित्' आदि श्लोको से वाक्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर। (इत्यादि वाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तर)[२]

(४) मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति होती है (मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीतिरुपजायते।)[३]

(५) यह प्रतीति उस—उस वाक्य मे गृहीत कालादि की उपेक्षा वाली होती है। (अपहसिततत्तद्वाक्योपात्तकालादिविभागा।)[४]

आनन्दवर्धन वाक्यार्थ के प्राय साथ-साथ रसादि अर्थ की प्रतीति मानते हैं अभिनव ने वाक्यार्थ के अनन्तर (वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तर) उस रसरूप अर्थ की प्रतीति का प्रतिपादन किया है। यहाँ तक अभिनव ने भी रस को आस्वाद्य ही माना है। निर्विघ्न प्रतीति को तो अभिनव भी चमत्कार मानते हैं—'सा चाविघ्ना सवित् चमत्कार'[५]

रस चमत्कार नहीं है चमत्काररूपा प्रतीति का हेतु है। वस्तुत यहाँ अभिनव ने भरत और आनन्दवर्धन के मत के अनुकूल ही अपना भाष्य भी रचा है।

रस का स्वरूप

आनन्दवर्धन ने रस प्रसग को इसके वास्तविक त्रिकोण मे विवेचित किया है। यह त्रिकोण है—कवि, काव्य और सहृदय का। रस के स्वरूप की व्याख्या इन्हीं तीनो के सन्दर्भ मे की गई है। कवि के सन्दर्भ में रस उसकी अनुभूति का परिचायक है। कवि की अनुभूति रसरूप अर्थ मे परिणत होकर काव्य कहलाती

१ हि० अ० भा०, पृ० ४७०
२ ,, ,, ,, ,, ,,
३ ,, ,, ,, ,, ,,
४ ,, ,, ,, ,, ,,
५ ,, ,, ,, ,, ४७१

है। महाकवियों की वाणी रूप काव्य में यह प्रतीयमान रस वैसे ही भासित होता है जैसे अंगनाओं का लावण्य उनके प्रसिद्ध अंगों से भिन्न ही 'कुछ' प्रतीत होता है। महाकवियों की वाणी में प्रकट होकर यह उनकी प्रतिभा के वैशिष्ट्य को प्रकट करता है—

सरस्वतीस्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥[1]

(उस (प्रतीयमान रसभावादि) अर्थतत्त्व को प्रवाहित करने वाली महाकवियों की वाणी (उनके) अलौकिक प्रतिभासमान प्रतिभा के वैशिष्ट्य को प्रकट करती है।)

रस सदैव व्यंग्य-स्वरूप होता है। यह रस का स्वरूपगत वैशिष्ट्य है। रस वाच्य की सामर्थ्य से आक्षित अवश्य होता है, परन्तु वह साक्षात् शब्द-व्यापार का विषय नहीं होता। यदि रस की वाच्यता हो सकती है तो दो ही प्रकार से। प्रथम प्रकार की वाच्यता, रस अर्थात् शृङ्गारादि शब्दों के प्रयोग द्वारा हो सकती है। द्वितीय वाच्यता विभावादि के प्रयोग द्वारा हो सकती है। परन्तु यह देखा गया है कि रस की प्रतीति विभावमुखेन ही होती है। केवल रस अथवा शृङ्गार, वीर आदि शब्दों के प्रयोग से रस को प्रतीति नहीं होती। इसके विपरीत यदि रस अथवा शृङ्गार, वीर आदि शब्दों का प्रयोग न भी हो और विभावादि का वर्णन हो तो रस की प्रतीति होती है। अतः रसादि वाच्य की सामर्थ्य से आक्षित तो होते हैं, स्वयं वाच्य नहीं होते।[2] काव्य में चैतन्य का प्रवाह करने वाला रस ही है। आनन्दवर्धन ने इसीलिये कहा है—

'काव्यस्यात्मा स स्वार्थः'

सहृदय के नेत्रों के लिए यह प्रतीयमान अर्थरूप रस अंगनाओं के सौन्दर्यसदृश अमृततुल्य होता है।[3] काव्यार्थतत्त्व से विमुख रहने वालों को इस अर्थरूप रस की प्रतीति नहीं होती।

'रस' चारुत्व (सौन्दर्य) रूप है, वह आस्वाद का विषय है। 'स्वादु' से आनन्दवर्धन का यही अभिप्राय है। रस की प्रतीति चमत्काररूपा है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने रस के स्वरूप के विषय में जो कुछ कहा है, उसमें अलौकिकत्व जैसा कुछ भी नहीं है, वह काव्य के सन्दर्भ में पूर्णतः व्यावहारिक है।

---

१. ध्व०, (आ० वि०,) पृ० ३१
२. साहित्यदर्पण, ३-२-३
३. डा० नगेन्द्र, रससिद्धान्त, पृ० ८७

भट्टनायक ने रस के आस्वाद को 'ब्रह्मास्वाद' सदृश कहा। इस प्रकार रस के आस्वादन के सम्बन्ध में सर्वप्रथम दार्शनिक शब्दावली का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। अभिनवगुप्त की एतद्विषयक मान्यताओं में आनन्दवर्धन और भट्टनायक की विचारणाओं तथा शैव दर्शन का मिश्रण है। अभिनव रसानुभूति को आह्लादमय कहते हैं, अलौकिक चमत्कार स्वरूप मानते हैं और उसे आत्मास्वादरूप ब्रह्मास्वाद के समकक्ष भी प्रतिपादित करते हैं। वस्तुतः ये कथन रसास्वाद के लिए ही हैं, परन्तु आस्वादन की स्थिति में आस्वाद्य आस्वादयिता और आस्वाद में अभेद मानते हुए अभिनव ने रस को भी आस्वाद कह दिया, परिणामतः रसानुभूति के स्वरूप के विषय में जो कुछ कहा गया था वही 'रस' के लिए भी कहा जाने लगा। परन्तु रसानुभूति के स्वरूप में आनन्दघन ग्रथित चमत्कार की धारणा परवर्ती आचार्यों के मतों में निरन्तर बनी रही। यही धारणा वस्तुतः केन्द्र-बिन्दु है जिसके चतुर्दिक् अन्य शब्दों का जाल रचा गया।

कविराज विश्वनाथ का—

> सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
> वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥
> लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
> स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥

यह श्लोक रस-स्वरूप विषयक माना गया है। डॉ० नगेन्द्र ने इस 'रस-स्वरूप विषयक व्याख्यान विश्लेषण' कहा है। वस्तुतः रस के आस्वादन के समय चित्त की अवस्था क्या होती है, किस प्रकार रसास्वादन के क्षणों में अन्य अनुभूति नहीं रहती, चित्त कैसा अनुभव करता है, आदि रसास्वाद स्वरूप विषयक आख्यान कविराज विश्वनाथ ने उपर्युक्त श्लोक में किया है। रस और 'रस की अनुभूति' को एक मान लेने के कारण इसे रस का स्वरूप कहा गया है। कविराज विश्वनाथ ने उपर्युक्त कारिका में स्पष्ट कहा है—'अयमास्वाद्यते रसः'। यही सत्य है। परन्तु यह कथन कविराज को अभिनव के मत के अनुकूल नहीं लगा, यद्यपि यह उनका स्वयं का मत है। अतः वृत्ति में उन्होंने इतने स्पष्ट और तर्क-सम्मत मत को पुनः अभिनव के अनुकूल करने के लिए लम्बा शास्त्रार्थ प्रस्तुत किया है।

काव्यास्वाद के सम्बन्ध में कविराज ने प्राचीन आचार्यों की यह उक्ति—'स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः' उद्धृत की है। इसका अर्थ है 'काव्यार्थ के ज्ञान से आत्मानन्द जैसा अनुभव स्वाद है। यह उक्ति दशरूपककार धनंजय—धनिक की है। धनंजय—धनिक ने रस और इतर आस्वाद की एकरूपता सिद्ध करने के लिए यह पंक्ति नहीं कही है। कविराज ने इसका प्रयोग रस को आस्वाद से अभिन्न सिद्ध करने के लिए किया है।

दशरूपककार का पूरा श्लोक निम्नलिखित है—

> स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः ।
> विकासविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः ॥
> शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात् ।
> हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां स एव हि ॥
> अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम् ।[1]

उपर्युक्त श्लोक में स्वाद को चतुर्विध कहा गया है, रस अष्टविध (शृङ्गार, वीर, बीभत्स, रौद्र, हास्य, अद्भुत, भयानक और करुण) कहे गये हैं । यदि रस और आस्वाद अभिन्न हैं तो चार और आठ का क्या तात्पर्य ? अतः दशरूपककार की उपर्युक्त कारिका से तो रस और आस्वाद का भेद ही सिद्ध होता है । कविराज ने प्रथम पंक्ति के आधार पर अपना मन्तव्य सिद्ध करने की चेष्टा की है । कविराज का मत है कि जिसे रस कहते हैं वह आस्वाद के अतिरिक्त कुछ नहीं है । तब भी 'रस का आस्वादन किया जाता है' जैसे वाक्यों में रस और आस्वादन को भिन्न माना जाता है । अभेद में भेद का कल्पना के अन्य उदाहरण भी लोक में मिल ही जाते हैं, पर यह भेद काल्पनिक ही होता है । अतः रस और उसके आस्वाद में जहाँ भेद ज्ञात हो वहाँ कविराज के अनुसार इस भेद को औपचारिक ही माना जाना चाहिये । इसी को अन्य प्रकार से स्पष्ट करने के लिये 'रसः स्वाद्यते' में विश्वनाथ कर्मकर्तरि क्रिया मानने का निर्देश करते हैं । परन्तु 'रसः स्वाद्यते' का अनुवाद होगा 'रस स्वयं ही अपने से अभिन्न आस्वाद का विषय हुआ करते हैं' ।[2] यदि रस और आस्वाद अभिन्न हैं तो रस आस्वाद का विषय कैसे होगा ? इसलिए कविराज का मत तो हमें 'अयमास्वाद्यते रसः' ही प्रतीत होता है । कविराज ने इस मत को परम्परागत धारणा के अनुसार संगति देने की चेष्टा अवश्य की है ।

जिन आचार्यों ने काव्य में रस विषयक धारणा को आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार विकसित किया उनके विवेचन में इस प्रकार का प्रपंच नहीं है । मम्मट के रस-विवेचन में रस के स्वरूप के विषय में सपाट कथन हैं । परन्तु जिन आचार्यों ने अभिनव के अनुसार रसविवेचन किया उन्हें 'रस' और आस्वाद की अभिन्नता पर भी लिखना पड़ा । यह ठीक है कि रस के अस्तित्व की प्रतीति उसके आस्वादन में है, पर इससे ही रस आस्वाद से अभिन्न कैसे हो गया? अभिनव की

---

१. दशरूपकम्, ४-४३
२. साहित्यदर्पण, ३-३ की वृत्ति
३. " "

निम्न उद्धृत पंक्ति से भी यही सिद्ध होता है कि वे रस के आस्वाद को ही अलौकिक चमत्कार स्वभाव वाला मानते हैं—

'तेनालौकिकचमत्कारात्मा रसास्वाद '

अत 'रस' और 'आस्वाद' को अभिन्न मानकर एक के स्वरूप का दूसरे पर आरोपण करने मे भ्राति ही उत्पन्न होती है। कविराज विश्वनाथ ने रस और आस्वाद के भेद को उपचारजन्य माना है। हमारा नम्र निवेदन है कि वस्तुत दोनों का अभेद कथन ही उपचार है। रस के आस्वादन में तन्मय व्यक्ति दोनों का भेद नहीं कर पाता। लोक मे भी इस प्रकार के अभेद-कथन देखे-सुने जाते हैं—ये उपचारमूलक ही होते हैं।

निष्कर्षत कविता के रस का स्वरूप वही हो सकता है, जो आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक मे प्रस्तुत किया है और आचार्य मम्मट ने जिसका पुनराख्यान किया है—

(१) रस सदैव प्रतीयमान स्वरूप वाला है।
(२) कविता मे रस का स्वरूप आत्मा सदृश है।
(३) रस चारुत्वरूप है।
(४) रस आस्वादन का विषय है।
(५) रस के आस्वादन में सहृदय चमत्कार का अनुभव करता है।

रस का स्थान

यद्यपि रस की स्थिति के विषय में अधिक ऊहापोह का अवसर नहीं है, तथापि संस्कृत काव्यशास्त्र में—इस सन्दर्भ मे—विभिन्न मत उपलब्ध हैं। भरत के अनुसार नाट्य में रस की स्थिति है। लोल्लट ने मूल ऐतिहासिक पात्रों मे रस माना है। शंकुक ने कविनिबद्ध पात्रों मे रस स्वीकार किया है। अभिनव ने कवि, काव्य और सहृदय मे रस की स्थिति प्रतिपादित की है। रस की इस त्रिकोणात्मक प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए अभिनव ने रूपक का आश्रय लिया है।

अभिनव ने काव्य-प्रक्रिया के मूल मे कविगत रस का महत्त्व माना है। जैसे वृक्ष की उत्पत्ति के लिए बीज आवश्यक है वैसे ही काव्य के लिए कविगत रस अपरिहार्य है। इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए अभिनव कहते हैं—

'बीजस्थानीया कविगता रसा '

इसी कविगत रसरूप बीज से काव्य रूपी वृक्ष उत्पन्न होता है, जैसे बीज का सत्त्व सम्पूर्ण वृक्ष मे प्रवाहित रहता है वैसे ही कविगत रस काव्य मे निहित रहता है—

'ततो वृक्षस्थानीयम् काव्यम्'

पुष्पों से वृक्ष की सरसता का ज्ञान होता है, पुष्पों से वृक्ष की शोभा बढ़ती है, इसी प्रकार अभिनयादि व्यापार से काव्य की जीवंतता प्रकाशित होती है—

"तत्र पुष्पादिस्थानीयो अभिनयादिव्यापारः'

परन्तु जैसे वृक्ष के अस्तित्व की सिद्धि उसके सफल होने में है वैसे ही काव्य की सफलता-सिद्धि सामाजिक द्वारा उसके रसास्वाद किये जाने में है। अतः सामाजिक का रसास्वाद फलस्थानीय है—

'तत्र फलस्थानीयाः सामाजिकरसास्वादाः'

इस प्रकार अभिनवगुप्त ने क्रम से कवि, काव्य और सामाजिक में रस माना है। यदि काव्य में रस न हुआ तो आस्वाद भी सम्भव न होगा। अभिनव का उपर्युक्त विवेचन ही सत्य है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि अभिनव रस और आस्वाद को अभिन्न नहीं मानते। उनके रस और अस्वाद की अभेदता का प्रतिपादन करने वाले कथन औपचारिक ही हैं।

डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है—'अभिनव···उसका स्थान निश्चय ही सहृदय का चित्त या आत्मा है[1]' अभिनव के उपर्युक्त स्पष्ट मत के पश्चात् केवल सहृदय के चित्त में रस का स्थान मानना तर्कसम्मत नहीं है? अभिनव ने सामाजिक से रस के आस्वाद का सम्बन्ध बतलाया है। इस रसास्वाद अथवा काव्यास्वाद का स्वरूप आत्मास्वाद सदृश कहा जाना भी ठीक है। आस्वादन सहृदय के चित्त में होता है, यह भी ठीक है। परन्तु जब रस को आस्वाद ही कह दिया जाता है तब असंगतियाँ उत्पन्न होने लगती हैं। डॉ० नगेन्द्र को भी रस को आत्मानन्द स्वरूप मानने में आपत्ति है। यह आपत्ति निरस्त हो जाती है जब रसास्वाद को आत्मानन्द सदृश माना जाता है और रस को उसका हेतु।

अभिनव जैसा तत्त्वदर्शी इस विसंगति को न समझे, ऐसा नहीं है। इसीलिये रूपक द्वारा उन्होंने रस-प्रसंग को स्पष्ट किया है, इसके रहते रस और आस्वाद को अभिन्न मानने का अवसर ही कहाँ आता है।

अभिनव के जिस विवेचन को यहाँ उद्धृत किया गया है उसका आधार आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक ग्रन्थ ही है। ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में ही आनन्दवर्धन ने कविगत भाव की परिणति काव्यगत रस में प्रतिपादित की है—

काव्यस्यात्मा सहि स्वार्यस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥[2]

---

१. डॉ० नगेन्द्र, रससिद्धान्त पृ० १८७
२. ध्व० १-५

(काव्य का आत्मा वही (प्रतीयमान रस) अर्थ है। इसी से प्राचीन काल में क्रौंच (पक्षी) के जोड़े के वियोग से उत्पन्न आदिकवि वाल्मीकि का शोक श्लोक (काव्य) मे परिणत हुआ।)

वाल्मीकि के हृदय मे, मृत सहचरी के लिये विलाप करने वाले क्रौंच को देखकर, शोक का तीव्र आवेग उत्पन्न हुआ। *वही उनकी अनुभूति काव्य मे परिणत हुई।* काव्य मे व्यक्त होकर वह करुण रस कहलाई। इस करुण का बीज वाल्मीकि का भाव है। इसी बीज का सार तत्त्व वाल्मीकि के काव्य मे अनुस्यूत है। अभिनव का रस-रूपक इसी आधार-भूमि मे प्रेरित प्रतीत होता है।

कवि अपने अनुभूत रस के अनुकूल गुणो से युक्त स्वनिमो (Phonemes) का प्रयोग करता है। इस प्रकार रस के आश्रित रहने वाले गुणो से युक्त काव्य सहृदय मे भी उसी रस की अभिव्यक्ति करता है। काव्य मे उपस्थित गुण के अनुरूप ही सामाजिक का मन आर्द्रता, दीप्ति अथवा प्रकाश की अनुभूति करता है।[1] इस प्रकार कवि, काव्य और सहृदय मे रस की स्थिति का आख्यान आनन्दवर्धन ने किया है। आनन्दवर्धन के ही अनुकरण स्वरूप अभिनव ने 'तत्काव्यार्थो रस' कहा है। क्या अर्थ, काव्य से भिन्न रह सकता है? जब यहाँ अर्थ रस है तो इसका स्थान काव्य मे मानना ही होगा। और जब काव्य मे रस मान लिया गया तो उसे आस्वाद से भिन्न भी स्वीकार करना ही होगा। इस तर्कणा को स्वीकार करने के बाद रसास्वाद को 'आत्मास्वाद' अथवा ब्रह्मास्वादवत् मानने मे कोई असंगति नही रह जाती।

'रससिद्धान्त' ग्रन्थ मे डॉ० नगेन्द्र निष्कर्षत लिखते है—'अतएव रस की स्थिति कवि के हृदय मे मानना उतना ही अनिवार्य है जितना सहृदय के मन मे। क्योंकि यदि कवि के कथन मे रस नही है तो सहृदय के हृदय मे रस सुप्त पड़ा रहेगा।' उपर्युक्त कथन की तीन उपपत्तियाँ हैं—

(१) कवि के हृदय मे रस की स्वीकृति।
(२) कवि के कथन अर्थात् काव्य मे रस की स्वीकृति।
(३) सहृदय मे रस की स्वीकृति।

ये तीनों ही स्वीकृतियाँ ध्वनिसिद्धान्त-प्रतिपादित रस की धारणा को ग्रहण करती हैं। जिस रसशास्त्र में ये धारणायें हैं, वह, असलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि का रसशास्त्र है, कोई अन्य नही। साथ ही इससे रस- और आस्वाद का पार्थक्य भी प्रतिपादित हो जाता है।

---

१ ध्व०, (आ० वि०), पृ० ६५-६६

डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने 'आनन्दवर्धन' ग्रन्थ की भूमिका में यह प्रतिज्ञा की है कि वे मूल ध्वन्यालोक के अनुसार ही ग्रन्थ में विषय का प्रतिपादन करेंगे। परन्तु गुण के प्रसंग में वे लिखते हैं 'रस न कविनिष्ठ है, न काव्यनिष्ठ, वह एकमात्र सहृदयनिष्ठ है।'[1] यह स्थापना आनन्दवर्धन के अनुकूल नहीं है; न यह व्यवहार में ही प्रमाणित है। जैसा कि उपर्युक्त विवेचन में स्पष्ट किया जा चुका है, आनन्दवर्धन के अनुसार तो रस की स्थिति कवि, काव्य और सहृदय तीनों में है।

रस-निष्पत्ति

भरत मुनि के रस-सूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्द सर्वाधिक विवादास्पद रहे हैं। विभिन्न आचार्यों ने इन शब्दों के पृथक्-पृथक् अर्थ किए। भट्ट लोल्लट, शंकुक और भट्टनायक इन तीन आचार्यों के मतों को अभिनवगुप्त ने 'लोचन' और अभिनव भारती में उद्धृत किया है।

भट्ट लोल्लट ने 'संयोग' और 'निष्पत्ति' की तीन [illegible] व्याख्याएँ की हैं अतः इन शब्दों के तीन-तीन अर्थ हैं। विभावों और स्थायिभावों का, अनुभावों और स्थायिभाव का, संचारी और स्थायिभाव का सम्बन्ध, संयोग शब्द द्वारा [illegible] होता है। विभावों और स्थायिभाव में 'उत्पाद्य-उत्पादक-भाव सम्बन्ध है, इस सन्दर्भ में निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति है। अनुभाव और स्थायिभाव में गम्य-गमक-भाव सम्बन्ध है तथा इस प्रसंग में निष्पत्ति का अर्थ है [illegible]। संचारी भाव और स्थायिभाव में पोष्य पोषक-भाव सम्बन्ध है तथा इस दृष्टि से निष्पत्ति [illegible] 'उपचिति'।

शंकुक ने निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति और संयोग का अर्थ अनुमाप्य-अनुमापक-भाव सम्बन्ध किया है।

भट्टनायक ने निष्पत्ति का अर्थ 'भुक्ति' तथा 'संयोग' का अर्थ भोज्य-भोजक-भाव सम्बन्ध माना है। इन मतों की पूर्ण व्याख्या रस से सम्बन्धित प्रत्येक ग्रन्थ में दी गई है, उसे उद्धृत करने की आवश्यकता यहाँ नहीं है।

भट्ट लोल्लट और शंकुक की व्याख्यायें नाटक से सम्बन्धित हैं, उनमें मंच, पात्र, नट, अभिनय-व्यापार आदि सभी का उपयोग किया गया है। कविता के लिए ये व्याख्यायें संगत नहीं हैं। 'संयोग' और 'निष्पत्ति' की कविता के सन्दर्भ में व्याख्या आचार्य आनन्दवर्धन ने की है।

आनन्दवर्धन के अनुसार निष्पत्ति का अर्थ है अभिव्यक्ति और संयोग का अर्थ है व्यंग्य-व्यंजक-भाव सम्बन्ध। विभावादि व्यंजक हैं; रस व्यंग्य। रस शब्दों के

---

१. डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, आनन्दवर्धन, पृ० २६३

द्वारा वाच्यार्थ रूप मे व्यक्त नहीं होता, वह सर्वत्र व्यग्य ही होता है। रस अथवा भाव की प्रतीति विभावादि के प्रतिपादन द्वारा ही होती है, वे साक्षात् शब्द-व्यापार के विषय नहीं होते। कामायनी की निम्नलिखित पक्तियो का परीक्षण करें—

> लाली बन सरल कपोलों मे
> आँखों में अजन सी लगती,
> कुंचित अलकों सी घुँघराली,
> मन की मरोर बनकर जगती।

उपर्युक्त कविता पक्तिया मे 'लज्जा' भाव साक्षात् शब्द-व्यापार का विषय नही है, अनुभावों के द्वारा ही उसकी प्रतीति हो रही है। लज्जा का जब प्रादुर्भाव होता है, कपोलों पर हल्की-सी लालिमा छा जाती है, नयनो मे ऐसी तरलता, ऐसा विलास भाव आ जाता है जो सामान्यत अञ्जन लगाने मे उत्पन्न होता है। अन्तिम दो पक्तियो मे उपमा अलङ्कार वाच्य है, इसके द्वारा लज्जा-भाव को साकार किया गया है। इसी प्रकार सस्कृत के इस बहूद्धृत श्लोक मे—

> एव वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
> लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

(देवर्षि (नारद) के ऐसा कहने पर, पिता के पार्श्व मे नीचा मुख किए बैठी पार्वती लीलाकमल की पखुड़ियाँ गिनने लगी।)

नारद ने पार्वती के महादेव के साथ विवाह की चर्चा की थी। स्वभावत पार्वती के मन मे लज्जा-भाव उदय हुआ। लीलाकमल के पत्तो को गिनना (स्वय को व्यस्त दिखलाने का प्रयत्न) तथा मुख नीचा करना लज्जा के अनुभाव हैं। यहाँ भी लज्जा-भाव की प्रतीति अनुभावमुखेन हो हुई है। अत यह स्पष्ट है कि कविता में रस अथवा भाव की प्रतीति 'रस' अथवा किसी रसविशेष के नाम के प्रयोग से नहीं होती वरन् विभावों के प्रयोग द्वारा होती है। विभाव भी उसे साक्षात् शब्द-व्यापार से व्यक्त नहीं करते वरन् वह साक्षात् शब्द-व्यापार के सामर्थ्य से आक्षिप्त होते हैं। वाच्यार्थ का इस प्रतीति मे महत्त्व है। जैसे आलोक को चाहने वाले व्यक्ति को दीपशिखा में यत्न करना पड़ता है, वैसे ही व्यग्यार्थ मे आदर रखने वाले कवि को वाच्यार्थ के प्रति यत्नवान् होना पड़ता है।[1] जैसे पदो के अर्थ के द्वारा वाक्यार्थ की प्रतीति होती है वैसे ही व्यग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थपूर्वक होती है।[2]

---

१ आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जन ।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृत ॥ ध्व० १-९

२ यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थं सम्प्रतीयते ।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुन ॥ १-१०

अतः रस-व्यंग्य है तथा विभावों के द्वारा व्यंजना व्यापार से इसकी अभिव्यक्ति होती है।

भट्टनायक ने रस की अभिव्यक्ति का खंडन किया है। नायक के अनुसार रस की भुक्ति होती है। इस भुक्ति के लिए उन्होंने साधारणीकरणात्मना भावकत्व व्यापार और साधारणीकृत तथा रसरूप में परिणत अर्थ के भोग के लिए भोजकत्व-व्यापार की कल्पना प्रस्तुत की। भट्टनायक ने उत्पत्ति और प्रतीति का भी खंडन किया था।

प्रमाण के अभाव में भावकत्व और भोजकत्व को अमान्य करते हुए अभिनव ने आनन्दवर्धन के रसाभिव्यक्तिवाद को पुनः प्रतिष्ठित किया। संसार में दो प्रकार के पदार्थ होते हैं—

(१) जिनकी उत्पत्ति होती है अर्थात् अनित्य।

(२. दूसरे सत् होते हैं, इनकी अभिव्यक्ति होती है।

यदि रस की उत्पत्ति नहीं मानी जाती तो उसे नित्य मानना होगा, परन्तु रस नित्य नहीं है। यदि अभिव्यक्ति नहीं मानी जाती तो रस को असत् कहना होगा, परन्तु रस अनुभव सिद्ध है। संसार के सभी पदार्थों का अन्तर्भाव नित्य-अनित्य और सत्-असत्, इन दो कोटियों में हो जाता है। रस की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति दोनों का निषेध करने पर उसका अस्तित्व ही असिद्ध हो जाएगा। परन्तु रस है, अतः उसकी अभिव्यक्ति ही माननी होगी क्योंकि वह नित्य नहीं है।

भट्टनायक के भावकत्व-व्यापार जनित कार्य की सिद्धि अभिनव ने ध्वनन अथवा व्यंजना व्यापार से प्रमाणित की है।

'तस्माद्व्यंजकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालंकारौचित्यादिक-
येतिकर्त्तव्यतया काव्यं भावकं रसान् भावयति'[1]

(अर्थात् अतएव व्यंजकत्व नाम के व्यापार से गुण तथा अलङ्कार के औचित्य वाली इतिकर्तव्यता से भावक काव्य रसों को भावित करता है।)

अभिनव रस-भोग में भी पृथक्-व्यापार की अपेक्षा नहीं मानते। अलौकिक द्रुति, विस्तार और विकासात्मक भोग के अलौकिक कर्तृत्व में भी ध्वनन-व्यापार की मूर्धाभिषिक्तता उन्हें अभिप्रेत है। रस के व्यंग्य होने से उसका भोग स्वतः सिद्ध है—

'भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते अपि तु घनमोहान्धसंकटतानिवृत्तिद्वारेणास्वादापरनाम्नि अलौकिके द्रुतिविस्तरविकासात्मनि भोगे कर्तृत्वे लोकोत्तरे ध्वनन

१. ध्व०, (सं० महादेवशास्त्री), द्वि० उ०, पृ० १८६

व्यापार एव मूर्धाभिषिक्त । तच्चेद भोगकृत्त्व रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे दैवसिद्धम्'[1]

निष्कर्षतः अभिनव कहते हैं—'तस्मात् स्थितमेतत्-अभिव्यज्यन्ते रसा प्रतीत्यैव च रस्यन्त इति'।[2] अभिनव ने आनन्दवर्धन की प्रतीयमान भाव की कल्पना को ही विकसित किया है। उन्होंने अभिनव-भारती मे लिखा है—

'सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रस'

(अर्थात् प्रत्येक दशा मे आस्वादात्मक एव निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस है।)

इसका आशय यह हुआ है कि काव्य मे भाव का प्रकटीकरण ऐसा होना चाहिए कि वह प्रमाता के चित्त को निर्विघ्न प्रतीति के योग्य बना दे। भाव का इस प्रकार प्रकटीकरण प्रतीयमानरूप मे ही सम्भव है। कवि की अनुभूति, उसका भाव प्रतीयमान होकर वैयक्तिक राग-द्वेष से, देश से मुक्त हो जाता है। यह विशुद्ध भाव ही सहृदय द्वारा ग्रहण किया जाता है। इसी प्रतीयमान भाव मे वह शक्ति है कि सहृदय का चित्त निर्विघ्न हो सके। इस प्रकार अभिनव आनन्दवर्धन की प्रतीयमान अर्थविषयक धारणा को ही प्रमाणित करते है। उपर्युक्त उद्धरण मे 'ग्राह्य भाव एव रस' ध्यातव्य है। इसमे अभिनव ने रस को आस्वाद्य ही माना है। अभिनव साहित्य मे अधिक उदाहरणीय रस को आस्वाद्य मानने वाले हैं।

परन्तु शुद्ध शैवाद्वैत की भावना से प्रेरित अभिनव आनन्दमय प्रतीति को भी रस कहते हैं। यह वस्तुत आस्वाद की दृष्टि से, सामाजिक की दृष्टि से कथित विचार है। आस्वादन इतना तन्मयरूप, निर्विघ्न होता है कि आस्वादन के क्षणो मे आस्वाद्य रस, आस्वादन व्यापार और आस्वादयिता सहृदय मे अखण्ड एकरूपता हो जाती है। दर्शन से पुष्ट इस धारणा को रसास्वाद के समय सहृदय की स्थिति का प्रत्यायक ही समझना चाहिये, रस और आस्वाद की अभिन्नता का नही।

पंडितराज जगन्नाथ ने भी व्यंजनाव्यापार द्वारा सहृदय को विभावादि से स्थायीभाव की अवगति की पुष्टि की है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि रसाभिव्यक्ति का आनन्दवर्धन स्थापित मत ही बाद मे आचार्यों द्वारा स्वीकृत हुआ।

---

१ ध्व० (सं० महादेवशास्त्री) द्वि० उ०, पृ० १८६
२ " " " पृ० १९०
३ हिन्दी अभिनव भारती, पृ० ४७०

साधारणीकरण

'आनन्दवर्धन ने साधारणीकरण शब्द से किसी प्रक्रिया का शब्दशः उल्लेख नहीं किया है। परन्तु, आनन्दवर्धन की प्रतीयमान अनुभूतिविषयक धारणा में यह तथ्य स्वतः निहित है कि प्रतीयमान भाव व्यक्ति संसर्गों से मुक्त शुद्ध भाव मात्र होता है। यही व्यक्तिनिरपेक्ष प्रतीयमान भाव सहृदयहृदयसंवादभाषा है।' साधारणीकरण नाम से इस प्रक्रिया का आख्यान भट्टनायक ने ही किया है। उनके अनुसार भावकत्व नामक व्यापार से अभिधा द्वारा ज्ञात अर्थ का साधारणीकरण तथा रसरूप में परिणति होती है। अभिनव ने भावकत्व का निषेध कर आनन्दवर्धन-प्रतिपादित व्यञ्जना में ही साधारणीकरण की शक्ति का आख्यान किया है। अभिनव के एतद्विषयक मत को निम्नलिखित विन्दुओं में प्रस्तुत किया जा सकता है—

१. न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम् अर्थ[illegible] तदभावात्।

(अर्थात् केवल काव्य शब्दों का भावकत्व (साधारणीकरण) नहीं होता, क्योंकि अर्थज्ञान के अभाव की स्थिति में साधारणीकरण सम्भव ही नहीं है।)

२. न च केवलानामर्थानाम्, शब्दान्तरे[illegible]प्रमाणत्वे तदयोगात्।

(अर्थात् केवल अर्थों का भी भावकत्व ([illegible]) नहीं होता, क्योंकि दूसरे शब्दों का प्रयोग किये जाने पर वह अर्थ [illegible] रहेंगे, यदि केवल अर्थों का साधारणीकरण होता तो शब्दान्तर से उसमें कोई [illegible] चाहिये, पर बाधा उत्पन्न होती है।)

३. द्वयोस्तु भावकत्वमस्माभिरेवोक्तम्''' 'यत्रार्थः शब्दो वा'—

(शब्द और अर्थ दोनों का साधारणाकरण तो हमने भी कहा ही है—'यत्रार्थः शब्दो वा'.. श्लोक के द्वारा।)

'यत्रार्थः शब्दो वा—' आदि कारिका ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में है। आनन्दवर्धन ने इस कारिका में ध्वनि का स्वरूप निरूपित किया है। अभिनव ने इसी कारिका द्वारा शब्द और अर्थ दोनों का साधारणीकरण स्वीकार किया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अभिनव शब्द के अपने अर्थ को और अर्थ के अपने 'स्व' को उपसर्जनीकृत करने को साधारणीकरण मानते हैं और क्योंकि यह उपसर्जन व्यञ्जना-व्यापार द्वारा होता है इसलिए साधारणीकरण की शक्ति व्यञ्जना में ही है। इसके लिए पृथक् से भावकत्व नामक व्यापार मानने की आवश्यकता नहीं है।

इससे एक निष्पत्ति यह भी होती है कि प्रतीयमान अर्थ साधारणीकृत होता है, तभी वह सहृदय में समान अनुभूति अभिव्यक्त करने में सक्षम होता है। परन्तु, प्रतीयमान अर्थ कवि की अनुभूति स्वरूप होता है अतः यह कहा जा सकता है कि आनन्दवर्धन के अनुसार साधारणीकरण कवि की अनुभूति का ही होता है।

डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है—'सम्पूर्ण प्रसग ही विशिष्ट देशकालबद्ध न रहकर, साधारणीकृत हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप प्रमाता की चेतना भी साधारणीकृत हो जाती है। किन्तु यह काव्य-प्रसग तो अपने आप मे जड है—इसका चैतन्य अश तो इसका अर्थ है और यह अर्थ क्या है ? कवि या संवेद्य-कवि की अनुभूति, भाव की कल्पनात्मक पुन सर्जना की अनुभूति-इसी का शास्त्रीय नाम ध्वन्यर्थ है।'

अत कवि की अनुभूति के साधारणीकरण की धारणा का सूत्रविन्यास आनन्दवर्धन कर चुके थे, सहृदय मे रसगुणानुरूप चित्तवृत्ति के उदय का विवेचन कर उन्होंने इस सूत्र को सहृदय से जोड़ा था। कवि की अनुभूति का साधारणीकरण व्यञ्जना-व्यापार द्वारा होता है, व्यञ्जना शब्द का व्यापार, भाषा का व्यापार है, अत साधारणीकरण का आधार भाषा का भावमय प्रयोग है।

रसादि अलकार

आनन्दवर्धन न वे ही स्थल रसादि ध्वनि के माने हैं जहाँ वाक्यार्थीभूत रूप में, अर्थात् प्रधान रूप से रसादि की प्रतीति हो। इससे ज्ञात होता है कि ऐसी कविता भी सभव है जिसमे रसादि की प्रतीति प्रधानत न होती हो। प्रधान, वाक्यार्थीभूत कोई अन्य अर्थ हो, रसादि उसके अग हो। ऐसी स्थिति मे रसादि उस अन्य वाक्यार्थीभूत अर्थ के उपकारक अथवा शोभावर्धक हो जाते हैं। आनन्दवर्धन रसादि के इस रूप को उनकी अलंकारता कहते हैं[1]—

> प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादय ।
> काव्ये तस्मिन्नलकारो रसादिरिति मे मति ॥[2]

(जहाँ (अर्थात् अगभूत रसादि से भिन्न, रस, वस्तु अथवा अलकार) अन्य प्रधान वाक्यार्थ हो, रसादि अग रूप मे हो, उस काव्य मे रसादि अलकार रूप हो, यह मेरा मत है।)

इसका तात्पर्य यह है कि किसी कविता में दो रस हो सकते हैं। तब इनमे से एक प्रधान, दूसरा अंग रूप होगा। यह द्वितीय रस जो अगभूत है, प्रथम का उत्कर्षवर्धक होने के कारण रसवत् अलकार कहलायगा। इसी प्रकार जब कोई भाव किसी अन्य का अगभूत हो तो वहाँ वह भी अलकारवत् है, उसे प्रेयो अलकार कहा जाता है। जब रसाभास और भावाभास किसी अन्य के अग होंगे तो ऊर्जस्वित

---

१ यद्यपि रसवदलकारस्यान्यैर्दर्शितो विषयस्तथापि यस्मिन् काव्ये प्रधानतया-ऽन्योऽर्थो वाक्यार्थीभूतस्तस्य चाङ्गभूता ये रसादयस्ते रसादेरलकारस्य विषय-इति मामकीन पक्ष। ध्व०, (आ० वि०), द्वि० उ०, पृ० ८३

२ वही

अलंकार होगा। भावशान्ति आदि के अन्य के अंग होने पर समाहित अलंकार होता है। इस प्रकार आनन्दवर्धन रसादि ध्वनि और रसादि की अलंकारता का विषय भेद स्थापन करते हैं।

उदाहरण के लिए चाटु उक्तियों को लिया जा सकता है, इन उक्तियों में प्रेयो[1] अलंकार वाक्यार्थीभूत होता है, रसादि उसके अंग होते हैं अतः रसादि अलंकार रूप कहे जाते हैं।

आनन्दवर्धन ने रसवदलंकार के दो प्रकार माने है—

(१) शुद्ध और

(२) संकीर्ण

जहाँ, प्रेयोअलंकार मे एक ही रस अंगभूत होता है वहाँ शुद्ध रसवत् अलंकार मानना चाहिये और जहाँ एकाधिक रस किसी अन्य रस के अंग हों वहाँ संकीर्ण रसवत् अलंकार होता है।

१. शुद्ध रसवत् अलंकार का उदाहरण—

किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुनः प्राप्तश्चिराद्दर्शनम्।
केयं निष्करुण ! प्रवासरुचिता ? केनासि दूरीकृतः।
स्वप्नान्तेषु इति ब्रुवन् प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो।
बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्त्रीजनः॥[2]

(इस हँसी से क्या (किं हास्येन), बहुत दिनों के बाद दर्शन हुए हैं (प्राप्तश्चिराद्दर्शनम्), अब मैं जाने न दूँगी, निष्ठुर यह प्रवास में कैसी रुचि है (निष्करुण का इयं प्रवासरुचिता) किसने तुम्हें दूर किया है (केनासि दूरीकृतः), स्वप्न में (स्वप्नान्तेषु) इस प्रकार प्रियतमकण्ठ का आलिंगन किये हुये (प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहा) बोलती हुई (वदन्) जागकर (बुद्ध्वा) फैले हुए बाहुवलय को रिक्त देखकर (रिक्तबाहुवलयः) शत्रुस्त्रियाँ (रिपुस्त्रीजनः) तार स्वर से रोती हैं (रोदिति)।)

उपर्युक्त श्लोक में राजा की स्तुति की गई है, अतः यह प्रेयोअलंकार का स्थल है। यहाँ करुण रस राजाविषयक प्रीति का अंग बन रहा है। वाक्यार्थीभूत अर्थ तो राजा को प्रशंसा है कि हे राजा ! तुमने इतने शत्रुओं को मार दिया है। अतः करुण रस के राजा विषयक प्रेम के अंग होने से यहाँ शुद्ध रसवत् अलंकार है। करुण रस उसी अर्थ का उत्कर्ष बढ़ा रहा है।

---

१. भामह ने गुरु, देव, नृपति और पुत्रविषयक प्रेमवर्णन को प्रेयो अलंकार कहा है।

२. ध्व०. (आ० वि०), पृ० ८६

२ सकीर्ण रसवद् अलकार

क्षिप्तो हस्तावलग्न प्रसभमभिहतोऽप्याददानोऽशुकान्त,
गृह्णन् केशेष्ववधूतश्चरणनिपतितो नेक्षित सम्भ्रमेण ।
आलिङ्गन्योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभि साश्रुनेत्रोत्पलाभि,
कामीवार्द्रापराध स दहतु दुरित शाम्भवो व शराग्नि ॥[१]

(त्रिपुर की युवतियो द्वारा (त्रिपुरयुवतिभि), तत्काल अपराध किए हुए कामी के समान (कामीवार्द्रापराध । हाथ छूने पर झटक दिया गया (क्षिप्तो हस्तावलग्न) जोर से ताडित किए जाने पर भी वस्त्र के छोर को पकडता हुआ (प्रसभमभिहतो प्याददानोऽशुकान्त) केशो को पकडते समय हटाया गया (गृह्णन् केशेषु अपास्त) पैरो पर पडा हुआ भी सम्भ्रम के कारण न देखा गया (चरणनिपतितो नेक्षित सम्भ्रमेण) आलिगन करते समय आँसुओ से परिपूर्ण नेत्रकमल वालियो के द्वारा निरस्कृत । (आलिगन्यो वधूत साश्रुनेत्रोत्पलाभि) त्रिपुरसुन्दरियो द्वारा तिरस्कृत वह शम्भु का शराग्नि तुम्हारे दु खो को दूर करे (स शाम्भव शराग्नि व दुरित दहतु)

उपर्युक्त उदाहरण मे ईश्वर शिव का प्रभाव मुख्य वाक्यार्थ है । ईर्ष्याविप्रलभ और करुण इस मुख्य वाक्यार्थ के अग हैं । अत एकाधिक रसो के अगवत् होने से यह सकर रसवत् अलकार का उदाहरण है ।

जहाँ रस प्रधान है वहाँ वह अलकार्य होता है । प्रधान होने पर रस अलकार नही हो सकता । चारुत्वहेतु को अलकार कहते हैं । रस स्वय अपना चारुत्वहेतु नही हो सकता अत प्रधान होने पर वह स्वय अपना अलकार भी नही हो सकता । निष्कर्षत कहा जा सकता है कि जहाँ रसादि वाक्यार्थीभूत हो वहाँ ध्वनि होती है और जहाँ अन्य अर्थ वाक्यार्थीभूत हो, रसादि उसके चारुत्वहेतु हो वहाँ रसादि अलकार कहलाते है ।[२] इस प्रकार ध्वनि और उपमादि अलकारो का पृथक विषय-त प्रतिपादित होता है ।

---

१ ध्व०, (आ० वि०,) पृ० ८७

२ यत्र हि रसस्य वाक्यार्थीभावस्तत्र कथमलकारत्वम् ? अलकारो हि चारुत्व हेतु प्रसिद्ध न त्वसावात्मैवात्मनश्चारुत्वहेतु । तथा चायमत्रसक्षेप —
रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् ।
अलङ्कृतीनां सर्वासामलकारत्वसाधनम् ॥
तस्मादत्र रसादयो वाक्यार्थीभूता स सर्व न रसादे अलकारस्य विषय स ध्वने प्रभेद । तस्योपमादयोऽलकारा । ध्व० (आ० वि०) पृ० ८८

कुछ लोगों की मान्यता है कि जहाँ चेतन पदार्थों का मुख्य वाक्यार्थीभाव हो वहाँ रसवदलंकार माना जाय और जहाँ अचेतन पदार्थ का मुख्यवाक्यार्थीभाव हो वहाँ उपमादि अलंकार का क्षेत्र समझा जाय ।[1]

आनन्दवर्धन इस मान्यता को स्वीकार नहीं करते, अचेतनपदार्थ के वाक्यार्थीभाव में उपमादि को परिबद्ध कर देने से या तो उपमादि का अवसर ही नहीं रहेगा और रहेगा भी तो अत्यन्त विरल । क्योंकि अचेतन वस्तुवृत्त के मुख्य होने पर भी किसी न किसी प्रकार से चेतनवस्तु के वृत्तान्त की योजना भी रहती है । इस प्रकार सभी स्थलों पर चेतन वस्तु वृत्तान्त के रहने से उपमादि का अवसर ही नहीं रहेगा । इसके विपरीत अचेतन वस्तुवृत्त के प्रधान होने के स्थलों में चेतन वस्तुवृत्त के रहते हुए भी यदि रसवदादि अलंकार नहीं माने जायेंगे तो कविता का बहुत बड़ा अंश नीरस माना जायेगा । अपने मत को स्पष्ट करने के लिए आनन्दवर्धन ने निम्नलिखित उदाहरण दिए हैं—

(१) तरंगभ्रूभंगा क्षुभितविहगश्रेणिरसना,
विकर्षन्ती फेनं, वसनमिव संरम्भशिथिलम् ।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसन्धाय बहुशो,
नदीरूपेणेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ।।[2]

(टेढ़ी भौहों के समान तरंगों को (तरंगभ्रूभगा), रशना के समान क्षुब्ध विहग पंक्ति को धारण किए हुए (क्षुभितविहगश्रेणिरसना) क्रोधावेश में खिसकते हुए वस्त्र के समान फेनों को खीचती हुई (संरम्भशिथिलं वसनमिव विकर्षन्ती फेनम्), बार-बार ठोकर खाकर टेढ़ी चाल से जा रही है (स्खलितम् यथाविद्धं याति) सो मेरे अनेक अपराधों से रूठी हुई (अभिसन्धाय बहुशो, ध्रुवमसहना) वह नदीरूप में परिणत हो गई है (सा नदीरूपेणेयं परिणता) ।

उपर्युक्त उदाहरण में वाक्यार्थीभूत अचेतन नदी है । पर इसे रसशून्य उपमादि का स्थल कैसे माना जा सकता है ? इसमें-चेतन वस्तुवृत्त अत्यंत स्पष्ट है ।

(२) तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद्विश्रान्तपुष्पोद्गमा ।
चिन्तामौनमिवाश्रिता मधुकृतां शब्दैर्विना लक्ष्यते,
चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा ।।[3]

(तन्वी पैरों पर पड़े मुझे तिरस्कृत करके पश्चात्तापयुक्त होकर (तन्वी पादपतितं मामवधूय जातानुतापेव), आँसुओं से गीले अधर के समान वर्षा के जल से आर्द्र

१. ध्व० (आ० वि०), पृ० ९२
२. ध्व० (आ० वि०), पृ० ९२
३. ध्व० (आ० वि०) पृ० ९३

पल्लव को धारण किए (अश्रुभि धौताध व मेघजलार्द्रपल्लवतया), ऋतुकाल न होने से पुष्पोद्गमरहित आभरणशून्य-सी (स्वकालविरहात् विश्रान्तपुष्पोद्गमा) भौरो के शब्दा के अभाव मे चिन्ता मौन-सी (मधुव्रत शब्दैविना चिन्तामौनमिवाश्रिता) दिखलाई पड़ती है (लक्ष्यते मा)।

इस श्लोक मे अचेतन लता के वाक्यार्थीभूत होते हुए भी चेतन का स्पर्श स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है।

(३) तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारह साक्षिणा,
क्षेम भद्र कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम्।
विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना,
ते जाने जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विष पल्लवा ॥[१]

(भद्र! गोपवधुओं के विलास सखा (गोपवधूविलाससुहृदा), राधा की एकान्त क्रीडाओं के साक्षी (राधारह साक्षिणा) यमुनातट के लताकुज कुशल से तो हैं (कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मना क्षेम) अथवा मदनशय्या के निर्माण के लिए मृदु किसलयो के तोडने का प्रयोजन न रहने पर (विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना), वे नीलकान्ति छिटकाते हुए पल्लव जीर्ण हो जाते होगे (ते विगलन्नीलत्विषः पल्लवा जरठा भवन्ति) ऐसा मैं समझता हूँ।

उपर्युक्त श्लोक म अचेतन लताकुज के वाक्यार्थीभावेन स्थित होने पर भी चेतनवस्तु व्यवहार की योजना है।

यदि जहाँ चेतनवस्तु वृत्तान्त हो वहाँ रसादि का स्थल माना जाय तो उपमादि का क्षेत्र विरल हो जायगा।[२] इसलिए चेतन-अचेतन वस्तु वृत्तान्त को रसवदादि अलकार विषयत्व का निकष नही बनाया जा सकता।

अत जहाँ रसादि अगत्वेन हो वही उनको अलकारता है। अन्यत्र, जहाँ रसादि अगी रूप म हैं वहाँ सर्वत्र ध्वनि का ही व्यपदेश किया जाना चाहिए।

हमारा विचार है कि रसवत् अलकार की यही धारणा उचित भी है। चेतन-अचेतन वस्तु-वृत्तान्त का निकष निर्विवाद इसलिए नही है कि चेतनवस्तुवृत्तान्त में अचेतनवस्तुवृत्तान्त की और अचेतनवस्तुवृत्तान्त मे चेतनवस्तुवृत्तान्त की व्याप्ति देखी जाती है, अत वह निकष मानें भी तो अनैकान्तिक होगा। इस प्रकार रसवदादि *अलकारो का विवेचन सर्वप्रथम आनन्दवर्धन ने ही किया है।*

---

१ ध्व० (आ० वि०) पृ० ९३

२ 'इत्येवमादौ विषये चेतनाना वाक्यार्थीभावेऽपि चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनाऽस्त्येव। अथ यत्र चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनाऽस्ति तत्र रसादिरलकार। तदेवं सति उपमादयो निर्विषया प्रविरलविषया वा स्यु' (आ० वि०) पृ० ९३

अध्याय तृतीय

गुण, अलंकार और संघटना

३—१ रस और गुण

भारतीय काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य भरत मुनि ने दस गुणों का वर्णन किया है। इस वर्णन में गुणो को दोषों का विपर्यय माना गया है। भरत-प्रतिपादित गुणों की सार्थकता वाचिक अभिनय को प्रभावशाली बनाने में है।[1]

दण्डी ने भी दस गुणों का विवेचन किया है, परन्तु वे गुणों को उपमादि अलंकारों के समान ही मानते हैं। इनके अनुसार गुण काव्यशोभाविधायक धर्म है[2], काव्य के उपकारक है।

वामन ने गुणों को काव्य-शोभा का कर्ता माना है। इस दृष्टि के अनुसार गुणों के अभाव में काव्य मे शोभा उत्पन्न ही नही हो सकती। गुण शब्द और अर्थ के धर्म हैं, काव्य के काव्यत्व के लिये अपरिहार्य हैं। वामन ने रस को अपने २० गुणों में से एक (कान्ति) के अन्तर्गत मान लिया है।

वामन के पश्चात् गुणों के सम्बन्ध में नूतन धारणा प्रचलित हुई, इस धारणा के प्रतिष्ठापक आनन्दवर्धन थे। रसध्वनि को काव्य की आत्मा मानने वाले आनन्दवर्धन ने गुणों को रसाश्रित धर्म कहा है। शौर्यादिगुण जैसे आत्मा के आश्रित होते हैं, वैसे ही माधुर्यादिगुण रस के आश्रय से स्थित होते हैं।

'तमर्थमवलम्बन्ते ये अंगिनं ते गुणाः स्मृताः'[3]

इसकी वृत्ति में लिखा है—

'ये तमर्थं रसादिलक्षणं अंगिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत्' अर्थात् वे जो रसादि अंगी रूप अर्थ के आश्रय से स्थित होते हैं, शौर्यादि के समान गुण कहे जाते हैं।

---

१. डा० नगेन्द्र, भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका, पृ० ४३

२. 'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते, तल्लक्षणयोगात् तेऽपि (श्लेषादयो दशगुणाऽपि) अलंकाराः' —वही

३. ध्व० (आ० वि०), पृ० ६४

आनन्दवर्धन ने तीन गुण ही स्वीकार किये हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद।

(१) माधुर्य गुण—माधुर्य का आश्रय शृङ्गार रस है। आनन्दवर्धन शृङ्गार को सर्वाधिक मधुर मानते हैं—

शृङ्गार एव मधुर पर प्रह्लादनो रसः।
तन्मय काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ॥[1]

(शृङ्गार ही सर्वाधिक आनन्ददायक मधुर रस है, उस शृङ्गारमयकाव्य के आश्रित ही माधुर्य गुण रहता है।)

आनन्दवर्धन ने लिखा है 'शृङ्गार एव रसान्तरापेक्षया मधुर प्रह्लादहेतुत्वात्'। प्रह्लाद का हेतु शृङ्गार है। शृङ्गार रस रूप अर्थ को व्यक्त करनेवाले शब्दार्थ से युक्त काव्य का गुण माधुर्य है। शृङ्गार के विप्रलम्भ रूप मे तथा करुण मे माधुर्य उत्कर्ष प्राप्त करता है—

शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिक मन ॥[2]

उपर्युक्त दोना ही रसा (विप्रलम्भ शृङ्गार तथा करुण) मे सहृदय का मन अधिक आर्द्र होता है। सहृदय के हृदय को अत्यधिक आकृष्ट करने का निमित्तत्व इन रसो मे है। रसो की इस सिद्धि म कोई अलौकिकत्व नही है, अभ्यास से, विशेष रचना के उपयोग से यह सिद्धि होती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आनन्दवर्धन माधुर्य को रस के सन्दर्भ मे ही स्वीकार करते हैं। केवल वर्णों की कोमलता में माधुर्य स्वीकार नही किया जा सकता। वर्णों की कोमलता तो ओज गुण मे भी अनुभव की जा सकती है।

(२) ओज गुण—रौद्र रस के प्रसग मे आनन्दवर्धन ने स्पष्टत कहा है कि रस काव्य मे रहता है, उसकी अनुभूति सहृदय को होती है। काव्य मे उपस्थित रौद्रादि रस दीप्ति से लक्षित होते हैं।[3] यह दीप्ति सहृदय के चित्त की अवस्था विशेष है। दीप्ति की अभिव्यक्ति शब्द और अर्थ से होती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कवि का अपने ओज की अभिव्यक्ति के लिए ऐसे शब्दो को योजना करनी चाहिए कि वह सहृदय के हृदय मे भी ओज जाग्रत कर सके। इस प्रकार दीप्ति को व्यक्त करने वाले शब्द और अर्थ के आश्रय मे ओज गुण रहता है। रौद्र, वीर और अद्भुत रस-

---

१ ध्व०, (आ० वि०), पृ० ९५
२ ध्व०, (आ० वि०), पृ० ९७
३ ध्व०, (आ० वि०), पृ० ९८

अत्यन्त उज्ज्वलता रूप दीप्ति (चित्तावस्था) को उत्पन्न करते हैं। अतः लक्षणा से उन्हें भी दीप्ति रूप कहा गया है। आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है—'ज्ञाता के हृदय का विस्तार या प्रज्वलनस्वभाव अवस्था विशेष का नाम दीप्ति है—वही मुख्य रूप से ओज शब्द वाच्य है। उसके सम्बन्ध से तदास्वादमय रौद्रादि रस भी लक्षणा से, दीप्ति शब्द से गृहीत होते हैं।'

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि आनन्दवर्धन रस की अनुभूति को चित्त की अवस्था विशेष मानते हैं। पृथक्-पृथक् रस रूप अर्थ की योजना से युक्त शब्द और अर्थ सहृदय के चित्त को विशेष अवस्था में डालते हैं और चित्त तदनुरूप माधुर्य, ओज आदि चित्तवृत्तियों का अनुभव करता है—इन्हीं चित्तवृत्तियों मे रस अभिव्यक्त होता है, अनुभूत होता है।

कवि अपनी अनुभूति के अनुरूप शब्द और अर्थ का माध्यम प्रयुक्त करता है—यह अनुभूति काव्य मे प्रतीयमान अर्थ रूप रस में परिणत होती है। सहृदय इस योजना को पढ़ता है और शब्द-अर्थमयी वह विशेष योजना उसके चित में भी वही माधुर्य, ओज और प्रसाद आदि वृत्तियाँ उद्बुद्ध करती है और इन्हीं चित्तवृत्तियों में रस अभिव्यक्त होता है तथा प्रमाता आनन्द का अनुभव करता है।

ओज को प्रकाशित करनेवाली रचना सामान्यतः दीर्घ समासयुक्त होती है।

(१) चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसंचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः॥

(फड़कती हुई भुजाओं से (चंचद्भुज) घुमाई हुई गदा (भ्रमितगदा) के भीषण प्रहार से (चण्डाभिघात) चूर्ण सुयोधन की दोनों जंघाओं (सुयोधनस्य चूर्णितोरुयुगलस्य) के जमे हुए गाढ़े रक्त से रंगे हाथ वाला भीम (स्त्यानावनद्धघन-शोणितशोणपाणि भीमः), हे देवी तेरे केशों को बाँधेगा। (देवि कचांस्तव उत्तंस-यिष्यति)[1]

उपर्युक्त उदाहरण दीर्घसमास रचना से ओज की अभिव्यक्ति का है। परन्तु कभी-कभी दीर्घसमास से रहित प्रसाद गुण युक्त पदो से बोधित अर्थ भी ओज का प्रकाशक होता है—जैसे निम्नलिखित श्लोक में—

(२) यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां,
यो यः पांचालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः,
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्॥[2]

---

१. ध्व०, (आ० वि०), पृ० ९८
२. ध्व०, (आ० वि०), पृ० ९८-९९

(पाण्डवो की सेना मे अपने भुजबल से गर्वित जो भी शस्त्रधारी हैं, अथवा पाचाल गोत्र मे छोटा, बडा अथवा गर्भस्थ जो कोई भी है, और जो-जो उस द्रोणवध रूप कर्म के साक्षी हैं और मेरे युद्ध करते समय जो जो बाधा डालेगा, आज क्रोधान्ध मैं उसका नाश कर दूँगा चाहे वह जगत् का अन्त करने वाला यमराज ही क्यो न हो ।)

प्रथम उदाहरण मे शब्दो के द्वारा ओज की अभिव्यक्ति हुई है, द्वितीय में अर्थ के द्वारा। इसीलिये शब्द और अर्थ को गुणो की अभिव्यक्ति का साधन कहा गया है ।

(३) प्रसाद गुण—प्रसाद गुण का सभी रसो के प्रति समर्पकत्व भाव है। वस्तुत यह असलक्ष्यक्रम व्यग्य का प्राण है। श्रोता के हृदय मे झटिति व्यापन-कर्तृत्व का वैशिष्ट्य प्रसाद मे है। जैसे शुष्क काष्ठ मे अग्नि तुरन्त फैलती है अथवा स्वच्छ वस्त्र मे जल व्याप्त होता है वैसे ही समस्त रसों मे और रचनाओं मे रहने वाला प्रसाद गुण है। प्रसाद शब्द का अर्थ ही शब्द और अर्थ की स्वच्छता है, अत. प्रसाद सब रसो का सामान्य गुण है।

समर्पकत्व काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति ।
स प्रसादो गुणो ज्ञेय सर्वसाधारणक्रिय ॥[१]

(काव्य का समस्त रसो के प्रति जो समर्पकत्व है, समस्त रचनाओ और रसो मे रहने वाला वह प्रसाद गुण समझना चाहिये ।

३-२ आनन्दवर्धन की गुण-सम्बन्धी स्थापनाएँ

(क) आनन्दवर्धन ने गुण को चित्तवृत्ति स्वरूप माना है। काव्य का सम्बन्ध जहाँ कवि से है, वहाँ उसका सम्बन्ध प्रमाता से भी है। ऐसी स्थिति मे प्रमाता की चित्तवृत्ति से निरपेक्ष आस्वाद का कथन निरर्थक होगा। आस्वाद का निरूपण सहृदयसापेक्ष ही है। आनन्द न माधुर्य गुण के प्रसग मे लिखा है—'मन यतस्त-त्राधिक आर्द्रता याति[२] ।' मन आर्द्रता को प्राप्त होता है, अत आर्द्रता चित्त की अवस्था है, गुण की प्रतीति इसी रूप मे होती है, इससे भिन्न नही। अतएव माधुर्य गुण चित्त की आर्द्रता वृत्ति विशेष रूप है।

डॉ० नगेन्द्र ने यह शका उठाई है कि आनन्दवर्धन न 'द्रुति और दीप्ति से गुणो का सम्बन्ध स्पष्ट नही किया[३] ।' परन्तु मेरा मत है कि इस शका का अवसर

---

१ ध्व०, (आ० वि०), पृ० २-१०
२ ध्वन्यालोक २-८
३ डा० नगेन्द्र, भारतीय का० शा० की भूमिका, पृ० ४७

है नहीं, क्योंकि आर्द्रता से भिन्न माधुर्य की प्रतीति कैसे होगी। 'माधुर्य' कहकर चित्त को आर्द्रता को ही व्यक्त किया जाता है। यह भी कहा जा सकता है कि काव्य के सन्दर्भ में जिसे गुण कहा जा रहा है सहृदय के सन्दर्भ में वही चित्तवृत्ति है, अतः सहृदय के प्रसंग में गुण चित्तवृत्ति स्वरूप ही है।

(ख) दीप्ति आदि चित्तवृत्तियों से रस लक्षित होते हैं—आनन्दवर्धन ने लिखा है 'रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते'। रौद्रादि रस दीप्ति के द्वारा लक्षित होते हैं। अथवा रौद्रादि रस की प्रतीति दीप्ति में होती है। यदि दीप्ति न हो तो रौद्रादि रस भी नहीं हो सकते। इसलिए चित्तवृत्ति रूप दीप्ति और रौद्रादि रस में वह पूर्वापर सम्बन्ध नहीं माना जा सकता जो डॉ० नगेन्द्र ने निम्नलिखित पंक्तियों में प्रतिपादित किया है—'गुणों को अनिवार्यतः आह्लाद रूप न मानकर चित्त की एक ऐसी दशा माना जा सकता है जो सरलता से रस परिपाक की प्रक्रिया में रस-दशा से ठीक पहली स्थिति है।"[1] इन पंक्तियों से कारण-कार्य सम्बन्ध व्यक्त होता है। लगता है जैसे चित्तवृत्ति रूप अवस्था कारण है—रस-दशा कार्य है। परन्तु ऐसा है नहीं, चित्तवृत्ति रूप दीप्ति और रौद्रादि रस में समवाय सम्बन्ध है, एक के अभाव में दूसरा सम्भव नहीं है। इनमें उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध भी नहीं है।

अभेद दृष्टि से गुण रूप चित्तवृत्तियों की प्रतीति में और रस-प्रतीति में भेद नहीं रह जाता। आश्रय चित्तवृत्तियाँ और आश्रित रस एक हो जाते हैं। रौद्रादि रस की प्रतीति दीप्ति में ही है, दीप्ति में ही वह है, दीप्ति के द्वारा ही, दीप्ति के रूप में ही अनुभूत होगा। अन्य शब्दों में रौद्रादि की अनुभूति दीप्ति की ही अनुभूति होगी, इसलिए उपचार से रौद्रादि को ही दीप्ति कहा गया है—

'रौद्रादयो हि रसाः परां दीप्तिमुज्ज्वलतां जनयन्तीति लक्षणया ते एव दीप्ति-रित्युच्यते।'[2]

व्याख्या करते हुए अभिनव लिखते हैं—'दीप्तिः प्रतिपत्तुर्हृदये विकासविस्तार-प्रज्वलनस्वभावा। सा च मुख्यतया ओजश्शब्दवाच्या। तदास्वादमया रौद्राद्याः तया दीप्त्या आस्वादविशेषात्मिकया कार्यरूपा लक्ष्यन्ते रसान्तरात्पृथक्तया। तेन कारणेन कार्योपचाराद्रौद्र एवौजःशब्दाच्यः।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि सहृदय की विकास विस्तार प्रज्वलनरूप चित्त-वृत्ति ही दीप्ति आदि है। इस दीप्ति का वाचक शब्द ओज है। रौद्र आदि रस में इसी ओज का आस्वादन होता है अतः रौद्र आदि को ओज आस्वादमय कहा गया है।

१. डॉ० नगेन्द्र; भारतीय का० शा० की भूमिका, पृ० ४६

२. ध्वन्यालोकः २।९ वृत्ति

रसानुभूति मे भी क्योकि अन्तत दीप्ति आदि की अनुभूति होती है अत उसे रस का कार्य कहा जा सकता है। अनुभूति की स्थिति मे अभेद हो जाने से उपचारत रौद्रादि रस को भी ओज से अभिहित किया जा सकता है। उपयु क्त उद्धरण म अभिनव ने दीप्ति और रौद्ररस को भी ओज से अभिहित प्रतिपादित कर वस्तुत उनके सहभाव को स्वीकार किया है। इसलिए गुणानुभूति को रसदशा से किञ्चित् पूर्व की अवस्था नही कहा जा सकता है। और जब चित्तवृत्ति रूप गुणो का रस से सहभाव माना जाता है तो इन चित्तवृत्तियो का आस्वादन ही रसास्वादन है। 'शृगारादि के आस्वाद मे सहृदय को चित्तवृत्ति की प्रतीति होती है वीरादि क आस्वादन म चित्तदीप्ति का अनुभव होता है।' अत गुण आस्वादमूलक चित्तवृत्ति विशेष है। उपचार से गुणो को शब्द और अर्थ का धर्म भी कहा जाता है। इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए कवि की सृजन-प्रक्रिया पर ध्यान देना अपेक्षित होगा। कवि अपनी चित्तवृत्तिरूप अनुभूति को व्यक्त करने के लिए उसके अनुरूप शब्द और अर्थ की योजना करता है, विशेष गुणो (चित्तवृत्तियो) के लिय विशेष वर्णों का विधान इसीलिए किया गया है। इस प्रकार चित्तवृत्ति विशेष स अनुप्राणित शब्द और अर्थ सहृदय मे भी तदनुरूप चित्तवृत्ति उत्पादित करते हैं। इस चित्तवृत्ति म ही रस व्यजित होते हैं। अभिनव न दीप्ति और रौद्रादि रस को 'ओज' शब्द वाच्य कह कर काव्य को अखण्डबुद्धि-आस्वाद्य कहा है। गुण, शब्द और अर्थ का विवेचन शास्त्रीय बुद्धि का विषय है आस्वादन के समय यह भेद बुद्धि कहाँ। इसीलिये अभिनव न कहा है—'अखण्डबुद्धिसमास्वाद्य काव्यम्।'

यदि डॉ० नगेन्द्र[१] प्रतिपादित स्थिति का स्वीकार किया जाय तो कविता द्वारा रसास्वादन की प्रक्रिया के निम्नलिखित स्तर होंगे, मान लीजिये कविता प्रेम-भाव परक है, तब—

(१) कविता म प्रयुक्त मधुरता व्यजक वर्णों को सुनकर सहृदय का चित्त करुणा प्रेम आदि भावो को ग्रहण करता है।

(२) प्रेम और करुणा आदि को ग्रहण कर चित्त मे एक प्रकार का विकार पैदा हो जाता है, जिसे तरलता या द्रुति कहते है।

(३) यह विकार पूर्ण आह्लाद रूप नही है।

(४) अब काव्य (वस्तु) भावकत्व की स्थिति को पार कर भोजकत्व की ओर बढ रहा है, अभी वस्तु-तत्त्व नि शेष नही हुआ है और हमारी चित्तवृत्तियाँ उत्तेजित होकर अन्विति की ओर बढ रही हैं।

(५) फिर पूर्ण अन्विति होती है और रस परिपाक होता है। अब यहाँ एक-एक स्तर का परीक्षण किया जाय—

---

१ डॉ० नगेन्द्र, भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० ४९

कहा गया है कि मधुरता व्यंजक वर्णों को सुनकर सहृदय के चित्त *द्वारा करुणा प्रेम आदि भाव ग्रहण किये जाते हैं*, यही भाव चित्त की अवस्था है, जिसे तरलता या द्रुति करते हैं।

वास्तविकता यह है कि वर्णों में माधुर्य आदि की व्यंजकता का कथन औपचारिक ही है, जैसा मम्मट ने कहा है :—

'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता।'

वस्तुतः गुण रस के धर्म है। गुण रस रूप आत्म-तत्त्व से अपृथक् है अतः वर्णो को सुनकर करुणा, प्रेम आदि के ग्रहण किए जाने की बात प्रमाणसम्मत नहीं है।

उपर्युक्त कठिनाई डॉ० नगेन्द्र को इसलिए हुई है कि वे कविता के रस को अलौकिक, ब्रह्मानन्दसहोदर मानते है, जिसमे चित्त विगतविकार हो जाता है। इस समस्या का समाधान एक उदाहरण देकर करना अधिक उपयुक्त होगा। रामचरित मानस का पुष्पवाटिका प्रसंग ही लें, डॉ० नगेन्द्र ने भी इसका विश्लेषण किया है—

बिमल सलिलु सरसिज बहुरंगा।
जल-खग कूजत गुंजत भृङ्गा।
तेहि अवसर सीता तहँ आई।
गिरिजा पूजन जननि पठाई।
कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।...आदि

उपर्युक्त पंक्तियों में वर्ण-योजना अत्यन्त कोमल है, 'ल', 'र', 'व' आदि अर्द्धस्वर, अन्तिम पंक्ति में अल्प प्राण अघोष ध्वनियों का आधिक्य, पूरे प्रसंग में कोमलता व्यंजक ध्वनियों का प्रयोग, 'कंकन', 'किंकिन', 'नूपुर' आदि पदों की योजना, निश्चय ही, सहृदय के चित्त में, पद को पढ़ने और अर्थ को अवगत करने से उत्पन्न कोमलता में सघनता लाते हैं। इसी के साथ वह मानसी साक्षात्कारात्मिका क्रिया के दौर से गुजरने लगता है। वह राम और लक्ष्मण को अपने मानस पट पर स्पष्ट देखता है—सीता को देखता है। उनके कंकन, किंकिनि की 'धुनि' सुनता है। मधुरता का अनुभव करता है, उसे लगता है जैसे चतुर्दिक का वातावरण प्रसन्न है, जैसे उसका मन तरल हो रहा है, वह उस तरलता में आनन्द का अनुभव करता है। नारी के (सीता) के अनिन्द्य सौन्दर्य की प्रतीति उसे होती है। सहृदय इस स्थिति में कुछ बोलना नही चाहता, साक्षात्कारात्मिका मानसी प्रतीति में मग्न रहता है। इस स्थिति को विकार शून्य नहीं कहा जा सकता। माधुर्य भी एक विकार ही है। माधुर्य के अनुभव में ही आनन्द है। इससे भिन्न रसास्वाद क्या होगा? पुनः जिस प्रक्रिया को डॉ० नगेन्द्र ने इतना लम्बा खींचा है स्मरण रहे वह असंलक्ष्यक्रम है। यदि पहले

वर्णों द्वारा तात्पर्य आदि चित्तवृत्ति का उदय, पुन रस परिपाक माना जाये तो गुणो का कारण और रस परिपाक को कार्य मानना होगा। असंलक्ष्यक्रम की धारणा ही ध्वस्त हो जाएगी।

इसी प्रकार मथ्नामि कौरव शत समरे न कोपात् उदाहरण लें। यह असमासा रचना पढकर अर्थ ग्रहण करते ही सहृदय के मानस मे भीम की ओजपूर्ण मूर्ति साकार हो जाती—सहृदय दीप्ति का अनुभव करता है। उत्साह का अनुभव करता है, आह्लाद का भी। अत यह कहा जा सकता है कि कविता का आस्वादन चित्तवृत्ति का ही आस्वादन है। रस आस्वादन को विकार-रहित मानना, ब्रह्मानन्दसहोदर आदि मानकर आस्वादन का विश्लेषण करना उसे अव्यवहार्य बनाना है। केदारनाथ अग्रवाल का स्वयंवर कविता यहाँ उद्धृत है—

एक बीते के बराबर
यह हरा ठिगना चना
बाँधे मुरेठा शीश पर
छोटे गुलाबी फूल का
सजकर खड़ा है
पास मे मिलकर उगी है
बीच मे अलसी हठीली
देह की पतली कमर की लचीली
नीले फूले फूल को सिर पर चढ़ा कर
कह रही है जो छुए यह
दूँ हृदय का दान उसको
और सरसों की न पूछो
हो गई सबसे सयानी
हाथ पीले कर लिये हैं
ब्याह मण्डप मे पधारी
फाग गाता मास फागुन
आ गया है आज जैसे
देखता हूँ मै स्वयंवर हो रहा है।

इस कविता म माधुर्य व्यंजक वर्णों का प्रयोग तो है ही। इन वर्णों की संघटनारूप शब्दों के प्रयोजन का पढने हो, पढने के साथ ही सहृदय के मानस मे सर्वप्रथम गुलाबी पुष्प को धारण किए चने का पौधा और नीले फूल वाली अलसी उभरते हैं, फिर 'बाँधे मुरेठा शीश पर', 'ठिगना' आदि पदों के योग से चने का पौधा

जैसे दूल्हे में रूपांतरित हो जाता है, 'देह की पतली कमर को लचीलो' आदि पद मानस चक्षुओं के समक्ष 'अलसी' को एक युवा, क्षीण कटि वाली और युवावस्था के अहसास से मदमाती युवती में रूपांतरित करते हैं। सहृदय माधुर्य के पारावार में ऊभचूभ होने लगता है। 'फाग गाता मास फागुन' सहृदय की मस्ती में सहयोग देता है। यही न इस कविता का आनन्द है।

इसलिए पहले कविता के वर्णों को सुनकर तरलता आदि चित्तवृत्तियों का उदय, फिर रस परिपाक की कल्पना दूर की कौड़ी प्रतीत होती है।

'रस' आनन्दस्वरूप है। परन्तु प्रत्येक रस में चित्त की अवस्था समान नहीं रहती। कहीं वह तरलतास्वरूप होती है, कहीं दीप्तिस्वरूप, पर आनन्द तत्त्व इन सभी अवस्थाओं में है। गुण रस के धर्म हैं, धर्म और धर्मी की प्रतीति क्या अलग-अलग होगी? ऊष्णता अग्नि का धर्म है। अग्नि और ऊष्णता की प्रतीति साथ-साथ ही होती है। इसके लिए अग्नि को स्पर्श करने की आवश्यकता नहीं होती। अतः, यदि गुण रस का धर्म है तो रस धर्मी होगा। परिणामतः उनकी प्रतीति भी साथ-साथ होनी चाहिये। रस अपने धर्म गुण के रूप में ही आस्वादित होता है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है—

१. आनन्दवर्धन के अनुसार गुण रस के धर्म हैं, रस धर्मी है।
२. गुण चित्तवृत्ति स्वरूप है, माधुर्य, ओज और प्रसाद क्रमशः द्रुति, दीप्ति और स्वच्छताजन्य प्रसन्नतारूप चित्तवृत्ति स्वरूप हैं।
३. रस अपने धर्म गुणों के रूप में ही आस्वादित होता है। प्रथमतः चित्त-वृत्ति फिर परिपाक मानने की आवश्यकता नहीं है।
४. अभिनव ने भी रस-भोग को चित्त के द्रुति-विस्तार स्वरूप ही माना है:

'अलौकिके द्रुतिविस्तरविकासात्मनि भोगे कर्तव्ये लोकोत्तरे,

आचार्य मम्मट ने आनन्दवर्धन की गुण-कल्पना में स्पष्टतः अन्तर कर दिया है। मम्मट के अनुसार माधुर्य द्रुति का कारण है—

'आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम्।'

इस अंतर की सगति माधुर्य और द्रुति में समवायि कारण-कार्य संबंध मानने से ही संभव है। एक ओर मम्मट कहते हैं 'अतएव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैः वर्णैः व्यज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रयाः' यदि माधुर्य आदि को उपचार से ही सही वर्णों का धर्म न माना गया तो द्रुति के कारणभूत (मम्मट के अनुसार) माधुर्य की स्थिति कहाँ होगी, अतः यदि कारण मानना ही है तो वर्णों में ही इन्हें मानना होगा, तभी वे चित्त-द्रुति का कारण होंगे। पर वर्णों में तो वे उपचारतः है, अतः माधुर्य को चित्त-

द्रुति से अभिन्न मानना होगा ? काव्य के संदर्भ में जो माधुर्य है वह सहृदय के संदर्भ में चित्तद्रुति है, माधुर्य नहीं है तो चित्तद्रुति भी नहीं है । इसीलिए हमने समवायि संबंध की मान्यता प्रस्तुत की है ।

३-३ रस और अलंकार

आनन्दवर्धन के पूर्व भामह —'न कान्तमपि निर्भूषं नविभाति वनितामुखम्' कह चुके थे । दण्डी ने अलंकारों को काव्यशोभाकारक धर्म प्रतिपादित किया था ।[१] वामन ने इस धारणा में परिवर्तन कर गुणों को शोभा का कर्ता और अलंकारों को शोभातिशय का हेतु माना ।[२] आनन्दवर्धन तो वाच्यातिशयी प्रतीयमान अर्थ को काव्य की आत्मा मानते हैं, अतः उनके मत में अलंकार इस प्रतीयमान अर्थ के चारुत्वहेतु ही हो सकते हैं । शब्द और अर्थ के धर्म अलंकार (वाचकत्व पर आधारित अलंकार) साधन हो सकते हैं - साध्य नहीं । आनन्दवर्धन ने कवि की अनुभूति को प्रामाणिक माना था । कवि की उस अनुभूति को महत्व दिया था जो प्रतीयमान रस रूप में परिणत होकर सहृदयहृदयाह्लाद का हेतु बनती है । जो उपादान इस रस-रूप आत्मा की अभिव्यक्ति में सहज रूप में सहायक हैं वे सभी आनन्दवर्धन को स्वीकार हैं । जहाँ उपादानों के कारण रसाभिव्यक्ति में बाधा हो, वह स्थिति स्वीकार्य नहीं है ।

आनन्दवर्धन अलंकारों को अंगों पर आश्रित आभूषणों के समान शब्द और अर्थ पर आश्रित मानते हैं—

'अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत्'[३]

ध्वनि में वही अलंकार अपेक्षित है जिसकी योजना रस से आक्षिप्त हो, जिसके लिए पृथक् से प्रयत्न न करना पड़े । रस से आक्षिप्त होने पर ही अलंकार मुख्य रूप से रस का अंग होता है—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः ॥[४]

शृंगार आदि कोमल रसों में तो कवि को शब्दालंकारों का प्रयोग करना ही नहीं चाहिए । आनन्दवर्धन ने स्पष्ट कहा है— अंगी रूप से वर्णित शृंगार के किसी भी भेद में यत्नपूर्वक निरंतर उपनिबद्ध अनुप्रास रस का व्यंजक नहीं होता—

---

१ काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते' 'काव्यादर्श'
२ 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः'—वामन
३ ध्व०, (आ० वि०), पृ० ९४
४ वही, पृ० १०५

शृंगारस्यांगिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान् ।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः ॥[1]

इसी प्रकार यमकादि शब्दालंकारों का निबन्धन भी शृंगारादि रस में अनुपयुक्त ही होगा। इस प्रसंग को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर आनन्दवर्धन के मत की सत्यता स्वतः स्पष्ट हो जायेगी। रस में अवधानवान् कवि यदि शब्दालंकार की योजना में ध्यान देगा तो निश्चय ही रस के प्रति उसका पूरा ध्यान नहीं रह सकता, उसे शब्दों के विशेष प्रयोग में प्रयत्नपूर्वक ध्यान देना होगा, परिणामतः रस उपेक्षित होगा। इसी स्थिति की कल्पना करके आनन्दवर्धन ने शब्दालंकारों के प्रयोग का निषेध किया है[2]—

ध्वन्यात्मभूते शृंगारे यमकादिनिबन्धनम् ।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलंभे विशेषतः ॥

(ध्वन्यात्मक शृंगार में, विशेषतः विप्रलम शृंगार में, शक्ति होते हुए भी यमकादि का निबंधन, कवि के प्रमादित्व का सूचक है।)

यमकादि में यमक सदृश श्लेष, मुरजबंध आदि अलंकारों का भी संकलन है। केवल शृंगार या विप्रलंभ शृंगार में ही नहीं किसी भी रस में प्रयत्नपूर्वक प्रयुक्त यमकादि अलंकार रस के बाधक ही होंगे।

कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदिता,
निपीतो निःश्वासैरयममृतहृद्योऽधररसः ।
मुहुः कण्ठे लग्नस्तरलयति बाष्पः स्तनतटीं,
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम् ॥[3]

((तुम्हारे) कपोल पर बनी हुई पत्रावली को हाथ से रगड़ कर मसल दिया, (तुम्हारे) अमृत के समान मधुर अधररस का पान (ये उष्ण) निःश्वासों के द्वारा किया जा रहा है। अश्रुबिन्दु बार-बार (तुम्हारे) कंठ से लगकर स्तनों को हिला रहे हैं, अयि कठोर हृदये यह क्रोध तुम्हें इतना प्रिय है, हम नहीं)

उपर्युक्त श्लोक में अलंकार रस का अंग बन कर आया है, उसका अपृथग्यत्न-निर्वर्त्यत्व भी स्पष्ट है। अतः रस के अंग अलंकार का लक्षण उसका अपृथग्यत्न-निर्वर्त्यत्व ही है। जो अलंकार कवि की रसविषयक वासना में बाधा उत्पन्न करके

---

१. ध्व०, (आ० वि०), पृ० १०२
२. वही, पृ० १०३
३. वही, पृ० १०६

रचा जाता है, जिसमें अन्य प्रयत्नों का आश्रय लेना पड़ता है, वह रस का अंग नहीं होता। यमक का निषेध इसीलिए किया गया है कि उसके निबन्धन में विशेष शब्दों के खोजरूप नूतन एवं पृथक् प्रयत्न करना ही पड़ता है अर्थालंकारों के विषय में 'पृथक् प्रयत्न' का उतना प्रश्न नहीं है। क्योंकि रस में सलग्नचित्त प्रतिभावान कवि के सामने अन्य अर्थालंकार बादलों के समान उमड़ते हैं। कादम्बरी ग्रंथ में कादम्बरी के दर्शन के अवसर पर कवि ने अलंकारों का संसार प्रस्तुत कर दिया है। पर इस रचना में ऐसा नहीं लगता कि कवि को पृथक् प्रयत्न करना पड़ा हो, कवि कादम्बरी के रूप की अनुभूति को व्यक्त करना चाहता है, वह उसी में दत्तचित्त है, अलंकार स्वयं उस अनुभूति को साकार करने के लिए दौड़े चले आते हैं। सेतुबन्ध काव्य में रामचन्द्र के बनावटी कटे हुए सिर को देखकर सीता के विह्वल होने के अवसर पर अलंकारों का सहज प्रयोग द्रष्टव्य है। हिन्दी कविता में प्रसाद कृत कामायनी के लज्जा सर्ग में और पंत की बादल कविता में अलंकार जैसे स्वतः उमड़ते हैं—कहीं भी पृथक् प्रयत्न प्रतीत नहीं होता। रसादि की अभिव्यक्ति में रूपकादि अलंकारों की बहिरंगता नहीं है, क्योंकि रसाभिव्यक्ति वाच्यविशेष से होती है। और रूपकादि अलंकार शब्दों से प्रकाशित वाच्यविशेष ही है। यमकादि के निबन्धन का मार्ग प्रयत्नसाध्य है।

कतिपय ऐसे उदाहरण हो सकते हैं जहाँ यमकादि के साथ रसाभिव्यक्ति भी हो, परन्तु इन उदाहरणों में प्रधानता यमकादि की ही होगी, रसादि यमकादि अलंकारों के अंग होंगे। रसाभास के प्रसंग में यमकादि के अंगत्व का निषेध नहीं किया गया है। परन्तु जहाँ रस अंगी रूप में हो वहाँ पृथक्प्रयत्नसाध्य होने से यमकादि का निबन्धन नहीं किया जाना चाहिए।[१]

ध्वन्यात्मक शृंगार में विवेकपूर्वक प्रयुक्त रूपकादि अलङ्कार चारुत्वहेतु होते हैं, उनका अलंकारत्व सार्थक होता है—

ध्वन्यात्मभूते शृंगारे समीक्ष्य विनिवेशितः ।
रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम् ॥[२]

---

१ रसवन्ति हि वस्तूनि सालंकाराणि कानिचित् ।
एकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यन्ते महाकवेः ॥
यमकादिनिबन्धे तु पृथग्यत्नोऽस्य जायते ।
शक्तस्यापि रसे अंगत्वं तस्मादेषां न विद्यते ॥
रसाभासांगभावस्तु यमकादेर्न वार्यते ।
ध्वन्यात्मभूते शृंगारे त्वंगता नोपपद्यते ॥ ध्व० (आ० वि०) पृ० १०८

२ ध्व०, (आ० वि०) पृ० १०८

(ध्वन्यात्मक शृंगार में सोचसमझकर प्रयुक्त किया गया रूपकादि अलंकार वर्ग वास्तविक अलंकारता को प्राप्त होता है।)

आनन्दवर्धन ने अलंकारों को बाह्य आभूषणों के समान चारुत्व हेतु कहा है। ये चारुत्व-हेतु यदि विचार पूर्वक निबद्ध किये जायें तो निश्चय ही अपने चारुत्व-हेतु नाम को सार्थक करते है।

अलंकारों के विचारपूर्वक प्रयोग के लिए आनन्दवर्धन ने छह संकेतसूत्र दिये हैं—

१. रूपकादि की रसपरत्वेन विवक्षा (विवक्षा तत्परत्वेन)

इसका तात्पर्य यह है कि रूपकादि के प्रयोग में रस की प्रधानता का सदैव ध्यान रखना चाहिए। अलंकार रस के उत्कर्ष-वर्धक हों, रस के अंग हों। जैसे—

चलापांगां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं,
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदुकर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं,
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती।[1]

(हे भ्रमर! (मधुकरः) तुम इस शकुंतला की चंचल और तिरछी चितवन का खूब स्पर्श कर रहे हो, रहस्यकथा कहने वाले के समान कान में गुनगुनाते हो, (तुम्हें उड़ाने के लिए) हाथ झटकती हुई इसके रतिसर्वस्व अधरामृत का पान कर रहे हो। हम तो तत्त्वान्वेषण में ही मारे गये और तुम सफलकाम हो गये।)

उपर्युक्त श्लोक में भ्रमर के स्वभाव वर्णन मे स्वभावोक्ति अलंकार है। यह रस के अनुरूप है, कविता के मुख्य कथ्य का उत्कर्षहेतु है। अतः अलंकार का निबन्धन रस की विवक्षा से होना चाहिए।

२. अलंकार का निबन्धन प्रधानरूप से नहीं किया जाना चाहिए (न अंगित्वेन कदाचन्)

परन्तु कभी-कभी रसादि के तात्पर्य से विवक्षित होने पर भी अलंकार प्रधान रूप से प्रतीत होता है। इस तात्पर्य को स्पष्ट करने के लिए आनन्दवर्धन ने निम्न-लिखित उदाहरण दिया है—

चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य।
आलिंगनोद्दामविलासवन्ध्यं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम्॥[2]

---

१. ध्व०, (आ० वि०) पृ० ११०
२. वही, पृ० ११०

((विष्णु ने) चक्र के प्रहार-रूप अनुल्लघनीय आज्ञा से राहु की पत्नियों के सुरतोत्सव को आलिंगन इत्यादि से रहित चुम्बनमात्र तक सीमित कर दिया।)

इस श्लोक मे 'राहु का सिर' काट दिया, यह भाव उपर्युक्त विधि से कहा गया है। सिर मात्र रहने से राहु की पत्नियो को सुरतो सव मे केवल एक चुम्बन ही मिल सकता है। इस प्रकार से राहु के सिर मात्र रहने के कथन के कारण यहाँ पर्यायोक्त अलकार है। यही प्रधान प्रतीत होता है। परन्तु पर्यायोक्त अलकार को ही यदि प्रधान माना जाय तो यह दोष होगा क्योकि यह 'न अगित्वेन' कदाचन्' का उल्टा होगा। कहा तो यह जा रहा है कि 'अगित्वेन अलकार का निबधन न हो, तब इस उदाहरण की सगति कैसे होगी? लोचनकार ने इसका समाधान किया है। उनके अनुसार इसम वासुदेव के प्रताप का वर्णन है, वही प्रधान भाव है। प्रधान होने से वह चारुत्वहेतु नही है, चारुत्वहेतु पर्यायोक्त अलकार है। अत पर्यायोक्त यहाँ अगित्वेन नही है।

किन्तु आनन्दवर्धन का यह अभिप्राय प्रतीत नही होता जो अभिनव ने दिया है। वे वस्तुत इस उदाहरण से यह सिद्ध करना चाहते हैं कि रसादि मे तात्पर्य होने पर अगित्वेन अलकार का निबन्धन दोष होता है। इस श्लोक मे आनन्दवर्धन ने पर्यायोक्त को अगित्वेन ही माना है—

'अत्र हि पर्यायोक्तस्यागित्वेन विवक्षा रसादितात्पर्ये सत्यपीति'[1]

३ अवसर से विवक्षित अलकार भी अवसर पर ही ग्रहण किया जाना चाहिए (काले च ग्रहणम्)

इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित उदाहरण दिया गया है।

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुरुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मन ।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं,
पश्यन्कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्या करिष्याम्यहम् ॥

(आज मदनावशयुक्त अन्य नारी के समान (समदना नारीमिवान्या) प्रबल उत्कठा से युक्त (उद्दामोत्कलिका), अतएव पाण्डुवर्ण (विपाण्डुरुच) और उसी समय जभाई लेती हुई क्षणात् (प्रारब्धजृम्भा), लम्बी सांसो से हृदय के मदनावेश को प्रकट करती हुई (श्वसनोद्गमै अविरलै आयास आत्मन आतन्वतीम्) इस उद्यान लता को (उद्यानलतामिमा) देखता हुआ मैं देवी

---

१. ध्व०, (आ० वि०) पृ० ११०

के मुख को क्रोध से लाल द्युतिवाला कर दूँगा (पश्यत् देव्याः कोपनपाटल-द्युतिमुखं करिष्याम्यहम्)।

उपर्युक्त श्लोक में श्लेप के द्वारा समदना नारी और अकाल में कुसुमित लता से सम्बन्धित अर्थ निष्पन्न होते हैं। राजा अपने मित्र विदूषक से कहता है कि यह लता मदनावेशयुक्त परनारी सदृश प्रतीत हो रही है, जब मैं इसे देखूँगा तो देवी वासवदत्ता क्रोधित होंगी, वे मेरा इसे देखना देखकर ईर्ष्यान्वित होंगी। यहाँ श्लेप और उपमा का ग्रहण यथावसर हुआ है।

४. ग्रहण किये हुये अलंकार को भी समयानुसार छोड देना (काले त्यागः)

जैसे—

रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणै-
स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्ताः सखे मामपि।
कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे, तद्वन्ममाप्यावयोः,
सर्वं तुल्यमशोक! केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः॥

राजा अशोकवृक्ष से कह रहा है—हे अशोक! तुम नवीन पल्लवों से रक्त हो, मैं भी प्रिया के गुणों से रक्त हूँ, तुम्हारे पास भ्रमर (शिलीमुख) आते हैं मेरे पास भी काम के धनुष से छोडे हुये बाण (शिलीमुख) आते हैं। कान्ता का पादप्रहार तुम्हारे लिए आनन्ददायक है, वह मेरे लिये भी आनन्दप्रद है। हम और तुम सब प्रकार से समान हैं अन्तर यह है कि विधाता ने मुझे सशोक कर दिया है और तुम अशोक हो।

उपर्युक्त श्लोक की प्रथम तीन पंक्तियों में श्लेप है, परन्तु चतुर्थ पंक्ति में श्लेप को छोड़ दिया गया है, चतुर्थ में व्यतिरेक है। इस प्रकार श्लेप को छोड़ देने से रस की पुष्टि हो रही है। अतः यह समय पर अलंकार के त्याग का उदाहरण है।

५. रसनिबन्धन में तत्पर कवि की अलंकार के अत्यन्त निर्वाह में अनिच्छा (नातिनिर्वहणैषिता)

जैसे—

कोपात् कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढं,
नीत्वा वासनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः।
भूयो नैवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं,
धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदत्या हसन्॥

(क्रोधावेश में अपने कोमल तथा चंचल बाहुलता पाश में दृढ़ता से जकड़कर, सायं अपने केलिभवन में ले जाकर सखियों के सामने, उसके अपराध को प्रकट

कर, फिर कभी ऐसा न हो, लड़खड़ाती हुई वाणी से ऐसा कहकर, रोती हुई प्रियतमा के द्वारा, (दतक्षतादि को) छिपाता हुआ सौभाग्यशाली प्रिय पीटा ही जाता है।)

इस श्लोक मे 'बाहुलतिकापाशेन' द्वारा रूपक प्रारम्भ किया गया था परन्तु अत्यन्त रसपुष्टि के लिये उसका निर्वाह नहीं किया गया।

६ निर्वाह इष्ट होने पर भी अग रूप मे ही देखना (निर्व्यूढावपि च अगत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।

कवि जब अलङ्कार का निर्वाह करना चाहता है तो उसे चाहिए कि वह अग-रूप में ही ऐसा करे। जैसे—

> श्यामास्वग चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपात,
> गण्डच्छाया शशिनि शिखिना बर्हभारेषु केशान।
> उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रू-विलासान्,
> हन्तैकस्थ क्वचिदपि न ते भीरु सादृश्यमस्ति।

(हे भीरु! मुझे तुम्हारे अग का सादृश्य प्रियगुलताओ मे, तुम्हारा दृष्टिपात चकित हरिणियो को चचल चितवन मे, तुम्हारे कपोलो की कान्ति चन्द्रमा मे, तुम्हारे केशपाश मयूरपिच्छ में और तुम्हारे भ्रूभग नदी की तरगो में दिखलाई पडते हैं, परन्तु दुःख है कि तुम्हारा सादृश्य कही एक साथ दिखलाई नहीं पड़ता।)

उपर्युक्त श्लोक मे तद्भाव अध्यारोपरूप उत्प्रेक्षा के सादृश्य का प्रारभ से अत तक निर्वाह किया गया है, परन्तु यह निर्वाह अगरूप मे ही है। इससे यक्ष के विप्रलभ शृगार का ही पोषण हो रहा है। अत अलङ्कार का पूर्ण निर्वाह करने की इच्छावाले कवि को इसी प्रकार अगरूप मे निर्वाह करना चाहिए।

इस प्रकार अलङ्कार-प्रयोग-विवेक के छह सूत्र दिये गये हैं। आनन्दवर्धन के अनुसार इनका पालन करने से अलङ्कार रसाभिव्यक्ति मे सहायक होता है और इनका ध्यान न रखने से अलङ्कार रस-भग का हेतु बन जाता है।

रूपकादि अलङ्कार वर्ग भी, इस प्रकार प्रयुक्त किये जाने पर, व्यञ्जक होता है। इनका विवेकपूर्वक उपयोग करते हुये यदि कवि आत्मभूत रस का निबन्धन करे तो उसे ससार मे महाकवि कहा जाता है।

परन्तु प्रतीयमान होकर अलङ्कार भी अलङ्कार्य हो सकता है। वस्तुत तब वह अलङ्कार्य ही होता है, अलङ्कार तो उसे ब्राह्मण-श्रमण न्याय से कह देते हैं। अलङ्कार-ध्वनि के उदाहरण, अलङ्कार के अलङ्कार्य होने के ही उदाहरण हैं।

वर्ण, पद, वाक्य और संघटना की रस-व्यंजकता—

प्रथम उद्योत में ही कहा गया है—

सोऽर्थः तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥

अर्थात् महाकवि को प्रतीयमान अर्थ और उसको अभिव्यक्ति में समर्थ शब्द, दोनों को भली प्रकार से पहचानने का प्रयत्न करना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि अर्थ को प्रतीयमानता की कोटि तक पहुँचाने के लिए व्यञ्जक-प्रयोग में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। कभी-कभी एक वर्ण का, एक पद विशेष का प्रयोग कविता में सौन्दर्य उत्पन्न कर देता है। वर्ण विशेष के प्रयोग से भी रस-रूप अर्थ की द्योतकता प्रभावित होती है। आनन्दवर्धन ने इस दृष्टि से भी इस पर विचार किया है। संस्कृत-काव्यशास्त्र की संपूर्ण परंपरा में रस का इस प्रकार से यह प्रथम और पूर्ण विवेचन है। 'रस' की अनिर्वचनीयता के गान लगभग सभी ने गाये हैं, पर कविता में वह कैसे प्राप्त किया जाय, इस व्यावहारिक पक्ष पर चिंतन करने की आवश्यकता कम समझी गई। आनन्दवर्धन ने रस के स्वरूप का ही व्यावहारिक चिंतन नहीं किया, वह काव्य में कैसे साकार हो, इस प्रक्रिया को भी स्पष्ट किया।

काव्य-वाक्य की लघुतम इकाई रूपिम (Morpheme) है। आनन्दवर्धन ने रूपिम के दोनों भेदों (बद्ध और मुक्त) की रस-व्यञ्जकता में सार्थकता बतलाते हुए, रूपिम संघटना के दीर्घतम रूप प्रबन्धकाव्य की रसव्यञ्जकता का विश्लेषण किया है।

वर्णों की रसद्योतकता—

वर्णों (Phoneme) का कोई अर्थ नहीं होता क्, च्, ट् आदि वर्ण स्वयं में अर्थहीन हैं, परन्तु ये अर्थहीन वर्ण भी रस की द्योतकता में सहायक होते हैं। वर्ण यदि रसद्योतन में सहायक न होते तो 'सभी वर्णों से सभी रस द्योतित नहीं होते' ऐसा नहीं कहा जाता। यह देखा जाता है कि कुछ वर्ण रस विशेष में प्रयुक्त होकर ही सहायक होते हैं। 'रेफ' (र) के संयोग से युक्त 'ष्', 'श्' और 'ट्' का अधिक प्रयोग शृंगार रस में अपकर्षक होने से विरोधी समझा जाता है।[1] परन्तु यही वर्ण वीर, बीभत्सादि में रस को दीप्त करते हैं। यदि वर्णों में रसद्योतकता न होती तो यह कैसे संभव होता। परन्तु अर्थद्योतकता और रसद्योतकता एक ही बात नहीं है। जो वर्ण अर्थ-द्योतक नहीं है वे भी रसद्योतक तो हो ही सकते हैं। इसका एक कारण यह है कि रस वाच्य नहीं होते, व्यंग्य होते हैं और व्यंग्य की प्रतीति के लिए व्यञ्जक के अर्थ-द्योतकत्व की अपेक्षा नहीं है। वह व्यञ्जक होना चाहिए, वाचक भले ही न हो।

---

१. ध्व०, (आ० वि०), पृ० १६४

आनन्दवर्धन ने वर्णपदादि का इसी दृष्टि से, रस व्यञ्जना मे सहकारित्व माना है, मुख्य कारण तो विभावादि ही हैं।

पद की द्योतकता

पद भी रस का द्योतक हो सकता है। पद-मुक्त रूपिम भी हो सकता है और बद्ध भी। दोनो ही रस की व्यञ्जना मे सहायक तत्व हैं, जैसे—

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता,
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा,
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षितासि ॥

(काँपती हुई, भय से स्खलित वस्त्र वाली, उन नेत्रों को सब दिशाओं में फेंकती हुई, तुझको अत्यन्त निष्ठुर तथा धूमान्ध अग्नि ने देखा भी नही और निर्दयतापूर्वक एकदम जला ही डाला।)

उपर्युक्त श्लोक मे वासवदत्ता के भय के अनुभावो की प्रतीति 'उत्कम्पिनी' पद से हो रही है। 'ते' पद उसके नेत्रों की स्वसंवेद्यता, अनिर्वचनीयता आदि अनेक गुणों की स्मृति का द्योतक है, इस प्रकार रसाभिव्यक्ति का निमित्त है। वासवदत्ता का स्मृत सौन्दर्य, उदयन मे शोक मे विभाव बन गया है। आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है—'इस प्रकार 'ते' पद विशेष रूप से रसाभिव्यञ्जक होने से वहाँ शोक रूप स्थायि-भाव वाला करुणरस प्रधानतया इस 'ते' पद से अभिव्यक्त हो रहा है। रसप्रतीति यद्यपि मुख्यतः विभावादि के द्वारा ही होती है, परन्तु व विभावादि जब किसी विशेष शब्द से असाधारण रूप से प्रतीत होते हैं तब वह पदद्योत्य ध्वनि होती है।'

पदावयव की द्योतकता

आनन्दवर्धन ने जो उदाहरण पदावयव की द्योतकता दिखलाने के लिए दिया है उससे युक्त रूपिम की द्योतकता प्रकट होती है। पद की द्योतकता में उन्होंने 'ते' का द्योतकता मानी है, इसे बद्ध रूपिम की द्योतकता का उदाहरण माना जा सकता है। पदावयव से सम्बद्ध उदाहरण यह है—

व्रीडायोगान्नतवदनया सन्निधाने गुरूणां,
बद्धोत्कम्पं कुचकलशयोर्मन्युमन्तर्निगृह्य।
तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया यत् समुत्सृज्य बाष्पं,
मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभागः ॥

(गुरुजनों के समीप होने के कारण लज्जा से सिर झुकाये, कुचकलशों को कम्पित करनेवाले दुःखावेग को हृदय मे दबाये, आँसू टपकाते हुए चकित हरिणी

के दृष्टिपात के समान हृदयाकर्षक नेत्रत्रिभाग जो मुझ पर फेंका सो क्या उसने 'तिष्ठ—(ठहरो) मत जाओ ! नहीं कहा ।')

उपर्युक्त श्लोक में 'नेत्रत्रिभाग' एक पद है, इसमें 'त्रिभाग' की द्योतकता होने से इसे पदावयव द्योतकता कहा गया है । नायक का विरह नायिका के उस 'त्रिभाग' (कटाक्ष) का स्मरण कर घनीभूत हो जाता है । इस प्रकार 'त्रिभाग' भी विभावत्व को प्राप्त करता है ।

३. वाक्य द्योतकता के भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं । दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं । वाक्य द्योतकता के दो रूप हैं—शुद्ध और अलङ्कार संकीर्ण ।

३ (अ शुद्ध-वाक्य-द्योतकत्व

कृतककुपितैर्वाष्पाम्भोभिः सदैन्यविलोकितैः,
वनमपि गता यस्य प्रीत्या धृतापि तथा अम्बया ।
नवजलधरश्यामाः पश्यन् दिशो भवतीं विना,
कठिनहृदयो जीवत्येव प्रिये स तव प्रियः ॥

(माता (कौशल्या) के उस प्रकार रोकने पर भी (तथा अम्बया धृतापि), जिसकी प्रीति के कारण तुम (सीता), वन गईं (यस्य प्रीत्या वनमपि गता), हे प्रिये ! तुम्हारा वह कठोर हृदय प्रिय (राम) (प्रिये तव स प्रियः कठिनहृदयः) अभिनव जलधरों से श्यामवर्ण दिशामण्डल को (नवजलधरश्यामा दिशः), कृत्रिम क्रोधयुक्त, अश्रुपूर्ण और दीन नेत्रों से (कृतककुपितैर्वाष्पाम्भोभिः सदैन्य-विलोकितैः) देखता हुआ जी रहा है (पश्यन् जीवति एव)

उपर्युक्त वाक्य सीता और राम के पुष्ट परस्परानुराग को अपने संपूर्ण स्वरूप से व्यक्त कर रहा है ।

३ (आ) अलङ्कार संकीर्ण वाक्य का द्योतकत्व

स्मरनवनदीपूरेणोढाः पुनर्गुरुसेतुभिः,
यदपि विधृतास्तिष्ठन्त्यारादपूर्णमनोरथाः ।
तदपि लिखितप्रख्यैरंगैः परस्परमुन्मुखा
नयननलिनीनालानीतं पिबन्ति रसं प्रियाः ॥

(काम रूप नूतन नदी की बाढ़ में बहते हुए, गुरुजनरूप विशाल बाँधों से रोके गये, अपूर्णकाम प्रिय (प्रिय और प्रिया) यद्यपि दूर-दूर बैठे रहते हैं, परन्तु चित्रलिखित सदृश अंगों से एक दूसरे को परस्पर देखते हुए, नेत्ररूप-कमलनाल द्वारा लाये जाते हुए रस को पीते हैं ।)

इस श्लोक में 'स्मर नव नदी' से रूपक आरभ हुआ और 'नयननलिनी' से समाप्त, पर बीच मे नायक-नायिका पर हस-हसिनी का आरोप न होने से रूपक पूर्ण नही हो पाया ।

सघटना

आनन्दवर्धन ने रीति को सघटना कहा है । काव्यशास्त्र की परपरा मे वामन का रीति सप्रदाय प्रसिद्ध है । वामन न 'रीति' को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया है ।[1] रीति का लक्षण वामन के अनुसार 'विशिष्टपदरचना है, अर्थात् विशिष्ट पद-रचना ही रीति है ।[2] 'विशेष' का अर्थ गुण स्वरूप है ।[3] इस प्रकार रीति का लक्षण होगा—

'गुणात्मक पदरचना' ।

वामन के अनुसार रीति तीन प्रकार की है—१ वैदर्भी, २ गौडी, ३ पाचाली । विदर्भ, गौड और पाचाल देश के कवियो के काव्य मे विशेष रूप मे प्रचलित होने के कारण ये नाम दिये गये हैं । वैदर्भी ओज, प्रसादादि समग्र गुणो से युक्त मानी गई है ।[4] गौडी[5] रीति ओज और कान्ति गुण वाली है । समासबहुल उग्र पदो का प्रयोग इसकी विशेषता है । माधुर्य और सौकुमार्य से युक्त पाचाली रीति है ।[6]

'रीति' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग वामन ने ही किया है । दण्डी ने इसे मार्ग कहा है । आनन्दवर्धन ने रीति को सघटना कहा है, और दीर्घसमासा, असमासा तथा मध्यमसमासा नाम से इसके तीन प्रकारो का विवेचन किया है । आनन्दवर्धन का यह रीति-विवेचन रस के सदर्भ मे है ।

(क) सघटना का स्वरूप

आनन्दवर्धन के अनुसार सघटना के तीन स्वरूप हैं—

(१) असमासा, (२) मध्यमसमासा, (३) दीर्घसमासा—

असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता ।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा सघटनोदिता ॥[7]

१ 'रीतिरात्मा काव्यस्य', काव्यालकारसूत्र, अ० २ ६
२. काव्यालकारसूत्र २ ७
३ वही २ ८
४ 'समग्रगुणा वैदर्भी' का० सू० २ ११
५ 'ओज कान्तिमती गौडी,'' २ १२
६ 'माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाचाली,' २ १३
७ ध्व०, (आ० वि०), पृ० १६८

अर्थात् सर्वथा समासरहित, छोटे-छोटे समासों से युक्त और दीर्घसमासयुक्त, इस प्रकार संघटना तीन प्रकार की मानी गई है।

वामनादि के मत का अनुवाद करते हुए आनन्दवर्धन लिखते हैं—'गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती, माधुर्यादीन्, व्यनक्ति सा रसान्।' माधुर्य आदि गुणों के आश्रय से स्थित वह (संघटना) रसों को व्यक्त करती है। इस कारिकार्थ से गुणों और संघटना का सम्बन्ध प्रकट होता है। वामन ने रीति और गुणों में अभेद माना है। इस दृष्टि से 'गुणानाश्रित्य' की व्याख्या होगी—गुणान् आत्मभूतान् माधुर्यादि-गुणान् आश्रित्य 'अर्थात् अपने स्वरूपभूत माधुर्यादि गुणों के आश्रित स्थित'। इस व्याख्या में संघटना के माधुर्यादि गुणों के आश्रितत्व-कथन को औपचारिक (गुणवृत्तिजन्य) मानना होगा।

गुणानाश्रित्य की दूसरी व्याख्या के भी दो विकल्प हो सकते हैं। (१) संघटनाश्रया गुणाः (२) गुणाश्रया संघटना। इनमें से प्रथम विकल्प भट्ट उद्भट का है जो गुणों को संघटना का धर्म मानते हैं। धर्म सदैव धर्मी के आश्रित रहता है इसी नियम से गुणरूप धर्म, संघटनारूप धर्मी के आश्रित रहते हैं। संघटना ही गुणों का आधार है। इस मत के अनुरूप 'गुणानाश्रित्य' की व्याख्या होगी—'आधेयभूतान् गुणान् आश्रित्य'।

द्वितीय विकल्प 'गुणाश्रया संघटना' आनन्दवर्धन का मत है। इसके अनुसार 'गुणानाश्रित्य' का अर्थ होगा 'गुणान् आश्रित्य' अर्थात् गुणों के आश्रित रहनेवाली संघटना रसों को व्यक्त करती है।

संघटना और गुण का अभेदत्व
तथा गुण को संघटनाश्रित मानने का खंडन

गुण और संघटना को अभिन्न अथवा गुण को संघटनाश्रित मानने से गुणों का अनियतविषयत्व भी मानना होगा, क्योंकि संघटना में अनियतविषयत्व सिद्ध है परन्तु, गुणों का नियतविषयत्व तो प्रसिद्ध है। करुण और विप्रलम्भ में ही प्रसाद और माधुर्य का उत्कर्ष रहता है। रौद्र और अद्भुत में ही प्रधानतः ओज की स्थिति है। इसके अतिरिक्त माधुर्य, प्रसादादि गुण रस, भाव आदि विषयक ही होते हैं। इस प्रकार गुणों के विषय निश्चित नियमों के अनुकूल हैं। परन्तु, संघटना अनियतविषया है। दीर्घसमास रचना शृङ्गार में भी हो सकती है और रौद्रादि रसों में भी। इसी प्रकार समासरहित रचना रौद्रादि रसों में भी हो सकती है और शृङ्गार में भी। शृङ्गार में समासयुक्त रचना का यह उदाहरण है—

अनवरतनयनजललवनिपतनपरिमुषितपत्रलेखं ते।
करतलनिषण्णमबले वदनमिदं कं न तापयति॥

(हे अनले ! निरन्तर अश्रुबिन्दुओ के गिरने से मिटी हुई पत्रावली वाला, हथेली पर रखा तुम्हारा मुख किसको सन्तप्त नही करता ।)

रौद्र में असमासा रचना का उदाहरण 'यो य शस्त्र' आदि पीछे दिया जा चुका है । अत सघटना का अनियतविषयत्व सिद्ध होता है ।

यदि गुणो और सघटना मे अभेद माना जायगा तो गुणो का भी अनियत-विषयत्व मानना होगा । गुणो को सघटना के आश्रित मानने पर भी यही दोष उत्पन्न होता है । अत न तो गुणा और सघटना मे अभेद माना जा सकता है और न गुणो को सघटनाश्रित ।[1]

गुणो का वास्तविक आश्रय प्रधानभूत रस है । रस के अगभूत शब्द और अर्थ के आश्रित अलकारादि रहते है । गौण रूप से गुणो को शब्द और अर्थ का धर्म भी कहा जा सकता है पर इससे यह नही समझना चाहिये कि गुण और अलकार मे अभेद है । क्योकि अनुप्रासादि में अर्थ की अपेक्षा नही होती पर गुणो की स्थिति के लिए व्यग्यार्थ-विचार आवश्यक होता है । गुण, व्यग्यविशेष के अभिव्यजक, वाच्यार्थ के प्रतिपादन मे समर्थ शब्द के धर्म हैं । गुणो की शब्दधर्मता वैसे ही गौण कथन है जैसे आत्मा के धर्म शौर्यादि को उपचार मे शरीर का धर्म कह दिया जाता है । इस प्रकार गुणो को, उपचार से ही सही, शब्द का धर्म कहने से सघटनाश्रित गुण माननेवालो के निम्नलिखित तर्क उत्पन्न होते हैं ।

(१) यदि गुण को उपचार से भी शब्दाश्रित मान लिया तो एक प्रकार से वे सघटनाश्रित ही हो गए । क्योकि असघटित पद तो वाचक होते नही । वाच्य प्रतिपादन सामर्थ्य तो प्रकृति-प्रत्यय के योग से सघटित शब्द मे ही रहती है, तब क्यो न, उपचार से ही सही, गुणो को सघटना का धर्म मान लिया जाय ।

परन्तु आनन्दवर्धन इस तर्कणा को स्वीकार नही करते, क्योकि वे अवाचक, अर्थहीन वर्णो मे भी द्योतकता प्रतिपादित करते हैं, इसलिए, प्रकृति-प्रत्यय युक्त सघटना मे ही द्योतकता मानने का प्रश्न नही उठता —

(१) 'नैवम् । वर्णपदव्यग्यत्वस्य रसादीना प्रतिपादितत्वात् ।'[2]

(२) रसाभिव्यक्ति के लिए वाच्यार्थ की अपेक्षा है, वाचकत्व सघटित शब्द-रूप वाक्य मे ही होता है और जहाँ वाचकत्व है वही उपचार से माधुर्यादि गुणो की

---

१. 'तस्मान्न सघटनास्वरूपा न च सघटनाश्रया गुणा'
ध्व०, (आ० वि०), पृ० १७१

२ ध्व०, (आ० वि०), पृ० १७३

स्थिति है। इस प्रकार माधुर्यादि गुण भी उपचार से वाक्यरूप संघटना के धर्म हुए।

गुण को संघटनाश्रित मानने के उपर्युक्त तर्क के खण्डन में आनन्दवर्धन ने कहा है, यदि दुर्जनतोषन्याय से रस को वाक्यव्यंग्य मान भी लिया जाय, तो भी कोई नियत संघटना तो किसी रस-विशेष का आश्रय होती नही, अतः अनियतसंघटना वाले व्यंग्य विशेष से अनुगत शब्द को ही गुण का आश्रय मानना चाहिये, संघटना को नही।

उपर्युक्त समाधान में पुनः एक शंका उठती है कि भले ही माधुर्य) अनियत-संघटनाश्रित हो पर ओज तो नियतसंघटनाश्रित ही है—उसके लिए तो दीर्घसमासा संघटना नियत है। इस शंका के उत्तर में आनन्दवर्धन का मत है कि—ओज असमासा संघटना में नहीं हो सकता, यह प्रसिद्धिमात्र ही है, क्योंकि असमासा रचना में 'ओज' के उदाहरण दिये ही जा चुके हैं। रौद्रादि रसों को प्रकाशित करने वाली काव्य की दीप्ति का नाम ही ओज है, यदि यह दीप्ति असमासा संघटना में भी रहे तो दोष क्या है। समासरहित रचना से ओज-प्रकाशन में सहृदयों को अचारुत्व का अनुभव तो होता नहीं है।

इस प्रकार यह निर्धारित हुआ कि गुण संघटना के धर्म नही है। उपचार से उन्हें शब्दों का गुण अवश्य कहा जा सकता है। उपर्युक्त सम्पूर्ण तर्कणा में एक ही बात तथ्य की है कि संघटना अनियतविषया होती है और गुणों का विषय नियत है। किन्तु, आनन्दवर्धन यदि उपचार से गुणा को शब्दधर्म मानते हैं तो उपचार से गुणों को वाक्य, अतः संघटना का धर्म भी माना जा सकता है। इसलिये यही कहा जाना समीचीन है कि गुण संघटना पर आश्रित नही है--गुण रस के धर्म हैं। रसानुरूप गुण को व्यक्त करने के लिए विशेष शब्दो की योजना की जाती है—अतः उपचारतः वे शब्द के धर्म भी कहे जा सकते हैं।

वस्तुतः गुण चित्तवृत्तिस्वरूप है, पर इतना कहने से गुणों का व्यवहार्य रूप नहीं उभरता, इसीलिये आनन्दवर्धन ने गुण को शब्दों से उपचारतः जोड़ा है। कवि का चित्तवृत्ति रूप गुण शब्दों के द्वारा ही व्यक्त होता है, यह गुण उसके भाव अथवा अनुभूति के अनुरूप है इसलिए उस पर आधृत है। शब्दों से व्यक्त गुण कविता के पाठक (सहृदय) में चित्तवृत्तियों को उद्रिक्त करते है और सहृदय कवि की अनुभूति का स्वयं अनुभव करता है—यही रसानुभूति है।

इस प्रकार गुणों का नियतविषयत्व सिद्ध है। यदि संघटना के समान गुण में भी कहीं अनियतविषयत्व दिखलाई पड़े तो उस संघटना को दूषित मानना चाहिये। परन्तु 'यो यः शस्त्रं' आदि श्लोक मे संघटना का अनियतविषयत्व है, यदि वह

दूषित है तो सहृदय को अचारुत्व की प्रतीति क्यो नहीं होती? इसका समाधान यह है कि कवि के प्रतिभा-बल मे दब जाने के कारण यह अचारुत्व प्रतीत नहीं होता।

काव्य मे दोष दो प्रकार से उत्पन्न होते हैं—

(१) कवि की अव्युत्पत्तिकृत

और (२) कवि-अशक्तिकृत

वर्णनीयवस्तु को नव-नव ढंग से वर्णन करने वाली कवि-प्रतिभा को शक्ति कहते हैं और शक्ति के अनुसार वस्तु के पौर्वापर्य विवेचन कौशल को व्युत्पत्ति कहते हैं। इनमे के अव्युत्पत्ति दोष कभी-कभी शक्ति के कारण प्रतीत नही होता। परन्तु अशक्तिकृत दोष तो तुरन्त प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए कालिदासकृत उत्तमदेवताविषयक प्रसिद्ध संभोग शृङ्गारादि के वर्णनो को लिया जा सकता है। इस प्रकार का संभोग-वर्णन अनुचित समझा जाता है, परन्तु कालिदास की शक्ति के कारण इन वर्णनो मे यह दोष प्रतीत नही होता।

संघटना के नियामक तत्त्व

आनन्दवर्धन के अनुसार संघटना का नियामक तत्त्व। वक्ता और वाच्य का औचित्य ही है।

वक्ता या तो कवि हो सकता है अथवा कविनिबद्ध। कविनिबद्धवक्ता के भी रसभाव की दृष्टि से दो भेद किए जा सकते हैं - (१) रस भावसहित और (२) रस-भावरहित। रस कथानायक मे भी रह सकता है, प्रतिनायक मे भी और पीठमर्द मे भी।

वाच्यार्थ ध्वनिरूप भी हो सकता है, रस का अग हो सकता है अभिनेयार्थरूप भी हो सकता है।

जब कवि अथवा कविनिबद्ध वक्ता रसभावरहित हो तो संघटना की स्वतन्त्रता है, परन्तु जब कवि अथवा कविनिबद्धवक्ता रस-भावसहित हो तो संघटना असमासा, मध्यम समासा अथवा दीर्घसमासा ही होनी चाहिये। करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार मे असमासा संघटना ही उचित है। करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार कोमल रस हैं, इनकी प्रतीति मे दीर्घसमासा रचना बाधक होगी। दीर्घसमास को विच्छेद किये बिना अर्थ स्पष्ट नही होगा और शब्द अथवा अर्थ की किंचित् भी अस्पष्टता रसप्रतीति को शिथिल कर देगी।

इसी प्रकार रौद्रादि रसो मे दीर्घसमासा रचना ही उपयुक्त होती है। प्रसाद नामक गुण सभी संघटनाओ मे आवश्यक है। प्रसाद के अभाव मे समासरहित रचना भी करुण और विप्रलम्भ की अभिव्यक्ति मे अक्षम होगी।

यद्यपि आनन्दवर्धन ने संघटनानियामक के रूप में वक्ता और वाच्य का परिगणन किया है, परन्तु इनके विवेचन से स्पष्ट है कि वस्तुतः संघटना नियामकत्व रस में ही है। इस प्रकार आनन्दवर्धन ने संघटना (रीति) का रस के सन्दर्भ में व्याख्यान किया है।

विषय की दृष्टि से भी संघटना के नियामक-तत्त्वों का उल्लेख किया जा सकता है। काव्य के मुक्तक, प्रबन्ध आदि भेदों के आधार पर संघटना के भी भेद हो जाते है—

विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति।
काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा।।

'अर्थात् विषयाश्रित औचित्य भी उसका नियन्त्रण करता है, काव्य-प्रकारों के भेद से संघटना भी भेदवती हो जाती है।'

काव्य के अनेक प्रकारों का वर्णन संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में मिलता है, जैसे—

१. मुक्तक, स्वयं मे परिपूर्ण स्फुट श्लोक जैसे अमरुक शतक, गाथासप्तशती, आर्यासप्तशती आदि में। मुक्तक में संघटना रसाश्रित ही होगी। मुक्तक के भी अनेक भेद हैं, कुछ का वर्णन यहाँ दिया जा रहा है—

(क) सन्दानितक में एक क्रिया का अन्वय दो श्लोकों में होता है। इसकी तथा विशेषक, कुलक और कलापक की संघटना मध्यम समासा तथा दीर्घ-समासा होती है।

(ख) विशेषक में एक क्रिया का अन्वय तीन श्लोकों में होता है।

(ग) कलापक में चार श्लोको का एक साथ अन्वय होता है।

(घ) कुलक मे पाँच या पाँच से अधिक श्लोक एक साथ अन्वित होते हैं।

२. पर्यायबन्ध : एक विषय का वर्णन करनेवाला प्रकरण पर्यायबन्ध कहलाता है। प्रायः इसमें असमासा अथवा मध्यम-समासा संघटना का विधान है।

३. परिकथा : धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन पुरुषार्थ चतुष्टयों में से एक के सम्बन्ध में बहुत-सी कथाओं का संग्रह परिकथा कहलाता है। इसमें संघटना की स्वतन्त्रता है, क्योंकि कथांश का वर्णन होने से रसादि का आग्रह नहीं होता।

४. खण्डकथा : किसी दीर्घ कथा के एक अंग का वर्णन खण्डकथा में होता है।

५ सकलकथा सम्पूर्ण इतिवृत्त का कथन सकलकथा मे होता है।

६ सर्गबन्ध (महाकाव्य) मे रस के अनुसार सघटना का निर्णय होता है।

७ अभिनेयार्थ—(नाटक) मे भी रस-योजना ही सघटनानियामक है।

८ आख्यायिका उच्छ्वासो मे विभक्त, वक्ता-प्रतिवक्ता युक्त कथा को आख्यायिका और इनसे रहित को कथा कहा जाता है।

कथा

आख्यायिका और कथा की सघटना के विषय मे भी औचित्य को ही नियामक हेतु मानना चाहिये। अर्थात् गद्य रचना मे भी यदि वक्ता (कवि) अथवा कविनिबद्ध वक्ता रस-भाव सहित है तो रस के अनुसार सघटना होनी चाहिये। यदि ऐसा नही है तो स्वतन्त्रता है। विषय की दृष्टि से आख्यायिका मे मध्यमसमासा अथवा दीर्घ-समासा सघटना होनी चाहिये क्योंकि विकटबन्ध से, कठिन रचना से गद्य मे सौन्दर्य आ जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि गद्य के उपर्युक्त विवेचन के समय आनन्दवर्धन की दृष्टि मे बाणकृत कादम्बरी आख्यायिका रही होगी।

कथा मे कठिन रचना होने पर भी रसौचित्य के अनुरूप सघटना होनी चाहिये। वस्तुत रसौचित्य ही सर्वत्र सघटनानियामक है। इतना सब विवेचन करने के पश्चात्, वक्ता, वाच्य और विषय को नियामक कहते हुए भी आनन्दवर्धन पुनः कहते हैं—

'रसबन्धोक्तमौचित्य भाति सर्वत्र सस्थिता।'[1]

अर्थात् रसबन्ध मे कथित औचित्य का आश्रय लेने वाली सघटना ही सर्वत्र शोभित होती है।

नाटक मे नियमत असमासा रचना होनी चाहिये। क्योंकि दीर्घसमासा अथवा मध्यमसमासा रचना होने पर सामाजिक को उसका अर्थ समझने में कठिनाई होगी, फलत रसाभिव्यक्ति शिथिल होगी।

प्रबन्ध-व्यजकता

प्रबन्धकाव्य मे रसादि के प्रकाशन के विषय मे आनन्दवर्धन ने विस्तार से पाँच योजनाओ का विवेचन किया है—

१ विभाव, स्थायी भाव, अनुभाव और सचारियों के औचित्य से सुन्दर ऐतिहासिक अथवा कल्पनाप्रसूत कथाशरीर का निर्माण—

---

१ ध्व०, (आ० वि०), पृ० १८६

विभावानुभावसंचार्यौचित्यचारुणः ।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ॥[१]

वृत्त का तात्पर्य पूर्वघटित अथवा ऐतिहासिक है तथा उत्प्रेक्षित का काल्पनिक। विभावों के औचित्य लोक तथा भरत के नाट्यशास्त्र में प्रसिद्ध है, जैसे कथानायक कुलीन हो इत्यादि। पात्र की प्रकृति—उत्तम, मध्यम, अधम अथवा दिव्य—के अनुकूल भाव का औचित्य होना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य पात्र में देवताओं जैसा उत्साह दिखलाना अथवा देवपात्रों की मानव जैसी प्रकृति दिखलाना अनौचित्य होगा। मनुष्य राजा के प्रसंग में सात-समुद्र पार करने के उत्साह का वर्णन अनुचित ही होगा। अतः स्थायीभाव का निबन्धन पात्र की प्रकृति के अनुरूप होना चाहिये। अनौचित्य रसभंग का सबसे बड़ा कारण है, अतः औचित्य का अनुसरण करना चाहिये वही रस का मूल रहस्य है—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥[२]

भरत ने इसीलिए नाटक में प्रख्यात कथावस्तु और प्रख्यात उदात्त नायक आवश्यक माना है। प्रख्यात होने के कारण कवि को कोई भ्रम नहीं होता।

जैसे उत्साह स्थायीभाव के वर्णन में औचित्य की अपेक्षा है वैसे रति-भाव के निबन्धन में औचित्य का ध्यान रखना परमावश्यक है। संभोग के दृश्यों को दिखलाना जैसे नाटक में वर्जित है, वैसे ही काव्य में भी उसका वर्णन असभ्यता दोष होगा। अतः इसमें औचित्य का निर्वाह अनिवार्य है। फिर शृङ्गार केवल सुरतवर्णन रूप ही तो नहीं है, उसके और अनेक रूप है, उत्तम प्रकृति के पात्रों में उनका वर्णन करना चाहिये। इसी प्रकार अनुभावों के वर्णन में औचित्य का निर्वाह करना रसव्यञ्जना के लिये अपरिहार्य है।

ऐतिहासिक कथावस्तु मे से रसपूर्ण अंगों को ही ग्रहण करना चाहिये। कल्पित कथावस्तु मे अधिक सावधान रहने की आवश्यकता है। थोड़ी भी असावधानी कवि के अव्युत्पत्तिकृत दोष को प्रदर्शित करेगी। अतः कल्पित कथावस्तु का निर्माण इस प्रकार किया जाना चाहिये कि वह सब को रसपूर्ण प्रतीत हो। यह विभावों के औचित्य का भलीभाँति अनुसरण करने पर ही सम्भव है। ऐतिहासिक कथा में रस-विरोधिनी स्वेच्छा कल्पना का प्रयोग रस-विघातक होता है।

१. ध्व०, (आ० वि०), पृ० १८८
२. ध्व०, (आ० वि०), पृ० १९०

२ ऐतिहासिक कथा के रस-विरोधी प्रसग को त्याग कर अपनी कल्पना से रसोचित प्रसग का आकलन—

इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाऽननुगुणां स्थितिम् ।
उत्प्रेक्षाप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नय ॥[१]

अर्थात् ऐतिहासिक इतिवृत्त की ऐतिहासिकता से प्राप्त भी, अभीष्ट रस के प्रतिकूल स्थिति को त्यागकर, अभीष्ट रस के अनुकूल, कल्पना से कथा का निर्माण करना चाहिए । उदाहरणार्थ 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' मे जैसा शकुन्तला का प्रत्याख्यान वर्णित है वैसा इतिहास मे नही है, पर कालिदास ने अभीष्ट रस के अनुकूल स्थिति का निर्माण अपनी कल्पना से किया है । अत कथा मे अभीष्ट रस के विपरीत स्थल हों तो उन्हे छोडकर अपनी कल्पना से नूतन कथाश का निर्माण करना चाहिये ।

३ प्रबन्ध के रसव्यञ्जकत्व का तीसरा हेतु है—नाट्यशास्त्रोक्त, मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण आदि पाँच सन्धियाँ और सन्ध्यगो का रसानुरूप प्रयोग । यह प्रयोग शास्त्रनिर्देशित नियमो का पालन करने की दृष्टि से ही नही होना चाहिये वरन् रसाभिव्यक्ति के उद्देश्य से इनका समावेश किया जाना चाहिये ।

सन्धिसन्ध्यङ्गघटन रसाभिव्यक्त्यपेक्षया ।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया ॥[२]

४ कथा के बीच बीच मे रस का उद्दीपन तथा प्रशमन तथा प्रधानरस के विच्छिन्न होने पर उसका पुन अनुसन्धान ।

उद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा ।
रसस्यारब्धविश्रान्तेरनुसन्धानमङ्गिन ॥[३]

५ प्रयोग की पूर्ण शक्ति होने पर भी रस के अनुरूप ही अलङ्कार प्रयोग ।

'अलङ्कृतीना शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम्' ।[४]

समर्थ कवि भी कभी-कभी अलङ्कार-रचना मे मग्न हो जाते हैं और रसबध को उपेक्षित कर देते हैं, इसलिए यह कहा गया है कि अलङ्कार-रचना की शक्ति होने पर भी उसके प्रयोग मे कवि को रसानुरूपता का ध्यान रखना चाहिये ।

---

१ वही, पृ० १८८
२ ध्व०, (आ० वि०), पृ० १८८
३ वही
४ वही

अध्याय चतुर्थ

रस-विरोध, अंगीरस, शांतरस और भाव-सम्पदा का समाहार

रस-विरोध और उनका परिहार

काव्य में रस प्रतीयमान अर्थ के रूप में रहता है—यही रस सहृदय की मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति द्वारा अनुभूत होता है। यदि काव्य में प्रतीयमान रस निर्विघ्न नहीं है तो उसकी प्रतीति भी निर्विघ्न नहीहोगी। अतः कवि के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह प्रयत्नपूर्वक रसप्रतीति में व्याघात उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों का परिहार करे। आनन्दवर्धन ने इसी स्थिति की कल्पना कर लिखा है—

> प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन् बन्धुमिच्छता।
> यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनाम्॥[1]

(प्रबन्धकाव्य में अथवा मुक्तककाव्य में (प्रबन्धे मुक्तके वापि) रसादि का निबन्धन करने की इच्छावाले (रसादीन् बन्धुमिच्छता), बुद्धिमान् को (सुमतिना) विरोधियों के परिहार में यत्न करना चाहिये (यत्नः विरोधिनां परिहारे कार्यः)।

आनन्दवर्धन ने रस-निबन्धन की प्रक्रिया में विरोध उत्पन्न करनेवाले पाँच कारणों का विवेचन किया है :

(१) मुख्य रस के विरोधी रस से सम्बन्ध विभावादि का ग्रहण—विरोधिरस-सम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः) इसका तात्पर्य यह है कि प्रबन्ध अथवा मुक्तक में कोई एक रस मुख्य होता है। यदि उस मुख्य रस के विरोधी रस के विभावादियों का निबन्धन उस रस के साथ किया गया तो रस की प्रतीति में व्याघात होगा। उदाहरणार्थ कवि शांत रस के विभावादि का वर्णन कर रहा है और तुरन्त बाद ही शृङ्गार रस के विभावों का वर्णन प्रारम्भ कर देता है तो सहृदय की शान्तरस-प्रतीति में बाधा होगी। शान्त और शृङ्गार का नित्य विरोध होने से ऐसा वर्णन दोषपूर्ण होगा।

---

१. ध्व०, (आ० वि०), पृ० २१२

इसी प्रकार विरोधी रस के व्यभिचारी भावों का ग्रहण भी रस-विघातक होता है। जैसे प्रियतम के प्रति कुपित कामिनियों के प्रसंग में यदि यह कहा जाय कि यह सुन्दर शरीर अथवा जीवन नाशवान है, अन्ततः सभी को मरना है, क्यों समय व्यर्थ करती हो, मान जाओ आदि, तो यह रसानुकूल वचन नहीं होगा। कविराज विश्वनाथ[1] ने इसका उदाहरण—

'मानं मा कुरु तन्वंगि ज्ञात्वा यौवनमस्थिरम्'

अर्थात् 'तन्वंगि! यौवन अस्थिर है, यह जानकर मान छोड़ दो। पं० राम दहिन मिश्र ने 'बच्चन' की कविता का उदाहरण दिया है—

इस पार प्रिये मधु है तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा[2]।

बच्चन की उपर्युक्त-कविता पंक्ति में 'उस पार' का चिन्तन शान्त रस का विभाव है, पर प्रथम पंक्ति शृङ्गार भाव की व्यंजक है। इस प्रकार यहाँ शृङ्गार और शान्त, परस्पर विरोधी रसों के विभावों का निबन्धन साथ साथ हुआ है।

(२) (रस से) सम्बद्ध होने पर भी अन्य वस्तु का अधिक विस्तार से वर्णन—(विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम्)—इसका तात्पर्य यह है कि रस से सम्बद्ध, पर उससे भिन्न वस्तु का अधिक विस्तार से वर्णन रस-विघातक होता है। वास्तव में आनन्दवर्धन रस को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं—रस-प्रतीति में अन्य कोई प्रतीति नहीं हो सकती। यदि अन्य वस्तु की प्रतीति होनी है तो रसानुभूति में बाधा होगी। उदाहरण के लिए नायक नायिका के पर्वत विहार के वर्णन का शृङ्गारमय प्रसंग है, यदि इस प्रसंग में कवि पर्वत के सौन्दर्य का विस्तारपूर्वक वर्णन करने लग जाय तो रस प्रतीति में बाधा होगी। मम्मट ने इसको 'अंगस्याप्यतिविस्तृति' दोष कहा है। यहाँ अंग के अंतर्गत वस्तु और पात्र का भी समावेश है। मम्मट ने इस प्रसंग में 'हयग्रीववध' काव्य में हयग्रीव के क्रियाकलापों के वर्णन को उदाहरण रूप में निर्दिष्ट किया है। कविराज विश्वनाथ ने 'किरातार्जुनीयम्' के आठवें सर्ग में सुरांगनाओं के विलास-वर्णन को इस दोष का उदाहरण कहा है। सच यह है कि अंग रूप में निबद्धनीय रस, वस्तु अथवा पात्र जब अंगी रूप में वर्णन किये जाने लगें या उसका वर्णन ऐसा हो कि अंगी रस उसके समक्ष फीका लगने लगे तो दोषपूर्ण अथवा रसविरोधी ही कहा जायगा। परन्तु, यह वर्णन यदि औचित्य की सीमा में हो तो मुख्य रस का उत्कर्ष हेतु होगा।

---

१ सा० द०, विमला टीका, पृ० २४९

२. रा० द० मिश्र, काव्यदर्पण पृ० ३०३

(३) अनवसर में रसों को विच्छिन्न करना अथवा अवसर न होने पर भी विस्तार करना (अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम्)—अनवसर में रस को विछिन्न करने का स्पष्टीकरण स्वयं आनन्दवर्धन ने इस प्रकार किया है। कवि किसी नायक का ऐसी नायिका से प्रेम-वर्णन करता है जो स्वयं भी उसे चाहती है—प्रेम पुष्ट होता हुआ भी दिखलाया गया है—अब यदि कवि उनके समागम के उपाय का आयोजन करने के स्थान पर किसी अन्य व्यापार का वर्णन करने लगे तो सहृदय को ऐसा प्रतीत होगा जैसे भाव अपनी चरमसीमा तक पहुँचते-पहुँचते रुक कैसे गया? बाधा क्यों हो गई?

मम्मट ने इसे 'अकाण्डे छेदः' दोष कहा है, तथा महावीरचरित के द्वितीय अङ्क से, राम-परशुराम संवाद का उदाहरण दिया है, जब राम वीर रस के चरम बिन्दु पर कहते हैं—'मैं कंकन खोलने जा रहा हूँ।' तो रस प्रतीति में बाधा होती है। परन्तु इस स्थिति का कलात्मक प्रयोग भी किया जा सकता है जैसा डॉ० नगेन्द्र ने[1] निर्देश किया है—'काव्य में जहाँ कवि नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है इस प्रकार के प्रयोग प्रायः चमत्कार की वृद्धि करते हैं।' परन्तु कलात्मक प्रयोग का जो उदाहरण रामचरितमानस से दिया गया है, वह कुछ और ही प्रकार का है—

'आइ गये हनुमान जिमिकरुणा महँ वीर रस'

यह परिस्थिति की अपेक्षा से कहा गया है—करुणा के वातावरण में जैसे एकाएक उत्साह आ जाय वैसे ही लक्ष्मण के वियोग में दुखी श्री राम और वानर समाज में, हनुमान के आने से उत्साह छा गया। यहाँ 'करुणा' और 'वीर' लाक्षणिक प्रयोग हैं।

अनवसर में रस-प्रकाशन भी रस की स्थिति है। जैसे, नाना वीरों के विनाशक कल्पप्रलय के समान भीषण संग्राम के प्रारम्भ हो जाने पर विप्रलम्भ शृङ्गार के प्रसंग के बिना और बिना किसी उचित कारण के रामचन्द्र सरीखे देवपुरुष का भी शृङ्गार-कथा में पड़ जाने का वर्णन करने में।'[2]

मम्मट ने इस प्रसंग में 'वेणीसंहार' नाटक के द्वितीय अङ्क में महाभारत का युद्ध प्रारम्भ हो जाने पर दुर्योधन और भानुमती के शृङ्गार वर्णन का उदाहरण दिया है। लोक में भी इस औचित्य का पालन करना अपरिहार्य है।

---

१. डॉ० नगेन्द्र, रस-सिद्धान्त, पृ० २६६

२. ध्व०, (आ० वि०), पृ० २१५

इतिहास-कथाओं के निबन्धन में भी अङ्ग और अङ्गी का ध्यान रखना आवश्यक है, ऐसा न करने पर दोष स्वाभाविक है।

(४) परिपुष्ट रस का भी पुन पुन उद्दीपन दिखलाना—(परिपोष गतस्यापि पौन पुन्येन दीपनम्) आनन्दवर्धन का कथन है कि 'अपने विभावादि से परिपुष्ट और उपभुक्त रस, बार-बार स्पर्श करने से मुरझाये हुए पुष्प के समान मलिन हो जाता है।'[1] मम्मट ने इसे 'दीप्ति पुन पुन' कहा है। डॉ॰ नगेन्द्र ने प्रियप्रवास के कतिपय सर्गों में विप्रलंभ की पुन-पुन दीप्ति का संकेत किया है। वस्तुत रसपूर्ण स्थिति का भी पुन-पुन कथन उसे नीरस बना देता है। परिपुष्ट रस की बार-बार दीप्ति दिखलाने में उसका आकर्षण समाप्त हो जाता है, चमत्कार की हानि होती है।

(५) व्यवहार का अनौचित्य (वृत्त्यनौचित्यम्)—जैसे नायक के प्रति किसी नायिका का उचित हाव भाव बिना स्वयं सम्भोगाभिलाषा-कथन। इस प्रकार का कथन अनुचित है, अत यह व्यवहार का अनौचित्य कहलाता है। इसके अतिरिक्त भारती, कैशिकी आदि वृत्तियों का अविषय में निबन्धन भी रस विरोध का हेतु होता है। भरत ने नाट्य शास्त्र में कैशिकी, सात्वती, भारती और आरभटी इन चार वृत्तियों के लक्षण दिये हैं, इनके प्रयोग की पृथक्-पृथक् स्थितियाँ हैं। अनवसर में इनका प्रयोग अनौचित्य का कारण होता है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने पाँच रस-विरोधी स्थितियों का निर्देश किया है। संस्कृत काव्यशास्त्र की रस-विरोध-विवेचन-परम्परा में यही पाँच विस्तृत होकर परिगणित होते रहे। मम्मट ने इन्हें रस-दोष के नाम से स्वीकार किया है।

व्यभिचारि-रस-स्थायिभावानां शब्दवाच्यता।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयो ॥
प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्ति पुन पुन।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ अङ्गस्याप्यतिविस्तृति ॥
अङ्गिनोऽननुसन्धान प्रकृतीना विपर्यय।
अनङ्गस्याभिधान च रसे दोषा स्युरीदृशा ॥

मम्मट के इस रसदोष परिगणन में तीन अधिक हैं—

(१) व्यभिचारि—रस और स्थायिभावों की शब्दवाच्यता। अर्थात् रस भाव आदि स्वशब्द वाच्य नहीं होते, रसादि सदैव व्यंग्य होते हैं। अत रस आदि का शब्दश प्रयोग नहीं किया जाना चाहिये जैसे 'एव वादिनि देवर्षौ' आदि श्लोक में

---

१ ध्व॰ (आ॰ वि॰), पृ॰ २१६

पार्वती की लज्जा उसके अनुभावों से ही प्रकट हो जाती है, लज्जा भाव वहाँ व्यंग्य है। स्वशब्द से कथित होकर रसादि में भावोत्प्रेरण की सामर्थ्य नहीं रहती। रसादि की प्रतीति तो विभावमुखेन ही होती है। डॉ० नगेन्द्र ने इस दोष के उदाहरण-स्वरूप साकेत से कुछ पंक्तियाँ दी हैं—

सीता भी नाता तोड़ गई,
इस वृद्ध ससुर को छोड़ गई।
उर्मिला वहू की बड़ी बहन,
किस भाँति करूँ मैं शोक सहन?

इस उद्धरण में 'शोक' का तथ्य कथन मात्र है। सहृदय को भी रसात्मक प्रतीति नहीं होती।

परन्तु अनेक स्थल ऐसे भी होते हैं जहाँ रस, भावादि का स्वशब्द कथन दोषपूर्ण नहीं लगता। डॉ० नगेन्द्र ने कामायनी का यह उदाहरण दिया है—

प्रलय में भी बच रहे हम, फिर मिलन का मोद,
रहा मिलने को बचा सूने जगत की गोद।
ज्योत्स्ना सी निकल आई! पार कर नीहार,
प्रणय-विधु है खड़ा नभ में लिये तारक-हार। (का० प्र० सं० पृ० ६२)

'कामायनी' के उपर्युक्त छन्द में 'प्रणय' का स्वशब्द से कथन है, परन्तु इसमें दोष प्रतीत नहीं होता। इन पंक्तियों को रस-हीन नहीं कहा जा सकता। अतः सर्वत्र रस, स्थायी और व्यभिचारी भावों का शब्दशः कथन दोष नहीं होता।

(२) मम्मट ने विभावों की कष्ट कल्पना को भी दोष कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि रसादि के विभावों की स्पष्ट प्रतीति होनी चाहिये। यदि विभावों का वर्णन स्पष्टतः नहीं है तो सहृदय निर्णय ही नहीं कर पायेगा कि विभाव किस स्थिति के द्योतक हैं, जैसे—

उठति गिरति फिर-फिर उठति, उठि-उठि गिरि-गिरि जाति।
कहा करौं कासे कहौं, क्यों जीवै यह राति॥

इन पंक्तियों में यह ज्ञात नहीं होता कि नायिका की यह दशा किस कारण से है। विरह और साधारण व्याधि दोनों में ही यह स्थिति सम्भव है। अतः विभावों का निश्चित और स्पष्ट कथन रसादि की प्रतीति के लिए आवश्यक है।

(३) अङ्गी रस का अननुसन्धान। अर्थात् कवि को इस बात का सतत प्रयत्न करना चाहिये कि प्रधान रस तिरोहित होता प्रतीत न हो।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत काव्यशास्त्र मे रस-दोष-विवेचन का आधार आनन्दवर्धनकृत रस-विरोध प्रकरण ही है। निष्कर्षत आनन्दवर्धन ने[1] कहा है—

१ सुकवियो के व्यापार के मुख्य विषय रसादि हैं, अत रसादि के निबन्धन मे कवियो को प्रमादरहित रहकर प्रयत्न करना चाहिए।

२ 'कविता की नीरसता', कवि के लिए सबसे बड़ा अपशब्द है। ऐसे कवि को यश नही मिलता।

३ यदि पूर्वकाल मे रस-विरोध परिहार के नियमो को भग कर काव्य-रचना करने वाले कवि हो गये हैं तो उन्हे उदाहरण मानकर भी नियम भग नही करना चाहिए।

४ जो नीतिनिर्देश ऊपर किये गये हैं, वे महाकवियो के अनुसार ही हैं।

४-२ विरोधी रसो के निबन्धन का नियम

काव्य मे विरोधी रसो के निरूपण से दोष का कथन इसलिये किया गया है कि इससे प्रधान रस के निर्वाह मे बाधा उत्पन्न होती है। यदि प्रधान रस परिपोष को प्राप्त हो चुका हो तो विरोधी रसो के निबन्धन मे भी कोई दोष नही है। विरोधी रसो का यह निबन्धन दो प्रकार से हो सकता है, (१) बाध्य रूप से अथवा (२) अग रूप से।

विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम्।
बाध्यानामगभाव वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला ॥

विरोधी रसो का बाध्य रूप में वर्णन प्रधान रस का परिपोषक ही होता है। बाध्य रूप मे वर्णन का अर्थ है विरोधी रसो का अभिभव दिखलाना। इसका तात्पर्य यह हुआ कि विरोधी रसो के अगो का वर्णन इस प्रकार किया जाये कि वे प्रधान रस से अभिभूत प्रतीत हो।[2] इस प्रकार निबन्धित विरोधी रसो के अग प्रधान-रस के पोषक ही होंगे, उनका विरोध-भाव तिरोहित हो जायेगा।

---

१ ध्व०, (आ० वि०), पृ० २१७

२ स्वसामग्र्या लब्धपरिपोषे तु विवक्षिते रसे विरोधिनां, विरोधिरसांगानां, बाध्यानामगभाव वा प्राप्तानां सतामुक्तिरदोष। बाध्यत्व हि विरोधिनां शक्याभिभवत्वे सति, नान्यथा। तथा च तेषामुक्ति प्रस्तुतरसपरिपोषायैव सम्पद्यते। ध्व० (आ० वि०), पृ० २१८

विरोधी रस को प्रधान (अंगी) रस के अंग रूप में प्रस्तुत किये जाने से कोई हानि नहीं है।[1] यह अंग भाव दो प्रकार का हो सकता है—(१) स्वाभाविक और (२) समारोपित। स्वाभाविक अंग भाव वाले रस के वर्णन में विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता। जैसे विप्रलंभ शृंगार में व्याधि उसका स्वाभाविक अंगभूत है अतः विप्रलंभ शृंगार में व्याधि का वर्णन दोषपूर्ण नहीं है, परन्तु जो विप्रलंभ के स्वाभाविक अंग नहीं हैं, उनके निबन्धन में दोष होगा। वास्तव में व्याधि करुण का भी अंग है, करुण और शृंगार में विरोध भाव है। परन्तु करुण का अंग होते हुए भी व्याधि वियोग शृंगार का अंग है अतः वियोग शृंगार के अंग रूप में व्याधि का कथन दोषपूर्ण नहीं होगा, परन्तु करुण के अन्य अंग जैसे आलस्य, उग्रता, जुगुप्सा आदि—जो शृंगार के अंग नहीं हैं—का वियोग-शृंगार में अंग रूप में वर्णन दोषपूर्ण ही माना जायेगा। 'मरण' यद्यपि विप्रलंभ का अंग हो सकता है, पर उसका वर्णन नहीं करना चाहिये। आश्रय का नाश होने पर तो रस का नाश होगा ही। यह ठीक है कि मरण के वर्णन से करुण का परिपोषण होगा, पर करुण प्रस्तुत अथवा प्रधान रस तो है नहीं अतः उसका पोषण अभीष्ट ही नहीं है। इसलिए मरण का वर्णन करने से अभीष्ट वियोग शृंगार का विच्छेद हो जायेगा। जहाँ करुण-रस ही प्रधान अथवा प्रस्तुत रस हो, वहाँ 'मरण' का वर्णन भी दोषपूर्ण नहीं होगा।

विरोधी रस के अंगों का बाध्यत्वेन वर्णन करने से भी रस-विरोध नहीं होता। जैसे निम्नलिखित उदाहरण में—

> क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं, (१) भूयोऽपि दृश्येत सा, (२)
> दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो, (३) कोपेऽपि कान्तं मुखम्। (४)
> किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः, (५) स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा, (६)
> चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा, (७) धन्योऽधरं पास्यति॥ (८)

उपर्युक्त श्लोक में विरोधी भावों का कथन है, परन्तु इस प्रकार है कि एक भाव द्वितीय के द्वारा बाधित हो जाता है। इसका विश्लेषण निम्नलिखित है—

१. कहाँ यह अकार्य कहाँ उज्ज्वल चन्द्रवंश। ......(वितर्क)
२. क्या वह पुनः दिखलाई देगी? ......(औत्सुक्य)
३. मैंने दोषों (कामादि) के प्रशमन हेतु शास्त्रों का श्रवण किया था। (मति)
४. क्रोध में भी मुख कैसा सुन्दर था। (स्मरण)

---

१. अंगभावं प्राप्तानां च तेषां विरोधित्वमेव निवर्तते। वही—

५ पुण्यात्मा मेरे इस कार्य को क्या कहेंगे ? (शका)
६ वह स्वप्न मे भी दुर्लभ है। (दैन्य)
७. चित्त धैर्य धर। (धृति)
८ न जाने कौन भाग्यशाली उसके अधरामृत का पान करेगा। (चिन्ता)

उपर्युक्त भावो मे से वितर्क, मति, शका, धृति, ये चार शान्त रस के सचारी भाव हैं, शेष चार शृ गार रस के। एक ही आलबन मे शान्त और शृ गार का वर्णन दोष है क्योकि शृ गार और शान्त मे नित्य विरोध है। परन्तु उपर्युक्त वर्णन में शान्त रस के सचारी का बाध शृ गार के सचारी से होता है। वितर्क का औत्सुक्य से, मति का स्मरण से, शका का दैन्य से और धृति का चिन्ता से बाध्यत्वेन वर्णन है। इसलिए यहाँ दोष नही है। इस श्लोक में उर्वशी के स्वर्ग चले जाने के उपरात राजा पुरूरवा के मन में उठते विचार सघर्ष की अभिव्यक्ति है।

२ परस्पर विरोधी रसाग भी अगरूप मे वर्णित होकर अविरोधी हो जाते हैं। स्वाभाविक अगरूपता प्राप्ति का उदाहरण निम्नलिखित श्लोक मे देखा जा सकता है—

> भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलय मूर्च्छां तम शरीरसादम्।
> मरण च जलदभुजगज प्रसह्य कुरुते विष वियोगिनीनाम्॥[1]

(मेघरूप सर्प से उत्पन्न विष वियोगिनियो को (जलद भुजगज विष वियोगिनीनाम्) चक्कर, बेचैनी, मूर्च्छा, तम, शरीरसन्नता उत्पन्न कर देता है।)

उपर्युक्त श्लोक मे भ्रम आदि 'व्याधि' के अनुभाव हैं। व्याधि करुण का भाव है, परन्तु ये वियोग शृ गार मे भी सभव हैं, अत यहाँ व्याधि के अनुभाव स्वाभाविक अगरूपता को प्राप्त हो गये हैं।

समारोपित अगरूपता का उदाहरण इस श्लोक में देखा जा सकता है—

> पाण्डुक्षाम वदन हृदय सरस तवालस च वपु।
> आवेदयति नितान्त क्षेत्रियरोग सखि हृदन्त॥[2]

(हे सखि! तेरा पीला चेहरा (पाण्डुक्षाम वदनम्), सरसहृदय (सरस हृदयम्) और तेरी अलस देह (च तव अलस वपु), हृदय स्थित असाध्य रोग की सूचना देते हैं (हृदन्त क्षेत्रियरोग आवेदयति))

---

१ ध्व०, (आ० वि०), पृ० १२१
२. वही, पृ० २२३

यहाँ करुण रसोचित व्याधि का वर्णन है, परन्तु श्लेष से उसका आरोप विप्रलंभ शृंगार में भी कर लिया गया है। इस प्रकार का वर्णन भी दोषपूर्ण नहीं है।

३. यदि काव्य-वाक्य में प्रधान भाव कोई अन्य हो और दो परस्पर विरोधी रस उस प्रधान भाव के अंग रूप में वर्णित हों तो भी रस-विरोध नहीं होता। जैसे 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' श्लोक में प्रधान भाव भगवान् शिव के प्रभावातिशय के प्रति भक्ति है। ईर्ष्या विप्रलंभ और करुण, दोनों परस्पर विरोधी रस उस प्रधान भाव के अंग हैं। इस प्रकार से दो विरोधियों का, किसी अन्य के अंग रूप में वर्णन भी दोषपूर्ण नहीं होता।

पुनः यह ध्यातव्य है कि दो विरोधी रसों का विधि रूप में निबन्धन किया जाय तो दोष होता है, अनुवादरूप निबन्धन में नहीं। विधि और अनुवाद का प्रस्तुत प्रसंग में क्रमशः प्रधान तथा 'गौण' अर्थ है।

रसों को वाक्यार्थरूप स्वीकार किया जाता है। जब वाच्य रूप वाक्यार्थ में विधि और अनुवादरूपता रह सकती है तो वाच्य से आक्षिप्त रस में भी विधि और अनुवादरूपता रह सकती है। अथवा जैसे किसी तीसरे प्रधान के साथ दो परस्पर विरुद्ध सहकारी मिलकर कार्य करते हैं वैसे ही दो परस्पर विरुद्ध रस किसी तीसरे प्रधान रस के अंगभूत हो सकते हैं। और विरुद्धत्व तब होता है जब एक कारण से, एक साथ, विरुद्ध परिणामों का उत्पादन हो, दो विरोधियों के सहकारित्व में विरोध नहीं है।

काव्य में उपर्युक्त तर्क ठीक है कि दो परस्पर विरोधी रस किसी तीसरे के अंग बन सकते हैं, पर नाटक में इसका अभिनय कैसे होगा ? इसका समाधान 'क्षिप्तो हस्ता-वलग्नः' आदि के अभिनय को समझाकर किया गया है। इस श्लोक में शिव के प्रताप को प्रकट करने में करुण रस अधिक सहायक है अतः प्रकरण से वही अधिक सम्बद्ध भी है। विप्रलंभ शृङ्गार तो उपमा के बल से आक्षिप्त होता है। अतएव अभिनय करते समय करुणरस को प्रधान मानकर प्रथमतः 'साश्रुनेत्रोत्पलाभिः' तक का अभिनय करना चाहिए, फिर 'कामीवार्द्रापराधः' को जरा प्रणयोचित अभिनय कर के प्रकट करना चाहिए, फिर 'स दहतु दुरितं' को उग्र होकर शिव के प्रभाव को प्रकट करते हुए अभिनय को समाप्त करना चाहिए।

इतना ही नहीं, कभी वाक्यार्थरूप करुणरस के विषय को उसी प्रकार के वाक्यार्थरूप शृङ्गार विषय के साथ चमत्कारपूर्ण ढंग से जोड़ देने पर वह शृङ्गार-विषय करुण का पोषक हो जाता है, जैसे—

अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥

(करधनी को हटानेवाला, पुष्ट स्तनो को मर्दन करनेवाला, नाभि, जघा और नितम्ब का स्पर्श करने वाला यह वही हाथ है)

इस प्रकार विरोधी रसो का भी निवन्धन किया जा सकता है। आनन्दवर्धन रसो के इस निवन्धन मे भी किसी परम्परा से बद्ध नहीं हैं, वे व्यवहार मे जो काव्य उपलब्ध है, उसी के आधार पर अपनी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। क्या भाव-वर्णन के सन्दर्भ मे दिये गये उपर्युक्त नियमो को किसी भी काल अथवा देश की कविता पर लागू नहीं किया जा सकता ? ये नियम सहृदय की रस-प्रतीति को ध्यान मे रखकर ही कहे गये हैं।

४-३ काव्य मे एक ही रस का निवन्धन

यद्यपि प्रवन्धकाव्य मे अनेक रसो का समावेश होता है, परन्तु प्रधानता किसी एक रस की ही होनी चाहिये। इस प्रधान रस को ही अगी रस कहते हैं—

प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने।
एको रस अगी कर्तव्य तेषामुत्कर्षमिच्छता॥

क्योकि अंगीरस स्थायी रूप से समस्त प्रबन्ध मे व्याप्त रहता है, स्थायी रूप मे प्रतीत होता है अत अन्य रसो से इस अगी रस का विघात नहीं होता।

अगी रस प्रवन्ध काव्य मे अन्य रसो की अपेक्षा प्रथम प्रस्तुत होना है तथा पुन -पुन, उपलब्ध होता रहता है। सम्पूर्ण प्रबन्ध मे वर्तमान अगी रस इसीलिए किसी एक को बनाना चाहिये। जिस प्रकार प्रबन्धकाव्य में एक प्रधान कार्य होता है और अन्य कार्यव्यापार उसी एक प्रधान कार्य के पोषक होते हैं वैसे ही प्रबन्धकाव्य मे एक प्रधान रस होना चाहिए, अन्य रस उसी के पोषण-कार्य का सम्पादन करते हैं।

सामान्यत रसो मे परस्पर दो प्रकार का विरोध होता है (१) सहानवस्थान विरोध, अर्थात् दो रस समान स्थिति मे एक साथ नहीं रह सकते। (२) द्वितीय प्रकार का वध्यघातक विरोध है, अर्थात् एक उदय होने से दूसरे का अवसान होता हो, जैसे घातक के उदय से (प्रकट होने से) वध्य का वध होता है।

जिन रसो मे प्रथम प्रकार का (सहानवस्थान) विरोध है, उनका अगागि भाव हो सकता है। जैसे—वीर और शृङ्गार, शृङ्गार और हास्य, रौद्र और शृङ्गार, रौद्र और करुण, शृङ्गार और अद्भुत, इन रसो का अगागिभाव सम्भव है। परन्तु शृङ्गार और बीभत्स, वीर और भयानक, शान्त और रौद्र मे परस्पर वध्यघातक-भाव विरोध है। शृङ्गार मे आलम्बन के प्रति रति होती है, बीभत्स मे आलम्बन

से पलायन का भाव होता है ऐसी स्थिति में बीभत्स के उदय होते ही शृङ्गार का नाश स्वाभाविक है।

प्रबन्धकाव्य में अंगीरस की अपेक्षा अन्य रसों के परिपोष के विषय में आनन्दवर्धन ने तीन संकेत दिये हैं—

(१) प्रधान रस की अपेक्षा अविरोधी रस का अत्यन्त आधिक्य नहीं करना चाहिए। जैसे —

एकतो रोदिति प्रिया अन्यतः समरतूर्यनिर्घोषः।
स्नेहेन रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम् ॥

एक ओर प्रिया रो रही है, दूसरी ओर युद्ध के बाजों का घोष है, स्नेह और रणरस से वीर का हृदय दोलायमान हो रहा है।

इस श्लोक में सहानवस्थान विरोधी शृङ्गार और वीर का वर्णन है। दोनों का साम्य है, इसीलिए अविरोध है, अतः इस सीमा तक ही दूसरे रस को परिपोष देना चाहिए, इससे अधिक नहीं।

(२) या तो अंगी रस के विरुद्ध व्यभिचारी भावों का निवेश ही न किया जाय, अथवा निवेश किया भी जाय तो उन्हें तुरन्त अंगी रस के व्यभिचारी भावों में परिवर्तित कर दिया जाय।

(३) अंगभूत रस का परिपोष करने पर भी उसकी अंगरूपता का ध्यान सदैव रखना चाहिये।

उपर्युक्त संकेतों का सार यह है कि अंगी रस के समान अन्य रस का परिपोष नहीं किया जाना चाहिये।

एकाश्रय में विरोधी रसों के विरोध-परिहार की विधि

प्रधान रस और विरोधी रस यदि एकाधिकरण्य विरोधी हों, अर्थात् एक स्थान पर न रह सकते हों, जैसे वीर और भयानक, तो उन्हें भिन्न आश्रयों में कर देना चाहिये। यदि वीर और भयानक का ही प्रसंग हो तो वीर को नायक में दिखलाना चाहिये और भयानक को प्रतिनायक में। ऐसी स्थिति में दोनों ही रस परिपुष्ट हो सकते हैं।

४-४ नैरन्तर्य विरोधी रसों के विरोध-परिहार की विधि

जब दो रस अव्यवहित रूप से पास-पास न आ सकते हों, अर्थात् एक के तत्काल बाद दूसरा न आ सकता हो तब उनमें नैरन्तर्य विरोध कहा जाता है। ऐसे दो रसों के बीच में एक अविरोधी रस का समावेश कर देना चाहिए।

४-५ शान्त रस

आनन्दवर्धन शान्त रस स्वीकार करते हैं। भरत ने नाट्य में आठ रसों[1] का ही परिगणन किया है। शान्त रस के विषय में अनेक मत मिलते हैं। कतिपय विद्वानों का मत है कि भरत ने शान्त रस के विभावादि का प्रतिपादन नहीं किया, इसलिए शान्त रस होता ही नहीं। अन्य लोगों का मत है कि काव्य में शान्त रस हो सकता है नाटक में वह कथमपि सम्भव नहीं है, जो लोग 'नागानन्द' नाटक में शान्त रस मानते हैं, वह ठीक नहीं है। नागानन्द का मुख्य रस 'दयावीर' है धनञ्जय-धनिक 'शान्त' में सभी व्यापारों का विलय मानते हुए उसे नाटक के लिए अनुपयुक्त कहते हैं।

आनन्दवर्धन ने शान्त रस को स्वीकार करते हुए निम्नलिखित तर्क दिये हैं—

(१) तृष्णानाश से उत्पन्न सुखस्वरूप शान्त रस है।

(२) संसार के काम-सुख और अन्य अलौकिक महान् सुख सतोषजन्य सुख की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं है।

(३) यदि शान्त रस सर्वसाधारण के अनुभव का विषय नहीं है तो इससे यह कैसे सिद्ध होता है कि शान्त रस है ही नहीं। महापुरुषों की चित्तवृत्ति-विशेष-रूप शान्त रस का निषेध नहीं किया जा सकता।

(४) वीर रस में शान्त रस का अतर्भाव नहीं किया जा सकता। वीर रस अहंकारमय रूप में स्थित होता है। शान्त रस में अहंकार प्रशम की स्थिति होती है। यदि इस भेद के रहते भी वीर और शान्त को एक माना जाय तो वीर और रौद्र को भी एक मानना होगा।

(५) दयावीर आदि में चित्तवृत्ति यदि अहंकारशून्य हो तो उसे शान्त रस का भेद कहा जा सकता है यदि अहंकार है तो वह वीर रस का ही भेद होगा।

(६) अतः शान्त रस है[2] तथा काव्य में उसका निबन्धन किया जा सकता है, यदि विरोधी रस का प्रसंग हो तो शान्त और उस विरोधी रस के बीच अविरोधी रस का समावेश कर देना चाहिए। जैसे नागानन्द में शान्त और मलयवती के प्रेम विषयक शृङ्गार के बीच अद्भुत का समावेश किया गया है।

---

१. शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥ —नाट्यशास्त्र ६ १६

२. तदेवमस्ति शान्तो रसः। तस्य चाविरुद्ध-रसव्यवधानेन प्रबन्धे विरोधि-रससमावेशे सत्यपि निर्विरोधत्वम्

शान्त रस के सम्बन्ध में 'अहं' की स्थिति का तर्क आनन्दवर्धन ने ही दिया है। निश्चय ही आनन्दवर्धन व्यवस्था पसन्द करते थे। डॉ० नगेन्द्र ने आनन्दवर्धन की इस तर्कणा को महत्त्व न देकर कहा है—'उनसे रस-संख्या में वृद्धि की आशा व्यर्थ है—उन्होंने भी रसों की ही चर्चा की है।'[1] आनन्दवर्धन संख्या नहीं, तर्कसम्मत व्यावहारिक व्यवस्था में ही विश्वास रखते थे।

रस-विरोध तथा अविरोध का इसी प्रकार निबन्धन करना चाहिये। शृङ्गार के प्रसंग में कवि को विशेषतः सावधान रहने की आवश्यकता, क्योंकि शृङ्गार अति कोमल रस है[2] और उसमें जरा-सा भी प्रमाद तुरन्त प्रतीत हो जाता है। शृङ्गार-निबन्धन मे प्रमाद करने वाला कवि शीघ्र ही तिरस्कार का पात्र बनता है।[3] संसार के सभी व्यक्तियों के अनुभव का विषय होने से शृङ्गार सौन्दर्य की दृष्टि से श्रेष्ठतम है। अतः महाकवि रसादि को मुख्यतः काव्य का विषय बनाकर उसके अनुरूप शब्दों और अर्थो की योजना करे।

आधुनिक युग मे रस-सिद्धान्त की पुनः नूतन व्याख्या करके ऐसे दावे किए गये हैं कि अब वह तथाकथित नूतन व्यापक रस-सिद्धान्त कविता का सार्वभौम सिद्धांत हो गया है। डॉ० राकेश गुप्त ने काव्यास्वाद का नया सिद्धान्त स्थापित कर परम्परागत रस-सिद्धान्त की सीमायें दिखलाईं। डॉ० नगेन्द्र ने भी रस-सिद्धान्त को संकीर्ण परिभाषा से मुक्त कर व्यापक—ऐसा जिसमें समस्त अनुभूति-वैभव अथवा भावसम्पदा समा सके—रूप में प्रतिष्ठित करने का महत् प्रयत्न किया। डॉ० दीक्षित ने निष्पन्न रस के आग्रह को त्याग कर 'भाव फुहार' में ही रस मान कर, रस-सिद्धान्त को सर्वत्र प्रयुक्त करने योग्य मानवीय सिद्धान्त कहा। परन्तु, जैसा पिछले अध्यायों में स्पष्ट किया गया है, रस की व्यंग्यता, अभिनव प्रतिपादित साधारणीकरण, रस, भाव, रसाभास, भावाभास का रसकोटि में परिगणन, रस-दोष, प्रबन्ध द्वारा रस-व्यजना, अङ्गी रस, शान्त रस आदि की जो भी कल्पना संस्कृत काव्यशास्त्र में उपलब्ध है, उसका आधार 'ध्वनिसिद्धान्त' में आनंदवर्धन द्वारा प्रतिपादित एतद्विषयक धारणाएँ हैं। अतः जिसे रस-शास्त्र कहा जा रहा है, वह आनन्दवर्धन का असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य का रस-शास्त्र ही है।

आनन्दवर्धन की रस-विषयक धारणाओं के विषय में शिवप्रसाद भट्टाचार्य ने ठीक ही कहा है,—'रस स्वतन्त्र अस्तित्व है अन्य काव्योपादानों का संयोजक तत्त्व

१. डॉ० नगेन्द्र, रस-सिद्धान्त, पृ० २४०
२. विरोधमविरोधं च सर्वत्रेत्यं निरूपयेत्।
विशेषतस्तु शृङ्गारे सुकुमारतमो हि सः॥
३. अवधानातिशयवान् रसे तत्रैव सत्कविः।
भवेत् तस्मिन् प्रमादो हि झटित्येवोपलक्ष्यते॥—ध्व०, (आ०वि०), पृ० २४१

है, स्वय प्रकाश है, इत्यादि आनन्दवर्धन के सिद्धान्त का मुख्य स्वर है जिसे उन्होने घट-प्रदीप न्याय से स्पष्ट किया है, वाद की विचार-परम्परा ने आनन्दवर्धन की इस धारणा को धम और दार्शनिक आवरण मे आवेष्टित कर प्रस्तुत किया।"[1]

ध्वनिसिद्धान्त कविता मे व्यक्त मानव की सम्पूर्ण अनुभूति-सम्पदा का विवेचन करता है मानवीय भावनायें किस-किस रूप मे कविता मे प्रकट हो सकती हैं, सहृदय उनको ग्रहण कर किस प्रक्रिया स आनन्दित होता है, ग्रहण की प्रक्रिया क्या होती है ? आदि मौलिक समस्याओ का समाधान ध्वनि-सिद्धान्त करता है। कविराज विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' मे कविता की परिभाषा के प्रसग मे 'अन्य परिभाषाओं का खडन करते हुए आनन्दवधन के 'काव्यस्यात्मा ध्वनि' का भी खडन किया है। परन्तु, 'काव्यस्यात्मा ध्वनि' काव्य की परिभाषा नही है। यह तो केवल यह बतलाता है कि काव्य का सारतत्त्व प्रतीयमान अर्थ की श्रेष्ठता है। काव्य का स्वरूप कवि-अनुभूति की प्रतीयमानता रूप है। किसी भी काव्य कही जानेवाली रचना का प्रभाव, उसमे प्रतीयमान रूप मे व्यजित भाव के अतिशय होने के कारण होता है। यह प्रतीयमान अर्थ अनक प्रकार का हो सकता है। केवल वस्तु की प्रतीयमानता के ही असख्य रूप हैं। अलकार, कवि-कल्पना के विलास ही हैं। कल्पना का यह विलास विविध रूपो मे विलसित होता है। नवरस विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियो के पृथक्-पृथक् परिगणन से सैकडो प्रकार के हो सकते हैं। इस प्रकार वस्तु, अलङ्कार और रसादि मे समस्त विश्व समाहित है। ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में मुक्तक, मुक्तक के कुलक आदि पाँच भेद, प्रवन्ध, नाटक आदि मे रस की व्यजना पर विचार कर आनन्दवर्धन ने रस-सिद्धान्त को व्यापकतम स्वरूप प्रदान किया है।

टी० एस० इलियट[2] ने काव्य मे तीन प्रकार के वाइसेज (Voices) माने हैं—'(१) प्रथमत कवि की वह विधि जिसमें वह स्वय से ही वार्तालाप करता है, वह अन्य निरपेक्ष होता है (२) द्वितीय में कवि जन-मन को अपनी बात कहता है (३) तृतीय मे कवि ऐसे नाटकीय पात्र की रचना करता है, जो कविता मे बात करता है, कवि

---

१ That Rasa is an independent entity co-ordinating all other entities and that it is self illuminating is the burden of what Anandvardhan himself has tried to emphasis with the help of the maxim of the jar and the lamp Later thought served to clothe it only in terms of religio philosophical content, page 47 Studies in Indian Poetics

२. K Krishnamoorthy—Essays in Sanskirt Literary Criticism, P 275

इसमें स्वयं को नाटकीय पात्र की सीमाओं में ही व्यक्त करता है। प्रथम प्रकार की कविता किसी के भी साथ संप्रेषण की आकांक्षा नहीं करती, यह कवि की आत्माभिव्यक्ति से ही सम्बद्ध होती है। यदि गीतिकाव्य को व्यापक अर्थों में ग्रहण किया जाय तो सम्पूर्ण गीति काव्य इस प्रथम प्रकार में रखा जा सकता है। द्वितीय प्रकार प्रबन्ध-काव्यों में देखने को मिलता है। समाज को संदेश देनेवाली, नीतिनिर्देश करनेवाली कविता में यही विधि प्रमुख रहती है। तृतीय प्रकार काव्य-नाटक में उपलब्ध होता है। वस्तुतः काव्य-नाटक में ये सभी प्रकार अन्तर्भुक्त होते हैं, इसीलिए नाटक को काव्य की श्रेष्ठतम विधा कहा जाता रहा है (काव्येषु नाटकं रम्यम्)। कृष्णमूर्ति ने इलियट के कथन से निष्कर्ष निकालते हुए ठीक कहा है कि 'इस माध्यम से आलोचक काव्य के विभिन्न स्तरों को पहचान सकता है। यदि उसे कवि की अनुभूति के केन्द्र तक पहुँचना है तो उसे गीत, प्रबन्ध और नाटक में उपर्युक्त तथ्यों का ध्यान रखना होगा।

प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्र ने काव्य के सामाजिक और नीतिपरक रूप को इतना महत्त्व दिया कि केवल महाकाव्य ही का काव्य श्रेष्ठ रूप समझा जाने लगा। गीतिकाव्य को उसी सीमा तक महत्त्व दिया गया जिस सीमा तक वह सामाजिक और नीतिपरक उद्देश्यों को पूर्ण कर सकता था। कवि का संप्रेषण से कोई मतलब नहीं है और यदि वह प्रचलित प्रयोगों से भिन्न प्रयोग करता है तो निश्चय ही आत्माभिव्यक्ति की इच्छा से प्रेरित होकर। प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने इस मूलभूत तथ्य को विस्मृत कर, कवि के प्रयोगों को अलङ्कारों के नाम से विविध रूपों में वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया।

आनन्दवर्धन ने इन पारम्परिक विधानों को स्वीकार नहीं किया। कवि की अनुभूति, उसकी सृजनात्मक कल्पना (प्रतिभा) ध्वनिसिद्धान्त का मूलभूत आधार है। ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत में कवि-प्रतिभा के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन ने विस्तार से कहा है। इलियट प्रतिपादित द्वितीय वॉइस (Voice) प्रकार भी प्रथम के अभाव में, अर्थात् अनुभूति और सृजनात्मक कल्पना के अभाव में प्राणहीन है। प्रथम प्रकार में कवि की प्रतिभा ही सब-कुछ है—इसके अभाव में कविता, शायद कविता ही न कही जा सके। कवि की अनुभूति प्रतीयमान रसादि में परिणत होती है। अतः आनन्दवर्धन ने प्रबन्ध आदि में भी इसकी प्रामाणिकता की चर्चा कर प्रबन्धकाव्यों को परखने की नूतन दृष्टि दी है। कृष्णमूर्ति ने इलियट के वाइस को आनन्दवर्धन की 'ध्वनि' का समानधर्मी कहा है।[1] आनन्दवर्धन ने भी ध्वनि तीन प्रकार की मानी है तथा ध्वनि

१. एसेज इन संस्कृत लिटरेरी क्रिटीसिज्म, पृ० २७७

के अभाव मे काव्यत्व का अनस्तित्व प्रतिपादित किया है। इलियट की प्रथम वाइस (Voice) कविता का मूल है, यह रस-ध्वनि की समानधर्मी है। मुक्तकों मे यह प्रथम वाइस ही प्रभावकारी होती है। द्वितीय वाइस का विलास प्रवन्ध काव्यों मे देखा जा सकता है। आनन्दवर्धन के अनुसार मुक्तक मे एक भाव अथवा रस व्यजित होता है, महाकाव्य मे अनेक भाव और अनेक रस रह सकते हैं।

अत ध्वनि केवल रसादि से सम्बद्ध नही है—वस्तु और अलङ्कार, अन्य शब्दों में सप्रेषित वस्तु और सप्रेषण विधि तक ध्वनि का विस्तार है। रसादि का प्रभाव तत्क्षण होना है, जबकि अर्थशक्त्युद्भव मे क्रम स्पष्ट रहता है। अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के तीन प्रकार कहे गये हैं—(१) स्वत सम्भवी, जो लोक मे सम्भव है, (२) कविप्रौढोक्ति सिद्ध, जो कवि-कल्पना मे सम्भव है, (३) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध, कवि-कल्पना निर्मित पात्र द्वारा कथित प्रौढोक्ति है।

उपर्युक्त मे से प्रथम म, प्रवन्ध अथवा मुक्तक म वर्णित सभी लोक-सम्भव विषयवस्तु का समावेश हो जाता है। द्वितीय मे कवि-कल्पना के सभी सम्भव छाया रूप आ जाते हैं। तृतीय मे नाटक के पात्रों का विधान पूर्ण होता है। वस्तु और अलङ्कार अनेक रूपों मे व्यक्त हो सकते हैं। इस प्रकार 'ध्वनि' मे सबका समावेश होता है। अत पृथक् से 'भावव्यापार' का विश्लेषण करनेवाले अथवा अनुभूति-सम्पदा को समेट लने वाले पुराने अथवा नये रस-सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं रह जाती।

'डे' ने भारतीय काव्यशास्त्र को तैयार कविता का विश्लेषक माना है। उनके अनुसार पारम्परिक काव्यशास्त्र काव्य की सृजन-प्रक्रिया का विवेचन नही करता। 'डे' की यह धारणा भ्रामक है। ध्वनिसिद्धान्त काव्यप्रक्रिया का पूर्ण विवेचन प्रस्तुत करता है, जैसा कि पूर्व पृष्ठों मे स्पष्ट किया जा चुका है।

ध्वनिसिद्धान्त के रसादि-रूप-विषयक अश का विवेचन किया जा चुका है। अत सलक्ष्यक्रमव्यग्य का स्वरूप सृजन-प्रक्रिया के सन्दर्भ मे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

सलक्ष्यक्रमव्यग्य विवेचन

सलक्ष्यक्रम मे वाच्यार्थ से व्यग्यार्थ तक पहुँचने का क्रम प्रतीत होता है। सहृदय पहले वाच्यार्थ का अवगम करता है तदनन्तर वाक्यार्थीभूत प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति करता है। ध्वनि के इस प्रकार मे शब्द स्वय अपने अर्थ को और अर्थ स्वय को व्यग्यार्थ के लिये उपसर्जनीकृत कर देते हैं। सलक्ष्यक्रम प्रतीति मे बुद्धि का व्यापार सिद्ध है। सहृदय पहले वाच्यार्थ का ज्ञान प्राप्त करता है फिर विमर्शपूर्वक व्यग्यार्थ का ज्ञान प्राप्त करता है। इस कविता मे जो आनन्द आता है वह निश्चय

ही शैवदर्शन के 'शिव' के समकक्षी 'रस' का डुबो देने वाला आनन्द नहीं है—यहाँ तो निहित अर्थ के ज्ञान से उत्पन्न चमत्कार का आनन्द ही प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए 'भ्रम धार्मिक · ' आदि श्लोक का यह अनुवाद प्रस्तुत है—

पूजक निर्भय तोड़िये गोदाकुन्ज ते फूल।
हन्यौ वहीं से सिंह ने कूकुर तव भय-मूल॥

इस श्लोक में नायिका के मन्तव्य तक विमर्शपूर्वक पहुँचा जाता है। कोई मूर्ख तो सोच भी नहीं सकता कि नायिका वस्तुतः सिंह का भय दिखाकर भ्रमण-निषेध कर रही है। जब नायिका के आशय का ज्ञान होता है तो सहृदय निहित अर्थ का उद्‌घाटन कर चमत्कृत होता है।

बिहारी के अधिकांश दोहे इसी क्रम से पाठकों को चमत्कृत करते हैं, इसीलिए वे 'गागर में सागर' कहे भी जाते हैं। जब इन दोहों के अनेक-अनेक अर्थ लिए जाते हैं तो आनन्द निहित के उद्‌घाटन का आनन्द ही होता है।

सृजन की दृष्टि से संलक्ष्यक्रम व्यंग्य में काव्यात्मक आवेग और नियंत्रण का द्वन्द्व स्पष्ट है। कवि अपनी अनुभूति को इस द्वन्द्व के कारण कलात्मक रूप देता है। कवि का कथ्य आवरण में होता है, सजेस्टेड होता है, उस तक पहुँचने में सहृदय को बुद्धि का प्रयोग करना ही होता है। अतः संलक्ष्यक्रमव्यंग्य इसी प्रकार की कविता के चमत्कार का विधान है। धर्मवीर भारती की निम्नलिखित कविता का इस दृष्टि से परीक्षण करें—

मैं रथ का टूटा पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत
क्या जाने कब
इस दुरूह चक्रव्यूह में
अक्षौहिणी सेनाओं को चुनौती देता हुआ
कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आकर घिर जाय
बड़े-बड़े महारथी
अपने पक्ष को असत्य जानते हुये भी
अकेली निहत्थी आवाज़ को
अपने ब्रह्मास्त्र से कुचल देना चाहें
तब मैं रथ का टूटा हुआ पहिया
उसके हाथों में रक्षा की ढाल बन सकता हूँ

इस कविता में वाच्यार्थ स्पष्ट है, परन्तु पाठक सोचता है कि आधुनिक युग में क्या भारती उसे अभिमन्यु की कथा सुनाना चाहता है? वह इस कविता पर

विचार करता है और आठवीं पंक्ति संकेत देती है—'अपने पक्ष को असत्य जानते हुये भी अकेली निहत्थी आवाज को अपनी शक्ति से कुचल देने वाले लोग'—मानस में उभरने लगते हैं। सहृदय पाठक कविता म व्यक्त शक्तिसम्पन्न लोगो के द्वारा निस्सहाय व्यक्ति के दमन के सत्य तक पहुँच जाता है। यही सत्य इस कविता का प्रधान अर्थ है। कवि ने प्रतीक के द्वारा, कलात्मकता से अपनी अनुभूति को व्यक्त किया है। क्योंकि वही प्रतीयमान अर्थ इस कविता का आत्मा है—इसीलिए सामान्यत कहा गया है—'काव्यस्यात्मा ध्वनि'। इस कविता मे व्यक्त विचार आज जन-मानस का भी अनुभूत सत्य है, सत्य को स्वीकार कर वह मुक्ति का आनन्द प्राप्त करता है।

अत यह सिद्ध होता है कि अधिकांश आधुनिक कविता का आनन्द सलक्ष्य-क्रमव्यंग्य की प्रतीति से उत्पन्न चमत्कार का आनन्द है। इस प्रतीति को 'बोध' भी कहा गया है। अनुभूति जहाँ चित की द्रुति, दीप्ति और विस्ताररूपा होती है, बोध म बुद्धि की प्रक्रिया जाग्रत रहती है—ज्ञान का विस्तार इसमे आवश्यक रूप से रहता है।

आनन्दवर्धन न सलक्ष्यक्रमव्यंग्य के तीन भेद प्रतिपादित किये हैं—

(१) शब्दशक्त्युत्थ, (२) अर्थशक्त्युत्थ, (३) उभयशक्त्युत्थ।

शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि म शब्द से अनुक्त, आक्षेप सामर्थ्य स शब्द-शक्ति द्वारा अलङ्कार का प्रतीति होती है—

आक्षिप्त एवालंकार शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्मिन्ननुक्त शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि स ॥

इसमे शब्द की शक्ति से अलङ्कार के आक्षेप की बात कही गई है, जहाँ केवल वस्तु का प्रतीति हो वहाँ शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि नही होगी। जहाँ अभिधा से दो वस्तुए प्रकाशित हो, वहाँ श्लेष अलङ्कार होता है। श्लेष मे वस्तुद्वय की प्रतीति वाच्य रूप म होती है और शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि मे अलङ्कार वाच्य रूप म प्रतीत नही होता, वह शब्द की शक्ति से आक्षिप्त होता है।

शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि अनेकार्थक शब्द के प्रयोग पर निर्भर है। अनेकार्थक शब्द एकाधिक वाच्यार्थ प्रकट करता है जिससे व्यंग्यार्थ प्राप्त किया जाता है। यदि शब्दो का क्रम बदल दिया जाय, अथवा शब्द के स्थान पर सन्दर्भ के अनुकूल अन्य शब्द रख दिया जाय तो एकाधिक वाच्यार्थों का आधार ही समाप्त हो जायेगा और व्यंग्यार्थ की प्रतीति भी असम्भव होगी। क्योंकि इसमे शब्द का परिवर्तन सम्भव नही है, तथा शब्द ही मुख्यत व्यंग्यार्थ के प्रति उत्तरदायी है इसलिए इसे शब्दशक्त्युत्थ कहा जाता है। यह व्यंग्यार्थ शब्द को एकाधिक अर्थ प्रकट कर सकने की सामर्थ्य पर निर्भर है, और व्यंग्यार्थ की प्रतीति मे शब्द के दोनो वाच्यार्थों का सहकारित्व भी है।

पुनः शब्दशक्त्युत्थ मे प्रतीत होने वाला व्यंग्यार्थ प्राकरणिक नही होता। सहृदय प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थ में सम्बन्ध ढूँढ़ता है। यह सम्बन्ध वाच्य-तथाकथित नही होता प्रतीयमान होता है। जब प्राकरणिक और अप्राकरणिक में सादृश्य सम्बन्ध प्रतीयमान होता है तो उपमा अलङ्कार व्यंग्य कहा जाता है, जब तद्रूप सम्बन्ध होता है तो रूपक व्यंग्य होता है। इस प्रकार शब्दशक्ति-उत्थित ध्वनि मे अलङ्कार व्यंग्य होता है।

यदि प्रतीयमान अलङ्कार किसी शब्द द्वारा उक्त हो जाता है तब वह शब्द-शक्त्युत्थ ध्वनि का उदाहरण नही कहा जा सकता। मम्मट आदि परवर्ती आचार्यों ने शब्दशक्त्युत्थ मे वस्तु का भी समावेश कर लिया है। शब्द की शक्ति से आक्षिप्त अलङ्कार (शब्दशक्त्युत्थ) का एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है—

जाको कर सब दिसन में सोम लहै द्विजराज।
रहे विष्णु यह में सुरुचि सुबहादुर महाराज॥

यहाँ प्राकरणिक अर्थ बहादुरसिंह महाराज की प्रशंसा है, परन्तु, 'कर' 'द्विजराज' आदि द्वयर्थक पदो से सूर्यविषयक अप्राकरणिक अर्थ भी व्यक्त होता है। राजा और सूर्य विषयक अर्थो मे उपमानोपमेय भाव है। यह उपमानोपमेय भाव प्रतीयमानतः ही प्रतीत होता है अत. यह शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि का उदाहरण है। ऐसे सभी उदाहरणों मे कवि की सहृदय को चमत्कृत करने की प्रवृत्ति रहती है। इस प्रकार का साहित्य प्रचुर मात्रा में मिलता है, उस सबका समावेश इस कोटि में हो जाएगा।

शब्दशक्तिमूला के उदाहरण

अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः

उपर्युक्त उदाहरण के दो अश है (१) विशेष्य अश—महाकालः और विशेषण अंश—'कुसुमसमय'''आदि'। महाकाल का तात्पर्य ग्रीष्म है, परन्तु इसका तात्पर्य शिव भी हो सकता है। इसी प्रकार विशेषण भाग के दो अर्थ है जो महाकाल ग्रीष्म और शिव के साथ संगत है 'येन ध्वस्तमनोभवं '' आदि श्लोक मे भी माधव और उमाधव दो अर्थ है। यहाँ सभी शब्द द्वयर्थक है और स्वतन्त्र रूप से दो अर्थ निष्पन्न हो सकते है। अब श्लेष और शक्तिमूला ध्वनि में भेद दिखलाया जा सकता है। श्लेष मे दोनों अर्थ प्राकरणिक होते है। 'येन ध्वस्त '' आदि श्लोक मंगलाचरण श्लोक है अतः विष्णु और शिव दोनों के लिए प्रयुक्त हो सकता है। परन्तु 'अत्रान्तरे''' आदि उदाहरण में ग्रीष्म का वर्णन ही अभिप्रेत है, शिव से सबद्ध अर्थ प्राकरणिक नही है। श्लेष में द्वयर्थक शब्दों के दोनों अर्थो को स्वीकार कर लिया जाता है पर शब्दशक्तिमूला में प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थ मे एक

म एक सम्बन्ध की अपक्षा प्रतीत होती है। इस प्रकार शब्दशक्तिमूला मे अलकार प्रतीयमान होता है। उपर्युक्त उदाहरण मे प्रकरणादि से अभिधा के नियन्त्रित हो जाने म द्वितीय वार पद की उपस्थिति अभिधा से न होकर ध्वनन व्यापार से होती है।

यदि अलकार किसी शब्द द्वारा अभिहित हो जाय तो वहाँ शब्दशक्त्युद्भव अनुरणन रूप ध्वनि का व्यपदेश नही किया जा सकता।[१] निम्नलिखित उदाहरण का परीक्षण करें—

दृष्ट्या केशव गोपरागहृतया किंचिन्न दृष्टं मया,
तेनैव स्खलितास्मि नाथ पतितां किन्नाम नालम्बसे।
एकस्त्वं विषमेषु खिन्नमनसां सर्वाबलानां गति-
र्गोप्यैवं गदित सलेशमवताद् गोष्ठे हरिर्वश्चिरम् ॥[२]

यह किसी गापी का कथन है, वह गोशाला मे कृष्ण स द्व्यर्थक शब्दो के प्रयाग द्वारा अपना वेदना प्रकट रही है— ह कृष्ण गाया क खुरा स उडाई गई धूल स अधी सी हो गई हूँ, मुझे कुछ दिखलाई नही पडा इसलिए मर द्वारा कुछ देखा नही गया, इसलिए मुझ गिरा हुई का ह नाथ! क्या नही आश्रय देते हैं, विषम मार्ग म गिर हुए निबला का एकमात्र सहारा आप ही हैं। गायो क गोशाल मे इस प्रकार गोपी द्वारा सलेश कह गय हरि आप की रक्षा करें।'

यदि इस श्लोक मे 'सलश' पद न होता ता 'केशव गापरागहृतया 'पतिता' आदि पद एक अर्थ का बोधन करते, पर सलश न उनके एक अर्थ म नियमित होने को कुण्ठित कर दिया, परिणामत दोनो अथ वाच्यत द्योतित होते हैं—अत यहाँ ध्वनि का अवसर नही है।

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का एक और उदाहरण —

उन्नत प्रोल्लसद्धार कालागुरुमलीमस।
पयोधरभरस्तन्व्या क न चक्रेऽभिलाषिणम् ॥[३]

(काले अगर के समान कृष्ण वर्ण (कालागुरुमलीमस), विद्युद्धार अथवा जलधार से सुशोभित (प्रोल्लसद्धार), उमडए हुए (उन्नत मेघ (पयोधरभर) ने किस को (कम्) तन्वी का (तन्व्या) अभिलाषा नही बनाया।

---

१ स ह्याक्षिप्तोऽलङ्कारो यत्र पुन शब्दान्तरेणाभिहितस्वरूपस्तत्र न शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनिव्यवहार। तत्र वक्रोक्त्यादिवाच्यालङ्कारव्यवहार एव। ध्व० (आ० वि०) पृ० २४०

२ ध्वन्यालोक, (आ० वि०) पृ० १२४

३ ध्वन्यालोक, (आ० वि०) पृ० १२५

(खूब उठे हुए (उन्नतः), हार से उल्लसित (प्रोल्लसद्धारः) काले अगर के लेप से श्याम वने तन्वी के पयोधर किसको उनकी प्राप्ति के लिए अभिलाषी नहीं बनाते।)

यहाँ वर्षा विषयक अर्थ प्राकरणिक है और तन्वी विषयक अप्राकरणिक इन दोनों अर्थों में सादृश्य प्रतीयमान है जो ध्वनन व्यापार से व्यक्त होता है। तब दोनों अर्थों का सम्बन्ध इस प्रकार स्थापित होगा—'काले अगर के लेप से श्याम वर्ण उन्नत स्तनों के समान मेघ किसको तन्वी का अभिलाषी नहीं बनाता। यह शब्द-शक्तिमूला ध्वनि का विषय है।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में शब्दशक्ति से अप्राकरणिक दूसरा अर्थ प्रकाशित होता है। प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों अर्थों के कारण वाक्य में असंबद्धार्थ-बोधकता न हो इसलिए प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों में उपमानोपमेय भाव कल्पित किया जाता है।[1]

शब्दशक्तिमूल अनुस्वानसन्निभ ध्वनि में अन्य अलंकार भी सम्भव हैं। शब्द-शक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यंग्य विरोध के भी उदाहरण मिलते हैं। अपने कथन के प्रमाणस्वरूप आलोककार ने हर्षचरित के थानेश्वर-नगर-वर्णन के प्रसंग का अंश दिया है—

'यत्र च मातंगगामिन्यः शीलवत्यश्च, गौर्यो विभवरताश्च, श्यामाः पद्मरागिण्यश्च, धवलद्विजशुचिवदना मदिरामोदश्वसनाश्च प्रमदाः।'

इस उदाहरण में दो-दो पदों के युग्म हैं, जिनमें से एक द्विअर्थक है। एक अर्थ से विरोध प्रतीत होता है दूसरे से नहीं। जैसे *'मातंगगामिन्यः शीलवत्यश्च'* मातंग का अर्थ चाण्डाल भी है और हाथी भी। चाण्डालगामिनी, शीलवती कैसे हो सकती है? परन्तु मातंग का अर्थ हाथी करने से गजगामिनी अर्थ होगा तब विरोध नहीं रहेगा।

मम्मट ने इस भेद को स्पष्ट किया है। शब्दशक्तिमूला में विशेष्य भी द्व्यर्थक शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है जैसे, अत्रान्तरे...' आदि उदाहरण में 'शिव' 'महाकाल' का ही दूसरा अर्थ है। परन्तु समासोक्ति में केवल विशेषण भाग होता है। जैसे 'उपोढरागेण विलोलतारकं' आदि उदाहरण में 'निशा' और 'शशि' के दो अर्थ नहीं हैं केवल विशेषण भाग के हैं।

---

१. 'एषु उदाहरणेषु शब्दशक्त्या प्रकाशमाने सति अप्राकरणिके अर्थान्तरे, वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायित्वं मा प्रसांक्षीदित्यप्राकरणिकप्राकरणिकार्थ-रूपोपमानोपमेयभावः कल्पयितव्यः' —वही पृष्ठ १२७

शब्दशक्तिमूला में आनन्दवर्धन के अनुसार केवल अलंकार ही प्रतीयमान होता है। प्रतिहारेन्दुराज[1] भी शब्दशक्तिमूला में केवल अलंकार ही प्रतीयमान मानते हैं। कालान्तर में मम्मट[2] विश्वनाथ[3] और जगन्नाथ[4] ने शब्दशक्त्युद्भव में वस्तु को भी स्वीकार किया है। काव्य के उदाहरणों को देखते हुए यह ठीक भी लगता है कि प्रतीयमान वस्तु को भी शब्दशक्त्युद्भव के अंतर्गत रखा जाय। मम्मट और विश्वनाथ ने शब्दशक्त्युत्थ के वस्तु मात्र भेद का निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

पथिक नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे।
उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद् वस॥

मम्मट ने इसमें 'यदि उपभोग क्षम है तो ठहर' अर्थ को प्रतीयमान माना है। 'उन्नत पयोधर' की श्लिष्टता के कारण ही इसमें प्रतीयमान अर्थ सम्भव हुआ है। शब्द की शक्ति के कारण होने से इस उदाहरण को शब्दशक्त्युद्भव के अन्तर्गत रखना होगा।

शब्दशक्तिमूला ध्वनि और अभिधाविमर्श

'अत्रान्तरे' आदि उदाहरण में तीन अर्थ हैं। प्राकरणिक ग्रीष्म विषयक, अप्राकरणिक शिव विषयक और प्रतीयमान अलङ्कार विषयक। ग्रीष्मपरक अर्थ अभिधेय ही है, अलङ्कार प्रतीयमान है अतः व्यंग्य है। किन्तु 'शिव परक' अर्थ के विषय में मतभेद है। यह अर्थ अभिधागम्य है या व्यंजनालभ्य इस सम्बन्ध में आचार्यों में एक मत नहीं है। मम्मट और विश्वनाथ के अनुसार यह अप्राकरणिक अर्थ भी व्यंग्य है। मम्मटादि का तर्क यह है कि अनेकार्थक शब्द के एक अर्थ बोधन में अभिधा के नियन्त्रित हो जाने पर अभिधा से ही अन्य अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। क्योंकि 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' सूत्र यही कहता है।

परन्तु आनन्दवर्धन प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों अर्थों की प्रतीति अभिधा से मानते हैं।[5] 'शब्दबुद्धिकर्मणाम्...' आदि सूत्र का सन्दर्भ अभिनव ने लोचन में दिया है। यह सम्भव है कि मम्मट और विश्वनाथ आदि का यह तर्क-

---

१ तत्र वाचकशक्त्याश्रयाणामलङ्काराणामेव व्यङ्ग्यत्वात् एकप्रकारम्। तत्र हि अलङ्कारा एव व्यज्यन्ते न तु वस्तुमात्रम् ... इत्यसत्
—काव्यालङ्कारसारसंग्रह

२ काव्यप्रकाश, (आ० वि०) पृ० १८६

३ साहित्यदर्पण (चौखम्बा शशिकला व्याख्या) पृ० २८६

४ काव्यप्रकाश, (आ० वि०) पृ० २१८

५ ध्वन्यालोक (आ० वि०), पृ० २४४

प्रेरणा यहीं से मिली हो? आनन्दवर्धन और अभिनव के बीच अनेक आचार्य हुए होंगे, अभिनव ने लोचन में उनके मत दिए हैं। स्वयं अभिनव का स्पष्ट मत है कि केवल प्राकरणिक अर्थ ही अभिधेय है और इसी अर्थ में अभिधा के विरति हो जाने से अन्य अर्थ की प्रतीति व्यंजनागम्य अर्थात् व्यंग्य ही माननी होगी (लोचन पृ० २४१)।

आनन्दवर्धन प्राकरणिक-अप्राकरणिक दोनों अर्थों को अभिधेय और केवल अलङ्कार को व्यंग्य मानते है—यह निम्नलिखित पंक्तियों से भी प्रकट होता है—पदप्रकाशशब्दशक्तिमूला ध्वनि के प्रसंग से आनन्दवर्धन ने लिखा है—

'पदप्रकाशशब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्येऽपि ध्वनौ विशेषणपदस्योभयार्थसम्बन्धयोग्यस्य योजकं पदमन्तरेण योजनमशाब्दमप्यर्थादवस्थितमित्यत्रापि पूर्ववदभिधेयतत्सामर्थ्याक्षिप्तालंकारमात्रप्रतीत्योः सुस्थितमेव पौवापर्यम्। (४१०-४११)

महिमभट्ट और शब्दशक्तिमूल ध्वनि

महिमभट्ट ने शब्दशक्तिमूला को श्लेष के समकक्ष ही रखा है। अप्राकरणिक अर्थ को महिमभट्ट अभिधेय नहीं मानते। उनके अनुसार सही अर्थ में कोई भी शब्द अनेकार्थक नहीं हो सकता अतः अभिधा से दो अर्थों को प्रतीति का अवसर ही नहीं है। ऐसी स्थिति में अप्राकरणिक अर्थ का अभिधाजन्य प्रतीति का प्रश्न हो नहीं उठता। महिमभट्ट के मतानुसार जैसे एक दीपक दो वस्तुओं को प्रकाशित करता है वैसे एक शब्द एक ही समय में दो अर्थों को प्रकाशित नहीं कर सकता। प्रकरण की अपेक्षा के अनुकूल शब्द एक ही अर्थ देगा। तन्त्र अथवा प्रसंग के अनुकूल दीपक फिर भी दो वस्तुओं को प्रकाशित कर सकता है पर शब्द प्रमाता के परामर्श के अभाव में अन्य अर्थ व्यक्त नहीं कर सकता।

इस प्रकार जब भी अन्य अर्थ की प्रतीति होगी हेतुपूर्वक होगी और तब उसका अनुमान में अन्तर्भाव होगा। इसलिये अर्थान्तर की प्रतीति में शब्द को अनेकार्थता को कारण मानना असगत है, शब्द की अतिरिक्त शक्ति मानना भी निरर्थक है। जब वाच्य से भिन्न प्रतीति होती ही नहीं तब अप्रस्तुत अर्थ को कल्पनामात्र से उनके उपमानोपमेयभाव का कथन निराधार है।

केवलमन्यतस्तत्प्रतिमोद्‌भेदाभ्युपगमेऽनुमानान्तर्भावः स्फुट एव तस्यैव लिंगतापत्तेरिति शब्दस्यानेकार्थतावगममात्रमूलायमद्यापि कवीनाम र्थान्तरप्रतीतिभ्रम इति व्यर्थः शब्दशक्तिपरिकल्पनप्रयासः एवं चास्य...... निर्मूलमेवेत्यवगन्तव्यम्'[१]

---

१. डॉ० द्विवेदी, व्य० वि०, पृ० १७६

श्लिष्ट शब्द अन्य अर्थ तभी देगा जब पर्याप्त रूप म कोई लिंग हो। यदि महिमभट्ट की उपर्युक्त तर्कणा को स्वीकार किया जाय तो अप्राकरणिक अर्थ अनुमान-जन्य होगा। 'भिन्नविशेषणत्वानुमेय एवासौ न शब्दशक्तिमूल '[१] जहाँ अनेक अर्थ वान शब्द से एकाधिक अर्थ की प्रतीति होती भी है वहाँ दोनों अर्थों का कारण एक ही शब्द को मानना उचित नहीं है क्योंकि दोनो अर्थों को यदि एक ही शब्द से निष्पन्न माना गया तो यह प्रश्न स्वाभाविक है कि इन दोनों अर्थों में से प्रथमत कौन सा अर्थ प्रतीत हुआ। वैयाकरणो के अनुसार भी प्रत्येक अर्थ के लिए पृथक् शब्द होना है। दो अर्थों के लिए दो पृथक् शब्द स्पष्ट हेतु रूप मे होने चाहिए। अत दो अर्थों के लिये या तो शब्द को दो बार उच्चारण किया जाय। अथवा उसे भिन्न प्रमाणों से सम्बद्ध किया जाय। इस प्रकार महिमभट्ट का मत है कि अप्राकरणिक अर्थ शब्द की मूलभूत प्रकृति के कारण उपलब्ध नहीं होता वरन् अतिरिक्त सन्दर्भों के कारण होता है अत उसे अनुमेय ही मानना होगा।' 'अत्रान्तरे'' ' इत्यादि उदाहरण म महिमभट्ट उपमालङ्कार को प्रतीयमान नहीं मानते। वे शिव विषयक भाव को अनुमानलब्ध मानते हैं तथा इस अर्थ का हेतु 'अट्टहास' और 'युगसंहार' आदि पदों को मानते हैं। अत 'अत्रान्तरे' मे शिव विषयक अर्थ 'महाकाल' पद की पुनरावृत्ति से उपलब्ध होता है। 'फुल्लमल्लिका-धवलअट्टहास' में अनेकार्थकता नहीं है वरन् ग्रीष्म और शिव के साथ उन्हें भिन्न शब्द ही मानना होगा। ग्रीष्म के सन्दर्भ म "फुल्लमल्लिका एव धवलअट्टहास' होगा। शिव के सन्दर्भ मे 'फुल्लमल्लिका इव अट्टहास' मान्य होगा।

'अत्रान्तरे '.[२] ' इत्यादि उदाहरण मे महाकाल नामक देवता विषयक प्रतीति साध्य है। अट्टहास सम्बन्ध और युग-संहार को इस साध्य (कार्य) के प्रति हेतु मानना होगा। इस शास्त्र-सम्मत कार्य-कारण भाव-रूप हेतु और व्याप्ति से, समासोक्ति के क्रम मे अप्राकरणिक अर्थ की सिद्धि होती है अत महाकाल शब्द की दो अर्थों म अभिधा नहीं मानी जा सकती।

'इत्यत्राप्राकरणिकमहाकालाख्यदेवताविशेषविषयाप्रतीतिस्साध्या। तस्याश्चाट्टहास-सम्बन्धो युगसंहारव्यापारश्चेत्युभय साधन तस्य कार्यत्वात्। कार्यकारणभावावसायश्चान-योरागमप्रमाणभूत इति तत एव समासोक्तिक्रमेणाप्राकरणिकार्थान्तरप्रतीतिसिद्धि न पुनरुभयार्थवृत्तेर्महाकालशब्दस्य सा शक्तिरित्येतदुक्त दृश्यते च।'[३]

---

१ वही, पृ० ४२२-४२३

२ व्य० वि०, पृ० ४१८-४१९

३ वही—पृ० ४७८

परन्तु महिम के इस विवेचन की सार्थकता भी 'महाकाल' ८८ के दो अर्थ जानने में है अतः 'महाकाल' को द्व्यर्थक मानना ही होगा। महिम इस मूल तथ्य को अस्वीकार करते हैं जो तर्क-सम्मत नहीं हैं।

महिम ने वैयाकरणों के 'अर्थभेदे शब्दभेदः' सूत्र को यथावत् स्वीकार किया है। आनन्द इसे न मानते हों ऐसा नहीं है। वैयाकरण शब्द की अनेकार्थकता को स्वीकार करते हैं, भर्तृहरि ने 'संयोग'''वियोग' आदि सूत्र द्वारा इसी का प्रतिपादन किया है। नागेश ने भी 'परमलघुमंजूषा' में अनेकार्थकता को स्वीकार किया। समानरूप के रहते विभिन्न अर्थ देने वाले शब्दों को ही अनेकार्थक कहा गया है। पतंजलि का भी यही मत रहा है।

इस प्रकार श्लेष में अनेकार्थक शब्द की पुनरावृत्ति होती है। इस पुनरावृत्ति के कारण विभिन्न संरचनाओं में प्रयुक्त शब्द भिन्न अर्थ देता है (कम से कम मानस में यह संरचना भेद रहता ही है) अतः अभिधा से इन अर्थों की प्रतीति मानने में कोई असंगतता नहीं है। पुनरावर्तन के कारण वे दो शब्द होते है अतः दोनों में दो बार अभिधा मानने में असंगति नहीं है। पतंजलि ने इसे ही 'यत्न' कहा है। इसी प्रकार आनन्द के भी अप्राकरणिक अर्थ को अभिधेय मानना है। अर्थ में शब्दभेद के सिद्धान्त को उद्भट ने भी स्वीकारा है। सम्भव है आनन्द के भी इसे दृष्टि में प्रेरित किया हो ? महिम के अनुसार पुनरावर्तन का निर्धारण अन्य तथ्यों से होता है इसलिये द्वितीय अर्थ अनुमेय है। महिमभट्ट की इस मान्यता के विपरीत कहा जा सकता है कि जिसे वे अभिधेयार्थ कहते हैं वह भी संयोग वियोगादि से निर्धारित होता है तब उन्हें भी अनुमेयार्थ क्यों न मानें ? यदि उसे अनुमेय न मानकर अभिधेयार्थ कहा जाता है, तो द्वितीय अर्थ को भी अभिधेयार्थ मानने में कोई हानि नहीं है। अतः आनन्दवर्धन द्वारा प्राकरणिक-अप्राकरणिक दोनों अर्थों को अभिधेय मानने में कोई असंगति प्रतीत नहीं होती।

वृत्तिवार्तिक में अप्पयदीक्षित ने शब्दशक्तिमूला के अप्राकरणिक अर्थ को अभिधेय ही माना है। अप्पय के अनुसार प्राकरणिक की प्रतीति तो संदर्भ के कारण होती है और अप्राकरणिक अर्थ शब्दों के अन्य अर्थों के सह-अस्तित्व के कारण व्यक्त होता है (शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः)। श्लेष में दोनों के प्राकरणिक होने के कारण दोनों अर्थों का भेद प्रकरण नहीं बतला सकता। वस्तुतः श्लेष के दोनों अर्थों का भेद 'शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः' के कारण होता है। शब्दशक्त्युद्भव में प्राकरणिक अर्थ मानस में प्रथमतः उद्बुद्ध होता है। परन्तु इससे अप्राकरणिक अर्थ की अभिव्यक्ति में अभिधा का निषेध नहीं समझना चाहिए। श्लेष में भी दोनों अर्थ एक साथ उद्बुद्ध नहीं होते।

शब्दशक्त्युद्भव और अनुमान—आनन्दवर्धन ने 'कल्पयितव्य' कहा है। 'कल्पना' का अर्थ अनुमान भी है। मीमांसा में कल्पना का अर्थ अर्थापत्ति भी है। आनन्दवर्धन की शब्दशक्त्युद्भव में प्रतीयमान अर्थ तक पहुँचने की प्रक्रिया श्रुतार्थापत्ति कही जा सकती है। नैयायिक अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में करते हैं। तब क्या अनुमान भी शब्दशक्तिमूला में सन्दर्भ है? इस प्रसंग में मम्मट और विश्वनाथ ने भी 'कल्पनाया' पद-प्रयोग किया है।

अर्थशक्त्युद्भव

अर्थशक्त्युद्भव में अपरिवर्तनीय शब्दों की अपेक्षा नहीं होती, वाच्यार्थ ही प्रतीयमान वस्तु को व्यक्त करने में सक्षम होता है। इस प्रतीयमान अर्थ का वाचक कोई शब्द नहीं होता। वाच्यार्थ अपने तात्पर्य के रूप में प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करता है।[1] अभिनव ने 'स्वतात्पर्येण इति' की व्याख्या में लिखा है कि इस पद के द्वारा आनन्दवर्धन अभिधाव्यापार का निराकरण करना चाहते हैं। आनन्दवर्धन का मन्तव्य व्यंजन व्यापार से है तात्पर्य शक्ति से नहीं। यहाँ तात्पर्य का अर्थ है कि कवि का मन्तव्य वाच्यार्थ पर नहीं रहता वरन् उस वाच्यार्थ का अन्तर्निहित मन्तव्य वह प्रतीयमान अर्थ होता है। आनन्दवर्धन ने जो उदाहरण दिया है, उससे यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है—

> एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
> लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

(देवर्षि के ऐसा कहने पर पिता के पार्श्व में नीचा मुख किए खड़ी पार्वती क्रीड़ा-कमल की पंखुड़ियाँ को गिनने लगीं।)

इस वाच्यार्थ का तात्पर्य पार्वती की लज्जा रूप अर्थ को व्यक्त करना है। कवि का मन्तव्य, कमलपुष्प के पत्रों की गणना का वर्णन करना नहीं है। इस वर्णन का तात्पर्य लज्जा की अभिव्यक्ति में है। 'स्वतात्पर्येण' का यही अर्थ है। आनन्दवर्धन ने स्वयं लिखा है—

> 'अत्र हि लीलाकमलपत्रगणनमुपसर्जनीकृतस्वरूपं शब्दव्यापारं विनैवार्थान्तरं व्यभिचारिभावलक्षणं प्रकाशयति।

इस उदाहरण को आनन्दवर्धन ने केवल अलक्ष्यक्रम व्यंग्य का ही विषय नहीं माना। क्योंकि जहाँ साक्षात् शब्द में वर्णित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि

---

१ अर्थशक्त्युद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थः स प्रकाशते।
यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद् व्यनक्त्युक्तिं विना स्वतः॥ २-२२

२ ध्व० (आ० वि०) पृ० २४८

भावों से रसादि की प्रतीति होती है वहीं केवल असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का अवसर होता है। उपर्युक्त उदाहरण में व्यभिचारि भाव प्रतीयमान है। जब पावनी के सदर्भ में इस व्यभिचारि भाव का चर्वण करते है तो रसानुभव होता है। यहाँ गणना रूप वाच्यार्थ और प्रतीयमान व्यभिचारि भाव मे तो क्रम है, पर प्रतीयमान लज्जा के उपरान्त रस की प्रतीति मे क्रम नही रहता। अभिनव ने यही स्थिति स्वीकारी है—'रसस्त्वत्रापि द्रुत एव व्यभिचारिस्वरूपे पर्यालोच्यमाने भातीति तदपेक्षयाऽलक्ष्यक्रमत्वमेव लज्जापेक्षया तु तत्र लक्ष्यक्रमत्वम्।

यहां एक शंका होती है कि जहाँ कोई व्यभिचारि भाव मुख्यता से प्रतीयमान होता है वहाँ भाव ध्वनि होती है। और भाव ध्वनि को आनन्दवर्धन ने असंलक्ष्यक्रम के अंतर्गत स्वयं रखा है तब प्रतीयमान व्यभिचारि भाव के उपर्युक्त उदाहरण को संलक्ष्यक्रम के अंतर्गत रखने का क्या तात्पर्य है? मुकुन्द माधवशर्मा ने व्यभिचारि की द्विविध प्रतीयमानता पर एक अच्छा सकेत दिया है कि असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का भाव ऐसी अनुभूति है जो पात्र और सहृदय दोनों के द्वारा अनुभव की जाती है। इससे भिन्न संलक्ष्यक्रम मे प्रतीयमान व्यभिचारि भाव केवल सूचना हो रहता है। उपर्युक्त उद्धरण का परीक्षण करने पर यह स्थिति स्पष्ट की जा सकती है। 'एवं वादिनि देवर्षों आदि उदाहरण मे सहृदय लज्जा व्यभिचारि का अनुभव नही करता, वह पात्र की मनः स्थिति की सूचना ग्रहण करता है। अधिक से अधिक कवि की कथनशैली से पार्वती को लज्जा का अवगम कर चमत्कृत होता है। इस प्रसंग को अभिनव ने लोचन में स्पष्ट किया है

'साक्षात् शब्द से निवेदित (साक्षाच्छब्दनिवेदितत्वं) अपने विभावादि के बल से (स्वविभावादिबला तत्र) व्यभिचारिभावों (व्यभिचारिणां) को जहाँ अलक्ष्यक्रमतया (यत्रालक्ष्यक्रमतया) बिना किसी बाधा के (व्यवधिबन्धैव) प्रतीति होती है वहाँ (प्रतिपत्तिः) और आनन्दवर्धन के उपर्युक्त कथन में पूर्वापर विरोध नहीं है (न पूर्वापरविरोधः)। पहले कहा गया है (पूर्वं हि उक्तम्) कि व्यभिचारियों को भी (व्यभिचारिणमपि) भाव होने से (भावत्वात्), स्वशब्द से (स्वशब्दतः) प्रतीति नहीं होती (न प्रतिपत्तिः) इसका समाधान यह है कि यद्यपि रसभावादि रूप अर्थ कदापि वाच्य नहीं होते फिर भी वे सब सदा अलक्ष्यक्रम के ही विषय नहीं होते (तथापि न सर्वोऽलक्ष्यक्रमस्य विषयः)। जहाँ स्थायिगत पूर्ण व्यभिचारियो से, विभावादि से तुरंत रसाभिव्यक्ति होती है (यत्र हि विभावानुभावेभ्यः स्थायिगतेभ्यो व्यभिचारिगतेभ्यश्च पूर्णेभ्यो झटित्येव रसव्यक्तिः) वहीं असंलक्ष्यक्रम होता है (तत्र तु असंलक्ष्यक्रमः)। यहाँ तो पद्मपत्रगणना, अधोमुख होना (इह तु पद्मदलगणनमधोमुखत्वं), कुमारियों में अन्य कारण से भी सम्भव है (कुमारीणां चान्यथापि सम्भाव्यत इति) अतः हृदय तत्काल लज्जा में विश्रमित नहीं होता (हृदयं न झटिति लज्जायां विश्रमयति।) वरन्

तपश्चरण आदि पूर्व वृत्तान्त का स्मरण करने में (अपि तु प्रावृततपश्चर्याविवृतान्तानु-स्मरणेन) उसकी प्रतीति क्रमपूर्वक ही करता है (तत्र प्रतिपत्ति करोतीति क्रमव्यग्यतैव)। व्यभिचारिरूप के पर्यालोचन में (व्यभिचारिस्वरूपे पर्यालोच्यमाने) रस तो यहाँ भी उसकी अपेक्षा अलक्ष्यक्रम में ही व्यक्त होता है (रस तु अत्रापि दूरत एव तदपेक्षया लक्ष्यक्रमतैव भातीति।), लज्जा की अपेक्षा में यहाँ लक्ष्यक्रम है ही (लज्जापेक्षया तु तत्र लक्ष्यक्रमत्वम्) यही भाव 'केवल' शब्द से सूचित होता है (अमुमेव भावमेवशब्द-केवलशब्दश्च सूचयति)।[1]

इसका स्पष्ट अर्थ है कि यद्यपि सर्वत्र रसभावादि असलक्ष्यक्रम रूप में प्रतीय-मान होते हैं तब भी कुछ स्थितियाँ ऐसी होती हैं जहाँ कुछ व्यभिचारिभाव सलक्ष्य-क्रमतया व्यक्त होकर किसी सूचना को प्रकट करे। इस स्थिति में हृदय लज्जादि व्यभिचारि भाव असलक्ष्य क्रम व्यग्य की भाँति तत्काल विश्रान्त नहीं होता। यहाँ लज्जा एक वस्तु के रूप में व्यक्त होती है, भावक इस पर विचार करता है, मग्न नहीं होता।

आनन्दवर्धन भी यह नहीं कहते कि व्यभिचारिभाव यहाँ प्रतीयमान है, वे यही कहते हैं कि पत्रपत्रगणनारूप अर्थ अन्य व्यभिचारिरूप अर्थ को प्रकट करता है। आनन्दवर्धन का अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि विषयक कारिका स्पष्टतः कहती है कि इस प्रकार से अन्यअर्थ प्रतीयमान होता है—

'वस्त्वलङ्कृत व्यनक्ति'। यह व्यजित वस्तु अलङ्कार रूप भी हो सकती है जैसा कि अर्थशक्त्युद्भव के भेदों में कहा गया है।

अभिनव ने इसी तथ्य को २-२ कारिका की व्याख्या में स्पष्ट किया है। जो रसादिरूप अर्थ है, वह अक्रम (यो रसादिरर्थ स एवाक्रमो) है (न त्वक्रम एव स), उसका कभी क्रमत्व भी होता है (क्रमत्वमपि हि तस्य कदाचिद्भवति।)

सलक्ष्यक्रम का भाव वस्तु रूप होता है, असलक्ष्यक्रम का भाव सहृदय की मानसिक स्थिति रूप। अभिनव ने लिखा है, जब विभाव और अनुभाव व्यग्य होते हैं (यदा तु विभावानुभावावपि व्यग्यौ भवत) तब वस्तु-ध्वनि ही इष्ट है (तदा वस्तुध्वनिरपि किं न सह्यते)।

स्वशब्दनिवेदित विभावानुभावादि से रसाभिव्यक्ति का उदाहरण आनन्दवर्धन ने कुमारसम्भव के मधुप्रसङ्ग से दिया है। वसन्त पुष्पों के आभरण धारण किए हुए देवी पार्वती के आगमन से कामशरसधान पर्यन्त, और शिव की चेष्टाविशेष आदि साक्षात्शब्द निवेदित हैं, इनसे रस व्यजित होता है। परन्तु 'लीलाकमलपत्राणि'

---

१. ध्वन्यालोक, (बालप्रिया टीका) पृ० २४६-२५१

आदि श्लोक में तो कमलपत्र गणना रूप अर्थ की सामर्थ्य से व्यभिचारिभाव द्वारा रस की प्रतीति होती है—अतः यह असंलक्ष्यक्रम से भिन्न ध्वनि का प्रकार है—

'इह तु सामर्थ्याक्षिप्तव्यभिचारिमुखेन रसप्रतीतिः । तस्मादयमन्यो ध्वनेः प्रकारः[1] ।'

जहाँ शब्दव्यापार की सहायता से वाच्यार्थ अन्य को व्यक्त करता है वहाँ अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का स्थल नहीं होता।[2] उदाहरण के लिए निम्नलिखित श्लोक देखें—

संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मनिमीलितम् ॥

उपर्युक्त उदाहरण में 'लीलाकमलनिमीलन' से जो संकेतकाल की व्यंजना होती है वह 'नेत्रार्पिताकूत' पद से ही सूचित हो जाती है, अतः यह अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का स्थल नहीं कहा जा सकता। अभिनव ने लिखा है कि यद्यपि 'लीलापद्म-निमीलितम्' में व्यंजकत्व विघटित नहीं है तब भी इससे व्यंजित अर्थ शब्द में ही उक्त हो गया है—'यद्यपि चात्र शब्दान्तरसन्निधानेऽपि प्रदोषार्थं प्रति न कस्यचिदभिधाशक्तिः पदस्येति व्यंजकत्वं न विघटितं, तथापि शब्देनैवोक्तमयमर्थोऽर्थान्तरस्य व्यंजक इति।'[3] इसलिए ध्वनि में जो गोप्यमान के उदित करने का चारुत्व था वह निरस्त हो गया है।

उन स्थलों में भी जहाँ शब्दशक्ति, अर्थशक्ति अथवा शब्दार्थशक्ति से व्यंग्य अर्थ स्वयं कवि की उक्ति में प्रकट हो जाता है वहाँ भी अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि का स्थल नहीं होता।[4] वहाँ ध्वनि से भिन्न श्लेषादि अलङ्कार हो सकता है।

शब्दशक्ति में आक्षिप्त अर्थ की गुणीभूतता का उदाहरण :—

वत्से मा गा विषादं श्वसनमुरुजवं सन्त्यजोर्ध्वप्रवृत्तम्,
कम्पः को वा गुरुस्ते, भवतु बलभिदा जृम्भितेनात्र याहि ।
प्रत्याख्यानं सुराणामिति भयशमनच्छद्मना कारयित्वा,
यस्मै लक्ष्मीमदाद् वः स दहतु दुरितं मन्थमूढां पयोधिः ॥

---

१. ध्वन्यालोकः, (बालप्रिया टीका) पृ० २४९
२. यत्र च शब्दव्यापारसहायोऽर्थोऽर्थान्तरस्य व्यंजकत्वेनोपादीयते स नास्य ध्वनेर्विषयः, ध्व०, (आ० वि०) पृ० २५०
३. वही
४. ध्वन्यालोकः, २।२३

समुद्र के मन्थन में भी लक्ष्मी को (पयाधि मन्थमूढां लक्ष्मी म्) समुद्र ने भय दूर करने के बहाने (भयशमनच्छद्मना) देवताओं का प्रत्याख्यान कराया। बेटी घबराओ नहीं (वत्स मा गा विषाद, व्यंग्यार्थ है विष को भक्षण करने वाले शिव के पास मत जाना विषाद का अर्थ विष अत्ति इति विषाद' में शिव भी है।), तीव्रगति से चलने वाली दीर्घ उच्छ्वासों को बन्द करो (श्वसनमुरुजवं सन्त्यजोर्ध्वप्रवृत्तम्, व्यंग्यार्थ है तीव्रगति वाले वायु और ऊर्ध्वज्वलन स्वभाव वाले अग्नि को छोड़ो।) यह काँप क्यों रही हो बल को नष्ट करने वाला जँभाइयों को छोड़ो (कम्प को वा गुरुस्ते भवतु बलभिदा जृम्भितेनात्र याहि, व्यंग्यार्थ है क जल पातीति कम्पः वरुण। क प्रजापति ब्रह्मा, कम्प अर्थात् वरुण और ब्रह्मा तो तुम्हारे गुरु सदृश हैं, उन्हें छोड़ो।) ऐरावत मदमत्त इन्द्र का भी छोड़ो। इस प्रकार भयशमन करने के बहाने अन्य सब देवताओं का प्रत्याख्यान कराकर जिन विष्णु को अपनी पुत्री समुद्र ने दी वे विष्णु तुम्हारे दुःखों को दूर करें।

उपर्युक्त उदाहरण में शब्द की शक्ति से व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है पर वह कवि ने अपने शब्दों (तृतीय चरण में) द्वारा ही कह दिया है अतः यह अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का स्थल नहीं है।

अर्थशक्ति से आक्षिप्त अर्थ की गुणीभूतता—

> अम्बा शेतेऽत्र वृद्धा परिणतवयसामग्रणीरत्र तात,
> निःशेषागारकर्मश्रमशिथिलतनु कुम्भदासी तथात्र।
> अस्मिन् पापाहमेका कतिपयदिवसप्रोषितप्राणनाथा,
> पान्थमित्थं तरुण्या कथितमवसरव्याहृतिव्याजपूर्वम्॥

(वृद्धा माँ यहाँ सोती है, वृद्धों में अग्रणी पिता यहाँ सोते हैं। गृहकार्य से शिथिल शरीर वाली दासी यहाँ सोती है इसमें मैं कुछ दिनों से पतित्यक्ता—अकेली सोती हूँ, इस प्रकार बहाने से तरुणी के द्वारा पथिक को मिलन का अवसर कहा गया।)[1]

उपर्युक्त उदाहरण में तरुणी के कथन में प्रतीयमान अर्थ व्यक्त तो होता है पर 'व्याजपूर्वम्', 'कथितमवसर' आदि से कवि के अपने शब्दों में ही कह दिया जाने से अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का अवसर नहीं रहता।

वस्तुतः उपर्युक्त धारणा का कारण आनन्दवर्धन की काव्यानन्द विषयक मान्यता है। प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति में निहित अर्थ तक पहुँचने से उपलब्ध चमत्कृति का आनन्द रहता है। इस प्रक्रिया में बुद्धि का व्यापार स्पष्ट है अतः कवि

---

१ ध्वन्यालोक, पृ० २५३

के स्वयं ही सब कुछ कह देने से सहृदय इस प्रक्रिया और अन्ततः चमत्कृति से वंचित रह जाता है, कल्पना का अवसर भी नहीं रहता। इसीलिए काव्य-प्रक्रिया की दृष्टि से आनन्दवर्धन ने यह व्यवस्था दी है। यह व्यवस्था व्यवहार पर आधृत है। उदाहरण के लिए प्रसाद की कामायनी का यह उद्धरण प्रस्तुत है—

> कुसुम कानन अंचल में मन्द
> पवन प्रेरित सौरभ साकार,
> रचित परमाणु पराग शरीर
> खड़ा हो, ले मधु का आधार।[1]

यह श्रद्धा के शरीर का वर्णन है, कहीं वाच्यतया श्रद्धा के शरीर की कोमलता, सुगन्ध और माधुर्य को नहीं कहा गया है। पुष्पों से सम्भरित उपवन के कोने में जैसे सुगन्ध साकार हो गई हो, पराग के कणों को मधु में सान कर जैसे शरीर बना हो। सहृदय की कल्पना इन उपादानों से एक शरीर का निर्माण करती है और तब उस शरीर की मसृणता, सुगन्ध और मधुरता की अनुभूति भी साकार होती है। यह अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का बहुत अच्छा उदाहरण है। उदाहरण में वर्णित वस्तु से श्रद्धा के शरीर की कोमलता, मधुरता और मसृणता व्यंजित होती है। आनन्दवर्धन कृत सम्पूर्ण विवेचन काव्य के व्यावहारिक तथ्यों पर आधृत है। इसीलिए कहा गया है कि कविता परोक्ष (प्रतीयमान) अर्थ में होती है। कविता केवल वाच्यार्थ में नहीं है, वाच्यार्थ से अधिक व्यक्त करती है, सहृदय को वाच्यार्थ से आगे जाना पड़ता है, इसके अर्न्तनिहित अर्थ तक पहुँचना पड़ता है।[2] यदि कवि प्रतीयमान अर्थ को अपने शब्दों से ही प्रकट कर देता है तो सहृदय को उसमें जाने को प्राप्त करने का आनन्द नहीं मिल सकता।

कथ्य को व्यक्त करने की विधियाँ : प्रतीयमान अर्थ के प्रकार

कवि अनेक प्रकार से अपनी अनुभूति को व्यक्त कर सकता है। कभी वह ऐसी वस्तु की रचना करता है जो लोक में सम्भव हो और इस वस्तु में अपनी अनुभूति को प्रतीयमानतः व्यक्त करता है। कभी ऐसी वस्तु का चयन करता है जो लोक में सम्भव न हो, कवि कल्पना से उभर कर काव्य-जगत् का सत्य बने। कभी कवि किसी पात्र के द्वारा अपनी कल्पनाजन्य रचना को प्रस्तुत करता है। कभी वाच्यार्थ से कवि अलङ्काररूप में अपनी अनुभूति को व्यक्त करता है, कभी वस्तु के रूप में।

---

१. कामायनी, । श्रद्धा सर्ग, पृ० ५६

२. Beaty and matchett. Poetry From Statement to meaning, P. 81

इस दृष्टि से आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ के प्रति उत्तरदायी वाच्यार्थ को मूलत दो प्रकार का माना है—(१) प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न शरीर अर्थात् जो केवल कवियो की कल्पना मे सम्भव है तथा (२) स्वत सम्भवी, अर्थात् जो लोकजीवन मे भी सम्भव है। आनन्दवर्धन की एतद्विषयक कारिका निम्नलिखित है—

प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर सम्भवी स्वत ।
अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयो वस्तुनोऽन्यस्य दीपक ॥[1]

कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर—

सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयति युवतिजनलक्ष्यमुखान् ।
अभिनवसहकारमुखान् नवपल्लवपत्रलाननगस्य शरान् ॥

(वसन्त मास युवतिजनो को लक्ष्य बनाने वाले अग्रभाग से युक्त, नव पल्लवो के पत्र (पृष्ठभाग) से युक्त, नये सहकार आदि कामदेव के बाणो को सजाता है किन्तु अभी प्रहारार्थ देता नही है (न तावदर्पयति))

उपर्युक्त उदाहरण मे कामदेव धन्वी है, वसन्त बाण बनाने वाला है, सहकार-मजरी आदि बाण हैं, युवतियाँ लक्ष्य हैं। यह सम्पूर्ण अर्थ कविप्रौढोक्तिसिद्ध है, क्योंकि लोक में न तो इस प्रकार का धन्वी होता, न ऐसे बाण और न ऐसे लक्ष्य हैं। इस कवि प्रौढोक्ति सिद्ध वाच्यार्थ से 'मदनोन्मथन का प्रारम्भ और उत्तरोत्तर उसका विजृम्भणरूप वस्तु व्यग्य है।' अभिनव ने लिखा है—'ध्वन्यमान मन्मथो माऽत्यारभ क्रमेण गाढगाढीमविष्यन्त व्यनक्ति। अन्यथा वसन्ते सपल्लव सहकारोद्गम इति वस्तुमात्र न व्यजक स्यात्। एषा च कवेरेवोक्ति प्रौढा।'[2]

अज्ञेय की 'बावरा अहेरी'[3] कविता का निम्नलिखित अश भी कविप्रौढोक्ति सिद्ध है—

भोर का बावरा अहेरी
पहले बिछाता है आलोक की—
लाल-लाल कलियाँ
पर जब खींचता है जाल को—
बाँध लेता है सभी को सब,
छोटी छोटी चिड़ियाँ

---

१ ध्वन्यालोक, २।२४
२ ध्वन्यालोक पृ० २५५
३ अज्ञेय, बावरा अहेरी

मंझोले पंखे
बड़े-बड़े पंखी
डैनों वाले डील वाले
डौल के बेडौल
        उड़ते जहाज
कलस-तिसूल वाले मंदिर-शिखर से ले
तार घर की नाटी मोटी चिपटी गोल घुस्सों वाली
उपयोग—सुन्दरी·
बेपनाह काया को :
    ... .

बावरे अहेरी रे
कुछ भी अवध्य नहीं तुझे, सब आखेट है :
    ... ...

ले मैं खोल देता हूँ कपाट सारे
मेरे इस खण्डहर की गिरा-गिरा छेद दे
    ... ...

लोक में ऐसा अहेरी नहीं देखा गया जो [illegible] विश्व को एक साथ [illegible] ले जड़-चेतन सबको। न अहेरी मन की 'कालिमा' ही दूर करता है, न आंखों को साजता है। अज्ञेय ने भोर को अहेरी कहा है इसलिए कि जैसे अहेरी बलपूर्वक—छलपूर्वक आखेट को पकड़ लेता है, वैसे भोर का प्रकाश उसके मन-शिविर में छाए अंधेरे को दूर कर दे। वैसे तो यह अँधेरा जाएगा नहीं, अहेरी की [illegible] यदि भोर ऐसा करे तो सम्भव है। व्यक्ति मन की परिस्थितियों से उत्पन्न पीड़ा और उस पीड़ा से मुक्ति पाकर पुनः प्रकाश पाने की आकांक्षा इसका व्यंग्य है। आधी कविता में भोर की सामर्थ्य और शेष आधी में अपनी आकांक्षा है। जब हम किसी से कुछ माँगते हैं तो प्रथमतः उसे उसकी सामर्थ्य का स्मरण कराते हैं। सभी भक्त कवियों ने ऐसा ही किया है। यह इस स्थिति में मन की अनिवार्य प्रक्रिया है। अज्ञेय आस्थावान् कवि हैं, जीवन के प्रति, प्रकाश के प्रति उनकी अटूट आस्था है। अँधेरे को स्वीकार कर प्रकाश के प्रति आस्थावान् होने में ही महत्ता है। 'बावरा अहेरी' पद भी व्यंजक है या आधुनिक शब्दावली में यह प्रयोग फोरगाऊंडेड है, व्याज स्तुति की इस प्रक्रिया का पूरी कविता में निर्वाह है।

इस प्रकार के कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध कथनों में ही कविकल्पना का विलास व्यक्त हो पाता है स्वभावतः इसका सम्बन्ध कवि की सृजन-प्रतिभा के वैशिष्ट्य से है। कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध कथनों में कथ्य प्रतीयमानतः ही रहता है।

अर्थशक्तेः अलंकारः यत्रापि अन्यः प्रतीयते ।
अनुस्वानोपमव्यंग्यः स प्रकारोऽपरो ध्वनेः ॥[१]

(जहाँ अर्थशक्ति से (वाच्यार्थ अलंकार से भिन्न) अन्य अलंकार प्रतीत होता है वह संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का अन्य प्रकार है ।)

अर्थशक्ति से भी अलंकार प्रतीयमान होता है, केवल शब्दशक्ति से ही नहीं, इसी तत्त्व को स्पष्ट करने के लिए यह कारिका कही गई है । इसकी व्याख्या में अभिनव ने लिखा है—'न केवलं शब्दशक्तेः अलंकारः प्रतीयते पूर्वोक्तनीत्या यावदर्थशक्तेरपि । यदि वा न केवलं यत्र वस्तुमात्रं प्रतीयते यावदलंकारोऽपीत्यपि-शब्दार्थः ।[२]

यह आशंका सम्भव है कि शब्दशक्ति से तो श्लेषादि अलंकार सम्भव होते हैं, अर्थशक्ति से कौन से अलंकार सम्भव होंगे । उद्भट आदि ने दीपक इत्यादि में अन्य अलंकार की प्रतीति स्वीकारी है । आनन्दवर्धन के अनुसार जहाँ प्रतीयमान अलंकार वाच्यालंकार की अपेक्षा प्रधान चमत्कारक होता है वहाँ ध्वनि होती है । काव्यप्रकाशकार ने इसी दृष्टि का अनुसरण कर अर्थशक्त्युद्भव के बारह भेद किए हैं । क्योंकि वाच्य वस्तु से वस्तु अथवा अलंकार प्रतीयमान हो सकते हैं । वाच्य अलंकार से भी वस्तु अथवा अलंकार प्रतीयमान हो सकता है । अतः वाच्यरूप में स्थित अलंकार से अन्य अलंकार की प्रतीयमानता में सन्देह का अवसर नहीं है । रूपकादि अलंकार जो वाच्य रूप मे रहते हैं, अनेक उदाहरणों में, उनका प्रतीयमानत्व होता है—

रूपकादिरलंकारवर्गो यो वाच्यतां श्रितः ।
स सर्वो गम्यमानत्वं बिभ्रद् भूम्ना प्रदर्शितः ॥[३]

परन्तु अलंकार ध्वनि का स्थल वहीं है जहाँ वाच्याश्रित अलंकार प्रतीयमान अलंकार के प्रति 'तत्पर' होता है । जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ ध्वनि का मार्ग नही है—

अलंकारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते ।
तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः ॥[४]

दीपक आदि अलंकार में उपमा प्रतीयमान रहती है, पर उपमा की प्रधानता न होने से वहाँ ध्वनि का व्यवहार नही किया जा सकता ।

---

१. ध्वन्यालोक, २-२५
२. ध्वन्यालोक, २५७
३. ध्वन्यालोक, २-२६
४. ध्वन्यालोक, २-२७

चन्द्रमयूखैर्निशा नलिनी कमलैः, कुसुमगुच्छैर्लता,
हंसैशारदशोभा, काव्यकथा सज्जनैं क्रियते गुर्वी ॥

(चन्द्रमा की किरणों से रात्रि, कमलपुष्पों से नलिनी, पुष्पगुच्छों से लता, हंसों से शरद की शोभा और सज्जनों से काव्यकथा की गौरववृद्धि होती है।)

उपर्युक्त उदाहरण में दीपक अलंकार है तथा गुरुकरण रूप एक धर्म के सम्बन्ध सादृश्य के कारण उपमा के मध्यपतित होने पर भी वाच्यरूप से स्थित दीपक के कारण चारुत्व प्रतीत होता है इसलिए यहाँ वाच्य अलंकार दीपक के नाम से ही व्यपदेश किया जाता है, गम्यमान उपमा का नहीं। जहाँ वाच्य अलंकार की स्थिति व्यंग्यपरतया हो रही हो वहाँ व्यंग्य अलंकार के अनुसार व्यवहार किया जाता है। इसे स्पष्ट करने के लिए आनन्दवर्धन ने ग्यारह उदाहरण दिए हैं, कतिपय यहाँ दिए जा रहे हैं—

प्राप्तश्रीरेष कस्मात् पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्या-
न्निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव सम्भावयामि ।
सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात-
स्त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः ॥

(इसको लक्ष्मी प्राप्त है फिर मुझे यह पूर्वानुभूत मन्थन-दुःख क्यों देगा। आलस्यरहित मन के कारण इसकी पहले जैसी निद्रा की भी सम्भावना नहीं है। समस्त द्वीपों के राजा इसके अनुचर हो रहे हैं फिर यह दुबारा सेतुबन्धन क्या करेगा? हे राजन् तुम्हारे आने से मानो इस प्रकार के सन्देहों के धारण करने से ही समुद्र काँप रहा है।)

उपर्युक्त उदाहरण में समुद्र के स्वाभाविक जल-चांचल्य का निमित्त विशाल सेना सहित समुद्रतट पर आये हुए राजा को देखकर मन्थन अथवा सेतुबन्धादि सन्देह के कारण उत्पन्न भय मानकर उत्प्रेक्षा की गई है। इसलिए यहाँ कवि प्रौढोक्ति-सिद्ध सन्देह और उत्प्रेक्षा का संकर अलङ्कार वाच्यतया है। राजा में वासुदेव का रूपक व्यंग्य है। चमत्कारपूर्ण उत्कर्ष इस प्रतीयमान रूपक के कारण ही है। अतः यह अलङ्कार से रूपक अलङ्कार ध्वनि का उदाहरण है। उपमाध्वनि का उदाहरण निम्नलिखित है—

वीराणां रमते घुसृणारुणे न तथा प्रियास्तनोत्सगे ।
दृष्टी रिपुगजकुम्भस्थले यथा बहलसिन्दूरे ॥

वीरों की दृष्टि प्रियतमा के कुंकुम रंजित उरोजों में उतनी नहीं रमती जितनी सिन्दूर से पुते हुए शत्रुओं के हाथियों के कुम्भस्थलों में।

इस उदाहरण में व्यतिरेक अलङ्कार वाच्यतया है क्योंकि सिन्दूर पुते गजकुंभों में वीरों के लिये कुंकुम रंजित उरोजों से अधिक आकर्षण कहा गया है और प्रतीयमानतः उपमा है क्योंकि सिन्दूर रंजित गजकुंभों और कुंकुमरंजित उरोजों का सादृश्य व्यंजित है। यह स्वतःसम्भवी अलङ्कार से अलङ्कार ध्वनि का उदाहरण है।

आक्षेप अलङ्कार ध्वनि का उदाहरण—

स वक्तुमखिलान् शक्तो हयग्रीवाश्रितान् गुणान्।
योऽम्बुकुम्भैः परिच्छेदं ज्ञातुं शक्तो महोदधेः॥[1]

जो पानी के घड़ों से (यः अम्बुकुम्भैः) समुद्र के परिमाण को (महोदधेः परिच्छेदं) जानने में समर्थ है (ज्ञातुं शक्तः) वही हयग्रीव के समस्त गुणों को (स हयग्रीवाश्रितान् अखिलान् गुणान्) कहने में समर्थ है (वक्तुं शक्तः)।

इस उदाहरण में अतिशयोक्ति वाच्यालङ्कार है। हयग्रीव की गुणरूप विशेषताओं का उद्‌घाटनपरक आक्षेप अलङ्कार प्रतीयमान है। यह कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार की व्यंग्यता का उदाहरण है। आनन्दवर्धन की यह धारणा काव्य की कला सिद्ध करती है। कविता सामान्य कथन से भिन्न होती है। कविता मात्र कथन नहीं है, कलापूर्ण कथन है। यदि यह मान भी लें कि रस सिद्धान्त भावपक्ष पर अधिक बल देता है तो यह भी स्वीकारना होगा कि रस-सिद्धान्त अपूर्ण सिद्धान्त है क्योंकि वह केवल सहृदयगत अनुभूति की चर्चा को आधार बना कर चला है। ध्वनिसिद्धान्त कविता के सृजन का व्याख्यान है, कविता को मूर्त कृति मानता है और सहृदय को भी सन्निहित किए है। ध्वनिसिद्धान्त कविता के आस्वादन के क्रम को स्पष्ट करता है, अतः यथार्थपरक है।

अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ध्वनि का उदाहरण—

दैवायत्ते फले किं क्रियतामेतावत् पुनर्भणामः।
रक्ताशोकपल्लवाः पल्लवानामन्येषां न सदृशाः॥[2]

फल दैव के अधीन है (दैवायत्ते फले), क्या करें (किं क्रियताम्) फिर भी इतना कहते हैं (एतावत् पुनः भणामः) रक्ताशोक के पल्लव, अन्य पल्लवों से भिन्न होते हैं सदृश नहीं (रक्ताशोकपल्लवाः पल्लवानामन्येषां न सदृशाः)।

आनन्दवर्धन ने व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा, श्लेष, यथासंख्य आदि के उदाहरण देकर अलङ्कार ध्वनि को स्पष्ट किया है।

---

१. ध्वन्यालोकः पृ० २६५
२. ध्वन्यालोकः वही पृ० २६६

अलङ्कार ध्वनि का प्रयोजन :—सामान्यत अलङ्कार आभूषणवत् हैं, वे शरीर नही हो सकते। पर प्रतीयमान होकर अलङ्कार चारुत्वसवलित हो जाते हैं। अलङ्कार व्यजकरूप होकर भी व्यग्यमुखेन ध्वनि के अग बनते हैं, यह तभी सम्भव है जब अलङ्कार (प्रतीयमान) का प्राधान्य विवक्षित हो।

यह स्पष्ट है कि प्रतीयमान अलङ्कार की स्थिति मे कथ्य प्रतीयमान अलङ्कार-जन्य ही होता है। अत उसकी प्रधानता विवादास्पद नही होती। काव्य-सरचना और कवि का उद्देश्य भी प्रतीयमान अलङ्कार व्यजित वस्तु मे होता है। आनन्दवर्धन के शब्दो मे काव्य का व्यापार ही इस प्रतीयमान अलङ्कार के आश्रित होता है—

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालकृतयस्तदा।
ध्रुव ध्वन्यगता तासा, काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्॥

इस प्रकार वस्तु मे प्राधान्यपूर्वक प्रतीयमान अलङ्कार की ध्वन्यगता तो है ही, पर प्राधान्यपूर्वक यदि अलङ्कार से अलङ्कार भी प्रतीयमान होता है तो भी वह ध्वन्यगता को प्राप्त होता है—

अलङ्कारान्तरव्यग्यभावे, ध्वन्यगता भवेत्।
चारुत्वोत्कर्षतो व्यग्यप्राधान्य यदि लक्ष्यते॥

इसी आधार पर मम्मट आदि बाद के आचार्यों ने अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के द्वादश भेद किए हैं। वस्तु से वस्तु, वस्तु से अलङ्कार, अलङ्कार से वस्तु, अलङ्कार से अलङ्कार। इन चार के स्वत सम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु की दृष्टि मे विचार करने पर द्वादश भेद सिद्ध होते हैं।

शब्दार्थशक्त्युद्भव

ऐसा भी सम्भव है कि शब्द और अर्थ दोनो समवेत रूप से प्रतीयमान अर्थ के व्यजक हो वहाँ शब्दार्थशक्त्युद्भव ध्वनि कही जाती है। आनन्दवर्धन ने इस कोटि का उदाहरण नही दिया है। मम्मट ने भी जो उदाहरण दिया है, वह शब्दशक्त्युत्थ का ही है।

———

अध्याय पंचम

ध्वनि-सिद्धान्त और शैली-विज्ञान

'शैली, सन्दर्भों और भाषातात्त्विक रूपों को जोड़ने वाली कड़ी है।' शैली की यह परिभाषा एक ओर उसे सूक्ष्म मानसिक प्रक्रिया से सम्बद्ध करती है—दूसरी ओर भाषिक इकाइयों से। भाषिक इकाइयों का अध्ययन भाषाशास्त्र करता है। इसी धारणा को लेकर कि भाषा शास्त्र की सहायता से किसी काव्यात्मक रचना के सत्य तक अधिक विश्वस्तता से पहुँचा जा सकता है—आधुनिक शैलीविज्ञान का विकास हुआ। अपने वर्तमान रूप में शैलीविज्ञान नया ही है और अभी भी इसके अंतर्गत किए जाने वाले विश्लेषण की रूपरेखा एकदम स्पष्ट नहीं है। भारत की काव्यशास्त्र-परम्परा में कतिपय ऐसे सिद्धान्त हैं जो कविता की शैली (संघटना) पर तथ्यपरक विचार करते हैं। अपनी-अपनी सीमा में वे विचारणाएँ कविता की विशेषताओं का उद्घाटन करने में पूर्ण समर्थ हैं। आनन्दवर्धन-प्रतिपादित ध्वनिसिद्धान्त ऐसा ही सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त संघटना के स्वरूप और विश्लेषण की समुचित विधि प्रस्तुत करता है। प्रस्तुत प्रकरण में पहले आधुनिक शैलीविज्ञान की रूपरेखा को प्रस्तुत किया जायगा तदनन्तर ध्वनिसिद्धान्त की तत्सदृश धारणाओं से उनकी तुलना कर शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण की एक सामान्य रूपरेखा तक पहुँचने का प्रयत्न किया जाएगा।

आधुनिक भाषातात्त्विक शैलीविज्ञान के अन्तर्गत किए गए अध्ययन को तीन प्रकारों में अन्तर्गत रखा जा सकता है—

(१) वे अध्ययन जो शैली को प्रतिमान से विपथन (Deviation) मानते है।

(२) वे अध्ययन जो किसी संरचना में भाषिक इकाइयों के आवृत्यांक के समुच्चय (Set) को शैली मानते हैं। शैली को भाषिक इकाइयों के आवृत्यांक का समुच्चय इस अर्थ में कहा गया है कि शैली एकाधिक भाषिक इकाइयों का परिणाम है तथा किसी रचनाखण्ड के किसी शब्द का शैलीगत महत्त्व अन्य शब्दों के सान्निध्य में ही सम्भव है। किसी भी रचना-प्रतिमान में एक पंक्ति से अधिक की रचनाएँ ही आती हैं।

(३) वे अध्ययन जो शक्यता के व्याकरण (Grammer of Probabilities) के विशिष्ट उपयोग को शैली मानते हैं। अर्थात् जो,प्रयोग कवि कर सकता

है—जो भी प्रयोग कवि के लिए संभव हैं—सम्भावित हैं जो शक्य हैं, उनके विशिष्ट उपयोग का समुच्चय शैली है।

प्रथम प्रकार के शैलीशास्त्रीय अध्ययन में प्रतिमान का निर्धारण सर्वाधिक विवादास्पद प्रश्न बन गया है।

शैली को विपथन मानने वाले सम्प्रदाय के अध्ययन के आधार निम्न-लिखित प्रश्न हैं—

(१) काव्य की भाषा सूचना के अतिरिक्त और क्या व्यक्त करती है?

(२) किसी रचयिता की भाषा व्याकरणिक अपेक्षाओं के अतिरिक्त और क्या करता है?

(३) रचयिता के एच्छिक वाक्य और शब्दगत रुचियों के ढाँचों का वैशिष्ट्य क्या है?

प्राग स्कूल के अध्येताओं ने अपने शैलीशास्त्रीय अध्ययन में उपर्युक्त प्रश्नों का समाधान प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। मुकारोव्सकी ने सौन्दर्यात्मक उद्देश्य से किये गये सभी विपथित प्रयोगों को काव्य भाषा की विशेषता माना है। कविता की भाषा में कवि जान-बूझ कर नियमों को तोड़ता है। कविता स्वचालित, रूढ़ प्रयोगों का स्वीकार नहीं करता, अतः कवि नए प्रयोग करता है। ये नए प्रयोग फिर रूढ़ हो जाते हैं। फिर भाषिक इकाइयों का फोर ग्राउंडिंग होता है, अर्थात् वे स्वीकृत मार्ग से भिन्न रूप में प्रयुक्त की जाती हैं। इस प्रकार नूतन प्रयोगों का रूढ़ीकरण और फिर नए प्रयोगों का चक्र निरंतर गतिशील रहता है।

नव—फर्थ सम्प्रदाय के विद्वानों ने प्रतिमान (नोर्म) और विपथन (डेविएशन) को दूसरी ही व्याख्या की। इस दृष्टिकोण के अनुसार भाषा को सन्दर्भ से काट कर नहीं समझा जा सकता। प्रयोग और प्रयोक्ता के सन्दर्भ में ही भाषा की मूल्यवत्ता है। इस दृष्टि से शैली-वैज्ञानिक अध्ययन में शब्द समुच्चय और विन्यास की धारणा का समावेश हुआ। शब्द समुच्चय, विन्यास के समान क्षेत्र और समान अर्थ-स्थितियों में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का समुच्चय है। इस धारणा के परिणामस्वरूप यह माना जाने लगा कि कविता की एक सूक्ष्म भाषा का अनुमान किया जाना चाहिये, इस सूक्ष्म भाषा का एक सूक्ष्म व्याकरण हो तथा यह सूक्ष्म व्याकरण, सूक्ष्म भाषा के सभी स्तरों स्वनिम शास्त्र वाक्य शब्द समूह आदि के विश्लेषण में समर्थ होना चाहिये।

संरचना के पैटर्न के आवर्तन को शैली मानने की धारणा का विकास रोमन जेकबसन के इस कथन से हुआ है कि—'काव्यात्मक कार्यफलन चयन के अक्ष से

संगठन के अक्ष में संतुलन के सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है।' कविता की भाषा के संयोजन-सम्बन्धों में वही वैशिष्ट्य होता है जो पारस्परिक रुचि रखने वाले—सदस्यों के निकट सम्बन्ध में होता है। कवि अपनी भाषा में विशेष रूप से, शृङ्खला में अलंकारों का प्रयोग करता है और रुचि के अनुसार उसे भंग कर देता है। निश्चय ही यह प्रणाली यह मानती है कि कवि काव्य उपादानों का चयन करता है, फिर चयित उपादानों का संगठन करता है तथा प्रयुक्त होकर ये उपादान घनिष्ठता से सम्बद्ध होते है।

हेलीडे ने पैटर्न के अभिसरण (कन्वरजेन्स) और सामंजस्य (कोहेरेन्स) को शैली माना है। इसका तात्पर्य यह है कि कवि की रचना में विशेष पैटर्न होता है, उसी पैटर्न का अभिसरण पूरी संरचना में होता है। इसके अतिरिक्त सामंजस्य शैली का अनिवार्य तत्त्व है। सामंजस्य के अन्तर्गत सभी कुछ आ जाता है। शब्दों का, मात्रा का, अलंकार आदि सबका सामंजस्य अभिप्रेत है। हेलीडे के अनुसार सामंजस्य का तात्पर्य है—शब्दसमूह और व्याकरणिक नियमों के चतुर्दिक् वर्णनात्मक कोटियों (डिस्क्रीप्टीव कैटगरीज) का प्रस्तुतीकरण (ग्रूपिंग)। भाषिक संरचना में सामंजस्य विभिन्न स्तरों पर होता है। सामंजस्य शृङ्खलागत सम्बन्ध है। यह शब्द सम्बन्धी भी हो सकता है और व्याकरणिक भी।

शैली विषयक चतुर्थ धारणा के अनुसार कवि अपनी भाषा में अभिव्यक्तिपरक कुछ विशिष्ट प्रयोग करता है। इस मान्यता के अनुसार कविता की भाषा में दो स्तर होते है—प्रत्यक्ष और गहन। अर्थ-विषयक व्याख्याएँ इस द्वितीय स्तर से ही उद्भूत होती हैं। स्वनिम सम्बन्धी विश्लेषण प्रथम स्तर से ही किया जा सकता है। ये दोनों स्तर अर्थ को निहित रखने वाले एक ऑर्डर्ड सेट ऑफ ट्रान्सफोरमेशन (Ordered set of transformation) से सम्बद्ध होते हैं।

शैलीविज्ञान उपर्युक्त धारणाओं के निष्कर्ष निम्नलिखित है—

(१) कवि की भाषा वाच्यार्थ के अतिरिक्त 'और क्या' कहने में कितनी समर्थ है?

(२) व्याकरण से कितनी नियमित है तथा अन्य प्रयोग कर उसने क्या विशेषताएँ अर्जित की हैं?

(३) अर्थ की समान स्थितियों और समान विन्यास में प्रयुक्त शब्द-समुच्चय का संदर्भगत वैशिष्ट्य क्या है?

(४) चयन के अक्ष और संगठन के अक्ष में संतुलन कितना और कैसे है?

(५) भाषा की वर्णनात्मक कोटियों के सामंजस्य और संरचना पैटर्न के अभिसरण का अध्ययन।

(६) कविता भाषा के विशिष्ट प्रयोग और प्रत्यक्ष तथा गहन स्तरों का अध्ययन।

उपर्युक्त में से पाँचवें को छोड़कर शेष किसी न किसी सीमा तक अर्थ जुड़े हैं। वस्तुतः काव्य का अंतिम सत्य उसका अर्थ ही है। इस अर्थ को समग्रता की सीमा तक उन्मीलित करने में भाषाशास्त्र योग देता है। यदि शैली वैज्ञानिक अध्ययन केवल संज्ञा क्रिया सर्वनाम आदि की गणना अक्षर-रचना छन्द अथवा उन्मुक्त उपवाक्य तक ही स्वयं को सीमित रखता है तो उसके उपयोग में सन्देह ही रहेगा।

कविता के शैलीवैज्ञानिक अध्ययन का एक प्रविधि जिआफ्रे लाच ने दी है—मैं समझता हूँ यह प्रविधि काफी संगत और पूर्ण है। इस विधि के प्रमुख सूत्र निम्नलिखित हैं —

(१) सामंजस्य इसका तात्पर्य यह है कि काव्य भाषा के आनुक्रमिक सम्बन्धों के योजनातंत्र में विभिन्न स्थानों में प्रयुक्त विभिन्न स्वतंत्र चयन (इकाई) परस्पर कितने संगत हैं तथा किस सीमा तक एक दूसरे का स्वीकार करते हैं। इसके अन्तर्गत (i) क्रिया पैटर्न का सामंजस्य तथा इस सामंजस्य से उत्पन्न वैशिष्ट्य, (ii) वितरण का सामंजस्य, (iii) शब्द समूह का सामंजस्य है। सामंजस्य के अध्ययन में, पूरी कविता में परिव्याप्त, अर्थ के कुछ ऐसे पैटर्न उपलब्ध होंगे जिनमें कविता के कथ्य का भाषातात्त्विक विवरण दिया जा सके। परन्तु यह विवरण पल्लवग्राही ही होगा, क्योंकि यह सामान्य भाषा में उपलब्ध इकाइयों का चयन जैसे किया गया है, इसी तथ्य पर आधारित है जबकि कविता सामान्य प्रयोग की रूढ़ियों को तोड़ती है। कविता भाषिक प्रयोगधर्मिता का उपयोग करती है। कविता की भाषा का महत्त्व उद्घाटन करने के लिए कविता में प्रयुक्त उन चयनों का विश्लेषण करना होगा, जिनकी सामान्य भाषा—प्रयोग में आशा भी नहीं की जा सकती।

(२) असामान्य प्रयोग—कविता में, भाषा के सामान्य प्रतिमानों से भिन्न प्रयोगों को सौन्दर्यात्मक सम्प्रेषण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। भाषा के सामान्य प्रतिमानों की पृष्ठभूमि में ऐसे मुख्य प्रयोगों को केन्द्रीभूत कर उनकी असामान्यता का विश्लेषण किया जाना चाहिये। शब्द के सामान्य और आलंकारिक अर्थ-वैपरीत्य में यह प्रयोग असामान्यता परिलक्षित की जा सकती है। एक काव्य-रूपक अर्थ की दृष्टि से विचित्र होता है, अतः रूपक में प्रयुक्त भाषिक रूपिम की व्याख्या सामान्य से भिन्न करनी होगी। रूपक में शब्द इकाइयों का विन्यास अत्यधिक नूतन भी हो सकता है।

असामान्य प्रयोगों के स्थलों में सामान्य प्रयोग करके भी कवि यह स्थिति उत्पन्न कर सकता है क्योंकि उन विशेष स्थलों पर असामान्य प्रयोग ही अपेक्षित हैं,

अपेक्षा के विपरीत प्रयोग पाठक की दृष्टि को आकृष्ट करेंगे—इस प्रकार सामान्य प्रयोग ही दीप्त हो उठेंगे। शैली वैज्ञानिक अध्ययन में असामान्य बने सामान्य प्रयोगों का भी विश्लेषण किया जाना चाहिये।

(३) असामान्य प्रयोगों का सामंजस्य—यह भी शैली वैज्ञानिक विवरण की एक दिशा है। इसके अन्तर्गत असामान्य प्रयोगों का परस्पर, और पूरी कविता के सन्दर्भ में भी, सामंजस्य देखा जा सकता है। कविता में अन्य योजनाओं का भी सामंजस्य होता है। छन्द, मात्रा-विषयक योजना का विश्लेषण कर उनके सामंजस्योद्भूत वैशिष्ट्य को प्रकाशित किया जाना चाहिये।

(४) स्वनिम योजना के विशिष्ट प्रयोग, अक्षर-संरचना का महत्त्व तथा इनसे उत्पन्न सौन्दर्य का विश्लेषण भी आवश्यक है।

परन्तु उपर्युक्त विश्लेषण सूत्रों के अतिरिक्त कविता के अर्थ तक पहुँचने के लिये व्याख्या तत्त्व की भी अपेक्षा है। इस व्याख्या के लिए आलोचक को भाषोत्तर सन्दर्भों की आवश्यकता होती है।

(५) जिआफ्रे लीच शैली-वैज्ञानिक अध्ययन में भाषित इकाइयों के केवल भाषातात्त्विक विवरण और विशिष्ट स्थल पर उनके कार्यफलन के विश्लेषण को ही पर्याप्त नहीं मानते। इस विश्लेषण से प्राप्त अर्थ को वे आभासिक कहते हैं तथा उन अन्य तत्त्वों की अपेक्षा स्वीकार करते हैं जिनसे कविता के तथ्य तक पहुँचा जा सकता है। इसी दृष्टि से लीच 'सन्दर्भ की विवक्षा' को भी विश्लेषण में आवश्यक समझते हैं। कविता में सन्दर्भ का निर्माण, कविता से ही अनुमानित करना होता है।

(६) द्व्यर्थकता—जब कवि जान-बूझ कर द्व्यर्थकता उत्पन्न करता है तो यह समझा जा सकता है कि वह स्वयं एकाधिक अर्थों की सहस्थिति चाहता है।

जिआफ्रे लीच ने 'दिस ब्रेड आइ ब्रेक' कविता का इन सूत्रों के आधार पर शैली वैज्ञानिक अध्ययन किया है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि शैलीवैज्ञानिक अध्ययन, किसी काव्यात्मक रचना की ध्वनियों, व्याकरणिक इकाइयों, वाक्यों, शब्दसमूह आदि का भाषातात्त्विक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। भाषिक इकाइयों के प्रयोगों के सामंजस्य-विपयन आदि के अध्ययन द्वारा उस कविता की विशिष्टताओं का उद्घाटन किया जाता है। यह विश्लेषण अर्थ की परिसीमाओं तक पहुँचता है। 'स्टाइल' स्वयं किसी अन्य का साधन है, उस साध्य को अनदेखा कर केवल भाषिक इकाइयों का विवरण कोई महत्त्व नहीं रखता।

ध्वनिसिद्धान्त मे काव्य के प्राण-तत्व, प्रतीयमान अर्थ की व्यजना के प्रसग म सघटना अर्थात् शैली का सूक्ष्म विवचन किया गया है। आनन्दवर्धन ने सघटना को गुणो के आश्रित मानकर उसे चित्तवृत्तियो से जोडा है। इस प्रकार प्रसिद्ध भाषाशास्त्रीय चोमस्की ने— मस्तिष्क के सहजात वैशिष्ट्य और भाषिक सरचना के गहन सम्बन्ध के जिस सत्य को इस शताब्दी म स्वीकारा है, आनन्दवर्धन ने विक्रम की नवम शती म उसका विवचन किया था।

सघटना को गुणो से सम्बद्ध कर उसमे विशेष स्वनिमो की योजना का निर्देश किया गया है चित्त को द्रवित करने वाले माधुर्य गुण के आश्रित सघटना मे कठोर /ट/ वर्ग /ष्/ /श/ आदि स्वनिमो का प्रयोग नही होता।

अतएव आनन्दवर्धन के अनुसार सघटना विश्लेषण का प्रारम्भ बिन्दु स्वनिम योजना विश्लेषण है।

सघटना के व्याकरणिक अवयव हैं—सुबन्त, (सज्ञा, विशेषणादि), क्रिया (तिङन्त), वचन कारक कृदन्त, तद्धित और समास। आनन्दवर्धन कविता के गहन स्तर म निहित अर्थ के उद्घाटन म इन सब अवयवो का व्याकरणिक विश्लेषण प्रतिपादित करते हैं। किस सरचना म कौन-सा प्रत्यय है, यह प्रत्यय किन किन अर्थों मे हो सकता है, प्रस्तुत प्रसग म कौन-सा अर्थ सगत है, चमत्कारक है, आदि का विश्लेषण किया जाता है, इतना ही नही पद, पदाश, वर्ण और वाक्य की खडश और समग्रत की व्याख्या अपेक्षित मानी गई है।

इसके अतिरिक्त औचित्य को आनन्दवर्धन ने सघटना का नियामक तत्व माना है। प्रयोग का औचित्य वक्ता का औचित्य और विषय का भी औचित्य। औचित्य सामजस्य का चरम परिणाम है, इसमे सभी प्रकार के सामजस्य समाहित हैं। अत स्वयं कथित सामजस्य का विवरण औचित्य के अन्तर्गत आ जाता है।

विचित्र प्रयोग, व्याकरण विरुद्ध प्रयोगो की व्याख्या, काव्य के सन्दर्भ विशेष म सदोष प्रयोगो को भी सुन्दर मानकर नित्य और अनित्य दोषो की व्यवस्था भी इस विश्लेषण के अन्तर्गत है।

यहाँ एक उदाहरण देकर इस विषय को स्पष्ट किया जा रहा है। आनन्दवर्धन ने यह उदाहरण सुप् तिङ्, वचन आदि व्याकरणिक इकाइयो के विश्लेषण द्वारा अर्थ तक पहुँचने के प्रसग म दिया है।

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापस,
सोऽप्यत्रैव, निहन्ति राक्षसकुल, जीवत्यहो रावण।
धिग धिक् शक्रजित प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा,
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनै कि एभि भुजै ॥

विश्लेषण—

(क) संज्ञाशब्द—

(१) अरय :—संज्ञा शब्द है, 'अरि' का बहुवचनत्व रावण और शत्रुओं के सम्बन्ध का अनौचित्य व्यक्त करता है। क्योंकि देवताओं को कंपित करने वाले रावण के शत्रु हों यह असम्भव है।

(२) तापस :—अरयः का विशेषण जो विशेष अर्थच्छटा उत्पन्न करता है, इसका अरयः से सन्दर्भ सामंजस्य द्रष्टव्य है। शत्रु भी तपस्वी, तापसः में मत्वर्थीय अण् प्रत्यय है। मत्वर्थीय तद्धित अण् प्रत्यय प्रशंसा, निन्दा आदि अर्थों में होता है। यहाँ यह प्रत्यय निन्दासूचक है। अर्थ होगा—बेचारे, पौरुषहीन, क्षीणदेह तपस्वी मेरे (रावण के) शत्रु हैं, आश्चर्य है।

(३) राक्षसकुलं :—राक्षसकुल को (नष्ट करते हैं)। मानव तो राक्षसों के भोज्य हैं, वही मानव राक्षसकुल को नष्ट कर रहे हैं।

(४) ग्रामटिका :—में तद्धित प्रत्यय 'क' है, इस प्रयोग से स्वर्ग की तुच्छता, लघुता द्योत्य है।

(५) शक्रजितम् :—विशेष सार्थक प्रयोग है। शक्र (इन्द्र) को जीतने वाला अर्थात् मेघनाद भी धिक्कार के योग्य है जो इन्द्रजित् कहलाता है, वह तपस्वी शत्रुओं को न जीत सका? मेघनाद के प्रति अनास्था की व्यंजना हुई है।

(ख) क्रियापद—

(१) निहन्ति :—यह क्रिया पद अरयः, तापसः के सामंजस्य में है तथा अतीव नाश करने के अर्थ को व्यक्त करता है, यह तिङ् प्रत्यय की द्योतकता का उदाहरण है।

(२) जीवति :—यह भी तिङ् प्रत्यय का प्रयोग है 'जीता है' अर्थात् रावण के जीवित रहते रावण कुल का नाश, घोर आश्चर्य।

(ग) सर्वनाम—

(१) 'मे' :—अस्मद् शब्द के षष्ठी एकवचन का यह रूप रावण और शत्रु के सम्बन्ध के अनौचित्य को व्यक्त करता है।

(२) असौ :—सर्वनाम भी तापसः, अरयः के प्रभाव को घनीभूत करता है। एभिः, वृथा, उच्छूनैः आदि पद व्यर्थता की अनुभूति के व्यंजक हैं तत्र, अपि आदि निपात समुदाय भी विशेष अर्थों की व्यंजना करते हैं। . . .

इस श्लोक मे संज्ञा और विशेषणा के पारस्परिक सामंजस्य के अतिरिक्त, व्याकरण-विरुद्ध, विधेयाविमर्श दोष से अभिहित 'न्यक्कारो ह्ययमेव' प्रयोग भी विशेष व्यंजक है, इसमे धिक्कार पर ही विशेष बल दिया गया है। रावणत्व को व्यर्थ समझने की अनुभूति है।

इस प्रकार शब्द को उसके मूल धातु और प्रत्यय तक विभक्त कर, वाक्य मे उसके कार्यफलन का स्पष्ट करते हुए, अर्थच्छटाओ के प्रकाशन की व्यवस्था ध्वनिसिद्धात देता है। सूत्रबद्ध रूप मे उन्हे इस प्रकार निबद्ध किया जा सकता है—

(१) ध्वनिसिद्धान्त मे भाषातात्त्विक विश्लेषण का प्रयोग कविता के प्रतीयमान अर्थ—जिसे आधुनिक भाषाशास्त्र डीप लेवल से उद्भूत मानता है—के प्रकाशन के लिए किया जाता है।

(२) संघटना की लघुतम व्याकरणिक इकाई प्रत्यय से प्रारम्भ कर धातु, उसके संयोग, विभक्ति, पद, वाक्य तक का विश्लेषण किये जाने का निर्देश है।

(३) संघटना मे प्रयुक्त स्वनिमो (वर्णों) को गुणो के आश्रित मानकर उसका विश्लेषण चित्तवृत्यात्मक प्रभाव की दृष्टि से करणीय है।

(४) औचित्य को संघटना का नियामक तत्त्व माना गया है, इस औचित्य की सीमा मे सभी प्रकार के सामंजस्य आ जाते हैं। अलंकार, गुणादि का औचित्य विशेषत: प्रतिपादित किया गया है।

(५) ध्वनिसिद्धान्त चयन और यत्नपूर्वक प्रयोग की व्यवस्था भी देता है।

भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर्गत ध्वनिसिद्धान्त प्रतिपादित उपर्युक्त संघटना विश्लेषण सूत्रो और इस अध्याय के प्रथम परिच्छेद मे उद्धृत आधुनिक शैलीशास्त्रीय अध्ययन के बिन्दुओ के योग से कविता के लिये एक लगभग पूर्ण शैलीवैज्ञानिक निकष बनाया जा सकता है। इस प्रयत्न के फलस्वरूप निम्नांकित शीर्षको के अन्तर्गत कविता का शैली वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है—यहाँ उदाहरणार्थ 'विवशता' कविता को लिया जा रहा है -

कितना चौड़ा पाट नदी का, कितनी भारी शाम
कितने खोये-खोये से हम कितना तट निष्काम
कितनी बहकी-बहकी-सी दूरागत वंशी-टेर
कितनी टूटी-टूटी-सी नभ पर विहगों की फेर
कितनी सहमी-सहमी-सी क्षिति की मुरझाई पिपासा
कितनी सिमटी-सिमटी-सी जलपर तट तरु अभिलाषा
कितनी चुप-चुप गई रोशनी छिप-छिप आई रात

कितनी सिहर-सिहर कर अधरों से फूटी दो बात
चार नयन मुसकाये, खोये, भीगे फिर पथराए
कितनी बड़ी विवशता जीवन की कितनी कह पाए ।

१—स्वनिम विश्लेषण—

विवशता कविता में—

अल्पप्राण अघोष	—।क्। (२१), ।च्। (४), ।ट्। (६) ।प्। (५) ।त्। (२०)
म० प्रा० अघोष	—।ख्। (३), ।छ्। (२), ।थ्। (१), ।फ्। (१)
महाप्राण घोष	—।भ्। (४), ।घ्। (१)
अल्पप्राण घोष	—।ग्। (४), ।ज्। (१), ।द्। (२), ।ब्। (३)
ऊष्म	—।स्। (१५), ।श्। (३), ।ष्। (२)
अन्तस्थ	—।य्। (७), ।व्। (१), ।र्। (११), ।ल्। (१)
नासिक्य	—।न्। ।म्।

उपर्युक्त परिगणना से स्पष्ट है कि महाप्राण वर्णो (स्वनिमों) का प्रयोग अल्पतम किया गया है । अधिकांश स्वनिम अघोष अल्पप्राण हैं । घोष भी हैं तो अल्पप्राण । अनुनासिक दो ही प्रयुक्त हुए हैं । न और ।म्। ऊष्मों में ।स्। सर्वाधिक प्रयुक्त हुआ है । इन कोमल वर्णो से माधुर्य गुण की द्रुतिमूलक प्रतीति सम्भव हुई है । 'स्' का अधिक प्रयोग आकांक्षा और अवसाद की—अभिव्यक्ति में सहायक है । ट् का एक बार प्रयोग हुआ है, पर वह 'च्' के साथ होने से कटु नहीं लगता ।

२—शब्द-संघटना—की दृष्टि से समासों का विवेचन अपेक्षित है—विवशता कविता में दो पदों के पाँच और तीन पदों के भी (५) समास हैं, पर ये इतने सरल हैं कि इसे अल्पसमासा अथवा असमासा रचना कहा जा सकता है ।

दो पद के समास—

१. वंशी-टेर
२. तट-तरु
३. चुप-चुप
४. छिप-छिप
५. सिहर-सिहर

तीन पद के समास—

१. खोये-खोये-से
२. बहकी-बहकी-सी
३. टूटी-टूटी-सी

४ सहमी-सहमी सी
५ सिमटी सिमटी-सी

(३) सामजस्य—सामजस्य का विविध स्तरो पर परखा जा सकता है—

(क) व्याकरणिक सगति—

(१) विवशता कविता के पद प्रयोगो मे व्याकरणिक सगति का पूर्ण निर्वाह है (एक प्रयोग के अतिरिक्त पाट नदी का) कितना पद का विशेष चयनपूर्वक प्रयोग किया गया है। कितना के तीन प्रत्यया के योग मे तीन रूप प्रयुक्त हुये हैं—'आ' प्रत्यय युक्त एक वचन पुल्लिङ्ग रूप प्रथम पक्ति मे, (कितना चौडा पाट नदी का) यहाँ कितना मात्रा सूचक है। 'ए' प्रत्यय युक्त 'कितने', दो व्यक्तियो की उपस्थिति और खोय होने' की सघनता व्यक्त करता है। 'ई' 'प्रत्यय युक्त कितनी' उन सज्ञाओ के सामजस्य म है जिनका 'विवशता' पद मे अन्विति है। प्रकृति के उपादानो के साथ एक वचन स्त्रीलिङ्ग 'कितनी' का प्रयोग, उनके अकेलेपन और उदासी को प्रकट करता है। तृतीय से लेकर आठवी पक्ति तक में प्रयुक्त 'कितनी' का अन्वय अन्तिम पक्ति की 'कितनी' से है। दसवी पक्ति मे द्वितीय बार प्रयुक्त 'कितनी' का अर्थ 'कुछ नही' है।

(२) क्रिया का सामजस्य भी द्रष्टव्य है—विवशता कविता मे काल के दो प्रयोग हैं—(१) वर्तमान और (२) अशक्यार्थसूचक। कविता के पैटर्न को देखते हुए ये पूर्ण सगत हैं।

(३) शब्द सामजस्य, 'कितनी' की आवृत्ति मे तो है ही, साथ ही अन्य पद जैसे शाम, वशी-टेर, विहगी की फेर, रोशनी, रात, बात आदि भी स्त्रीलिङ्ग मे हैं, इनका सामजस्य 'विवशता मे है।

(४) वाक्य-विन्यास के पैटर्न म आवर्तन का सामजस्य देखा जा सकता है, ३, ४, ५, ६ पक्तियो की सरचना लगभग एक-सी है। प्रथम और द्वितीय पक्ति की सरचना भी समान है।

(ख) अक्षर योजना का सामजस्य भी विवेचनीय है। यदि शब्द समान स्वरो (गुण और मात्रा दोनो) मे युक्त हैं तो वे सगीतात्मक प्रभाव उत्पन्न करने मे सक्षम होते हैं। विवशता कविता में शब्द चार अथवा तीन अक्षरो के ही अधिक हैं। प्रत्येक पक्ति का प्रारम्भ समान अक्षर योजना से हुआ है—'कितना' (सी वी सी वी सी वा)

(ग) अनुप्रास—अनुप्रास भी सामजस्य का एक प्रकार है। इस दृष्टि से इस कविता मे १ और २ (शाम, विश्राम), ३ और ४ (टेर, फेर) ५ और ८ (पिपासा, अभिलाषा), ७ और ८ (रात बात), ९ और १० (पथराये, पाये),

पंक्तियों के प्रयोग द्रष्टव्य है। इस प्रकार के प्रयोग से भी संगीतात्मक प्रभाव उत्पन्न होता है।

पैटर्न का सामंजस्य २, ३, ४, ५, ६ पंक्तियों के मध्य में देखा जा सकता है। विशेषण उपवाक्य की रचना पूर्णतः समान है।

(४) असामान्य प्रयोग :—

सामान्य, स्वीकृत प्रयोगों से विलक्षण प्रयोगों को सौन्दर्यात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इस प्रकार के प्रयोगों का शैली-वैज्ञानिक अध्ययन के अन्तर्गत विश्लेषण किया जाना चाहिये। व्याकरण-विरुद्ध प्रयोगों के चमत्कार का उद्घाटन भी आवश्यक है। विवशता कविता के ऐसे प्रयोग निम्नलिखित हैं—

(१) भारी शाम, (२) वहकी-वहकी टेर, (३) टूटी-टूटी-सी, विहगी की फेर, (४) सहमी-सहमी-सी पिपासा, (५) सिमटी-सिमटी अभिलाषा, (६) चुप-चुप गयी रोशनी, (७) छिप-छिप आयी रात, (८) सिहर-सिहर कर फूटी बात।

उपर्युक्त सभी प्रयोग भाषा के सामान्य प्रतिमानों की पृष्ठभूमि में नूतन लगेंगे। यदि 'सिमटी-सिमटी⋯' संरचना बनाई जाय तो सिमटी के आगे भरने को अनेक शब्द मिल जायेंगे, जैसे साड़ी, लड़की आदि, पर अभिलाषा नहीं मिलेगी। ये पद विशेष रूप से व्यंजक होते है।

(५) विम्ब—कविता की शैली में विम्ब विशेष प्रभाव उत्पन्न करते हैं, कविता को जीवन्त वना देते हैं। (क) कुछ विम्ब दृश्य होते हैं, लगता है हम आँखों से देख रहे हैं। विवशता कविता की छठी पंक्ति में 'सिमटी-सिमटी-सी जल पर तट-तरु अभिलाषा' में दृश्य विम्ब है—अभिलाषा के मूर्तिकरण के साथ साथ उसका सिमटना भी प्रत्यक्ष हो जाता है। चतुर्थ पंक्ति का विम्ब भी दृश्य है।

(ख) कुछ विम्ब श्रव्य होते हैं—हम उन्हें सुनते है, जैसे इस कविता की 'वहकी-वहकी-सी दूरागत वंशी-टेर' पंक्ति का विम्ब।

(ग) स्पर्श्य विम्ब में हम स्पर्श की सिहरन का अनुभव करते है। इस कविता की नवी पंक्ति का विम्ब स्पर्श्य कोटि का है।

अन्य विम्बों का भी इसी प्रकार विश्लेषण किया जा सकता है।

(६) अलंकरण—

मूर्तकरण भी अलंकार है। अमूर्त और सूक्ष्म वस्तुओं के साथ मूर्त और जीवन्त प्राणियों की क्रियाओं का प्रयोग कर उन्हें मूर्त और जीवन्त सदृश प्रस्तुत किया जाता है। टेर, फेर, पिपासा, अभिलाषा आदि अमूर्त हैं, इन्हें अनुभव किया जा सकता है। विशिष्ट क्रिया-विशेषणों का प्रयोग कर इन्हें मूर्त किया गया है।

(७) छन्द—मात्राओं का पैटर्न भी विचारणीय बिन्दु है। 'विवशता' कविता म सत्ताईस मात्राओं की योजना सात बार प्रयुक्त हुई हैं। शेष २, ५ ६ पंक्तियाँ भी इसी योजना के निकट हैं। इस सामजस्य से लयात्मक प्रभाव उत्पन्न होता है।

ध्वनिसिद्धान्त की दृष्टि म दसवीं पक्ति की आवश्यकता न थी 'चार नयन मुसकाये, खोये, भीगे फिर पथराये' ही 'विवशता' की व्यजना के लिय पर्याप्त है। इस पंक्ति से अनुभावमुखेन विवशता व्यजित हो ही रही है। 'नयन पथराये' मे अन्य पदो की सन्निधि के कारण 'कुछ न कह पाने' का अर्थ व्यक्त होता है।

ध्वनिसिद्धान्त की शब्दावली म 'विवशता' की सघटना माधुर्य—प्रसाद गुण युक्त, अल्पसमासा अथवा असमासा है। तीव्र घुटन, न कह पाने की नियति की स्वीकृति और अतृप्त प्रेम इसका व्यग्य है। विवशता स्वशब्दवाच्य है, पर बुरी नहीं लगती।

इस प्रकार काव्यशास्त्र और भाषाशास्त्र के योग से शैलीविज्ञान विषयक धारणाओं का विकास होता है। काव्यशास्त्र केवल विधि निषेध परक शास्त्र नही है, उसमे विश्लेषण-प्रविधियाँ व स्पष्ट सकेत हैं।

जर्मन विद्वान् मनफ्रेड बायरविश (Manfred Bierwish) ने काव्य के वैज्ञानिक विश्लेषण विषयक दो अतिमार्गों का उल्लेख किया है। एक है हरमेन्यूटिक सम्प्रदाय (Hermeneutic School) जो कविता की सरचना से ही उसका मूल्याकन करना समुचित मानता है। इस सम्प्रदाय के अनुसार कविता पर पूर्वनिर्धारित नियमो का लादन की आवश्यकता नही। प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तु से भिन्न है, अद्वितीय है, अत एक वस्तु से सम्बद्ध नियमो का शासन दूसरी वस्तु पर प्रवृत्त नही किया जा सकता। दूसरे प्रकार का अतिमार्ग वह है जिसम काव्य के विशिष्ट गुणो का उद्घाटन करने के लिए सांख्यिकीय प्रणालियो का उपयोग किया जाता है—जैसे छन्द की पंक्तियाँ, पंक्तियो के अक्षर, प्रघट्टक मे पंक्तियो की लम्बाई आदि का परिमापन। इस प्रकार गणना कर कुछ सूत्र बनाए जाते हैं। हमारी दृढ धारणा है कि इस प्रकार की गणितीय सूत्र रचना काव्य के सन्दर्भ म विशेष उपयोगी नही है। प्रथम दृष्टि मे ऐसा प्रतीत होता है कि काव्यशास्त्र का उद्देश्य साहित्यिक ग्रन्थ है। परन्तु थोडा विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि वस्तुत काव्यशास्त्र का प्रतिपाद्य उन कतिपय नियमितताओं का वर्णन है जिनकी उपस्थिति से काव्य के विशिष्ट प्रभाव निर्धारित होते हैं, रचना काव्यपद की अधिकारिणी होती है। बायरविश ने काव्यशास्त्र और भाषाशास्त्र के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए कतिपय निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। भाषाशास्त्र

के ट्रांसफोर्मेशनल दृष्टिकोण का उद्देश्य व्यक्ति को उसके सीमित शब्द, ध्वनि आदि विषयक कोश से ही असंख्य वाक्य बना लेने की क्षमता प्रदान करना है। प्रत्येक भाषा में संयोजन सम्बन्धी कतिपय नियम होते हैं। इन नियमों की सहायता से, अपने सीमित भाषा तत्त्वों के कोश से ही मनुष्य अनेक वाक्यों का निर्माण तथा प्रयोग करता है। वाक्यों की निरन्तर वर्धमान संख्या प्रयोक्ता की इच्छा पर निर्भर करती है। वाणी की प्रत्येक क्रिया के मूल में निहित इस योग्यता को कुछ व्यवस्थित नियमों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, इसे नियमों की व्यवस्था भी (System) कहा जाता है। इस व्यवस्था का निवेश (Input) आरम्भिक प्रतीक वाक्य होगा तथा भाषा के वे सभी वाक्य जिनका सन्दर्भ यहाँ है—उत्पाद्य होंगे। इस प्रकार यह व्यवस्था गणित की प्रविधि के समान वाक्यों को उत्पन्न करेगी। इस प्रक्रम की रूपरेखा निम्नलिखित विधि से प्रस्तुत की जा सकती है।

प्रथम सूत्र :—
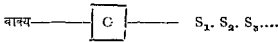
G व्युत्पादक (generative) व्यवस्था है। इसका निवेश आरम्भिक वाक्य है। $S_1. S_2. S_3......S_4$ भाषा के पृथक्-पृथक् वाक्य हैं। यह व्यवस्था (G) केवल शब्दों अथवा ध्वनियों के अनुक्रम ही उत्पन्न नहीं करती वरन् इन अवयवों में सम्बन्ध भी स्थापित करती है, तभी वाक्य निष्पन्न होता है। इसका तात्पर्य यह है कि व्यवस्था G यह भी निर्धारित करेगी कि वाक्य ठीक है, संदिग्ध है अथवा द्व्यर्थक है। वाक्य में प्रयुक्त संज्ञा-निपातादि का वर्णन और उनके पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन संरचनात्मक विवरण (S. D.) कहलाते है। व्यवस्था G शब्दों के संयोजनों के अतिरिक्त संरचना विवरणों (Structural Descriptions) SD_5 को भी उत्पन्न करता है। इस व्यवस्था G के अनेक अवयव है—

वाक्य
G————अर्थ
ध्वनि

इन अवयवों का सम्बन्ध ऐसा है कि अर्थविज्ञान अर्थ का विवरण देता है, ध्वनिमशास्त्र ध्वनिम संरचना की व्याख्या करता है। इन दोनों ही व्याख्याओं का आधार वाक्य संरचना (Syntactic structure, SS) होती है। इस दृष्टि से सूत्र की रूपरेखा निम्नलिखित होगी—

द्वितीय सूत्र —

वाक्य—[ ]—SS [अर्थ नि —अर्थ M / स्वनिम शा —स्वनिम, P]

वाक्य विन्यास व्यवस्था
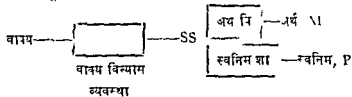
P के अन्तर्गत किसी वाक्य की सभी नियमित आच्चारणिक विविधताएँ सन्निहित हैं। M मे वाक्य की सभी वाक्यविहित और अर्थविहित विविधताएँ है। सूत्र २ से स्पष्ट है कि प्रथम सूत्र के प्रत्यक Sn का विवरण एक m तथा एक p के द्वारा दिया जा सकेगा। इस व्यवस्था म भाषिक चिह्न की द्विविधता स्वीकार की गई है। जिन अवयवों की चर्चा यहाँ की गई है, उनके अनेक उपअवयव होते है।

प्रत्येक वाक्य का पारिणामिक संरचना विवरण (SD) अनेक स्तरों से निर्मित होता है—इन स्तरों म अनेक संरचनात्मक पक्ष विवृत होते हैं।

इस प्रकार प्रक्रम C की व्यवस्था स, सिद्धान्तत, प्रकृत भाषा के असंख्य वाक्यों के वैशिष्ट्य का प्रकट किया जा सकता है। इस गंभिन व्यवस्थाविन्य द्वारा संरचनात्मक विशेषताएँ (Structural characteristics) भी स्पष्ट की जा सकती हैं। इस दृष्टि से भाषा उत्पादक व्यवस्था (Generative System) C द्वारा उत्पन्न वाक्यों का समुच्चय Set) होगी। यदि भाषा को I मे व्यक्त कर, s_1 s_2 s_3 . आदि C व्यवस्था द्वारा उत्पन्न वाक्य हों तो—

$$I\ C\ (s_1\ s_2\ s_3\ \ldots)$$

होगा। यदि इस व्यवस्था का स्वनिमयोजना और वाक्य तक ही सीमित न रखा जाय, इसमे अर्थ भी समाहित किया जाय तो यह व्याकरण की महान् विश्वसनीय व्याख्या हो सकेगी, इसमे सन्देह नहीं है। पाणिनीय व्याकरण ऐसी ही महान् व्यवस्था है। यहाँ एक और महत्त्वपूर्ण प्रयोगसिद्ध तथ्य व्याख्या की अपेक्षा रखता है।

काव्य मे व्याकरण विरुद्ध (deviations) वाक्य भी काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करते हैं, सामान्य व्यवहार में भी ऐसे प्रयोग देखे जाते हैं। अत व्यवस्था (System) में यह सामर्थ्य भी होनी चाहिये कि वह सामान्य से भिन्न वाक्यों की भिन्नता के स्तरों को तथा प्रकारों के भेद को व्यक्त कर सके।

उपर्युक्त व्याकरणिक सिद्धान्त मे यह क्षमता है। यदि यह माना जाय कि व्याकरणिक व्यवस्था केवल उन्हीं वाक्यों और सम्बन्धों को निष्पन्न करती है जो साधारणत व्याकरणसम्मत माने जाते हैं तथा सभी विपथित (Deviant) वाक्य सम्बन्धों को गौण व्यवस्था द्वारा निष्पन्न हैं। यह गौण व्यवस्था इन वाक्यों को

G द्वारा उत्पन्न संरचनात्मक विवरणों (SDs) से भी जोड़ती है। तब इसका तात्पर्य होगा कि विपथित वाक्य सदोष संरचनात्मक विवरणों (SDs) वाले होंगे। इस प्रकार के और सामान्य संरचनात्मक विवरण वाले वाक्यों के अन्तर को स्पष्ट कर वाक्यों के असामान्य अंशों और प्रकारों का आख्यान किया जा सकेगा। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि विपथित वाक्य (Deviant sentences) G व्यवस्था के नियमों के अतिक्रमण से उत्पन्न होते हैं।

सामान्य वाक्य प्रयोग द्वारा परीक्षणीय-ज्ञेय सामग्री है। यद्यपि इन्हें प्राप्त करना व्यावहारिक दृष्टि से सरल नहीं है। यह भ्रम नहीं करना चाहिये कि G व्यवस्था सामान्य और असामान्य वाक्यों के औचित्य का कथन भी करेगी। G केवल यह बतलाती है कि किन गुणों और किन नियमितताओं से सामान्यता उत्पन्न होती है, अथवा असामान्यता कैसे उत्पन्न होती है। यह व्यवस्था G असामान्यता उत्पन्न करने वाली रुचियों के कारणों के विषय में कुछ नहीं कह सकती। वक्ता और श्रोता के बीच घटित प्रक्रिया के सम्बन्ध में भी यह मौन है।

व्यवस्था के विस्तार में यह भी माना जाएगा कि यह व्यवस्था केवल वाक्य ही उत्पन्न नहीं करती, वाक्यों के अनुक्रम अर्थात् पूर्ण कथन भी निर्धारित करती है।

जकोबसन तथा लोरज ने छन्द व्यवस्था की कल्पना करते हुए कहा है कि यह व्यवस्था छन्द के आधारभूत अवयवों तथा उनके सम्बन्धों की सटीक व्याख्या करती है। यह व्याख्या इस बात को बतलाने में समर्थ होनी चाहिए कि कौन-सा छन्द उस व्यवस्था में उपयुक्त है, कौन-सा नहीं, सभी सम्भव छन्दरूप निरूपित सिद्धान्त व्यवस्था से व्युत्पन्न किए जा सकने चाहिए।

छन्द सूत्रों का समुच्चय, एक प्रकार से, उपरिकथित व्याकरणिक व्यवस्था का समानधर्मी है। यह वह छन्द व्यवस्था है जो सभी छन्दों को उत्पन्न करती है तथा आकस्मिक अथवा जानबूझ कर किये गये सभी विपथनों को स्पष्ट करती है।

व्याकरण और छंद व्यवस्था में अंतर यह है कि छन्द व्यवस्था व्याकरण द्वारा प्रस्तुत तत्त्वों से ही निर्मित है किन्तु व्याकरण-व्यवस्था भाषेतर किसी अन्य वस्तु पर आधारित न होकर पूर्ण स्वतन्त्र है। काव्यात्मक संरचनाएँ जैसे छंद, अंत्यानुप्रास, सानुप्रासिकता आदि परजीवी संरचनाएँ हैं, इनका मूल आधार भाषिक संरचनाएँ ही हैं।

उत्पादक व्याकरण (Generative Crammer) के उपर्युक्त परिचयात्मक विवरण के अनन्तर काव्यात्मक संरचना (Poetic Structure) को व्याकरण से सम्बद्ध किया जा सकता है। माना PS' एक काव्यात्मक व्यवस्था है। यह व्यवस्था चयन-धर्मी प्रक्रम है। इस प्रक्रम (Mechanism) की आधारभूत सामग्री उपर्युक्त G

व्यवस्था द्वारा निष्पन्न संरचना-विवरण हैं। काव्यात्मक व्यवस्था से दो प्रकार की सामग्री निगत होती है। SD_1 और SD_2। इनमें SD_1 वह संरचना विवरण है जो काव्यात्मक नियमों के अनुकूल है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि PS^1 वाक्य की काव्यात्मकता-अकाव्यात्मकता का निर्धारण करने वाला विवेकक्षम प्रणाली है। यह व्यवस्था एक प्रकार से मान्यताप्रदायी व्याकरण के समकक्ष होगी। इसमें शब्दों के अनुक्रम ग्रहण किए जाएँगे और यह निर्णय निर्गत होगा कि अनुक्रम पूर्णतः व्याकरण-सम्मत था या नहीं। जैसे मान्यताप्रदायी व्याकरण में व्याकरणसम्मत सामान्य वाक्यों और विपथित वाक्यों में भेद करने वाले नियम होते हैं वैसे ही PS^1 काव्यात्मक व्यवस्था में नियमों की ऐसी सुनिश्चित व्यवस्था होगी जो काव्यात्मक संरचनाओं और काव्येतर संरचनाओं में भेद करेगी।

उपर्युक्त प्रक्रम PS^1 की अपेक्षा किंचित् व्यापक प्रक्रम PS की कल्पना अधिक उपादेय होगी। यह प्रक्रम PS यह बतलाएगा कि दो संरचना विवरणों (SDs) में से कौन-सा कतिपय काव्यात्मक नियमितताओं के अधिक निकट है। अर्थात् PS प्रक्रम कुछ संरचना विवरणों को काव्यात्मकता के मानदण्ड में अनुक्रमित करेगा। इस स्थिति में व्याकरण की दृष्टि से विपथित वाक्यों के संरचना विवरणों पर भी विचार करना चाहिए। क्योंकि अनेक व्याकरण विरुद्ध कथनों की प्रेरणा काव्यात्मक संरचना PS के नियमों से होती है।

काव्यात्मक संरचना व्यवस्था का निवेश (Input) संरचना विवरण SD है। इस संरचना विवरण को PS एक मूल्यवत्ता देता है। नियमों का अतिक्रमण भी इस व्यवस्था द्वारा ज्ञेय है।

जकोबसन के अनुसार काव्यात्मक प्रक्रम चयन के अक्ष से संयोजन के अक्ष में समतुल्यन के सिद्धान्त को प्रक्षेपित करता है। उपर्युक्त विवरण के प्रकाश में इसका तात्पर्य होगा कि किसी संरचना विवरण (SD) के दिए हुए अनुक्रम (Sequence) में ऐसे सत्त्व होते हैं जिनका वैशिष्ट्य समान वाक्यविन्यासमूलक, अर्थ-मूलक अथवा ध्वनिमूलक अनुगुणों द्वारा निरूपित किया जा सकता है। ये सत्त्व विशिष्ट होते हैं तथा काव्यात्मकता (Poeticality) के निकष में विशिष्ट मूल्य नियुक्ति का आधार प्रस्तुत करते हैं। इसी बात को और भी संक्षिप्त तथा सटीक रूप में निम्न-लिखित प्रकार से कहा जा सकता है—

C तथा C' दो सश्लिष्ट रचनाएँ हैं, G व्यवस्था द्वारा इनकी व्याख्या की गई है। C तथा C' दोनों में m सत्त्व (entities) हैं, इनमें n समान हैं, $n \leqslant m$ अर्थात् n या तो m के बराबर है अथवा m से कम। $n = m$ की स्थिति में दोनों रचनाएँ समान होंगी। तब m की तुलना में n जितना हो कि C और C' में काव्या-

त्मक सम्बन्ध है, यह स्थापित हो सके। जेकोबसन के अनुसार काव्यात्मक संरचना में व्याख्या करने वाले नियम निम्नलिखित रूप में प्रकट होने चाहिए—

SD (C C′) — — — — SD (R (C C′))

R (C C′) दोनों संरचनाओं का सम्बन्ध है। इस सूत्र को समुच्चय सिद्धान्त के अनुसार लिखा गया है, —→ चिह्न का तात्पर्य है SD (CC′) को SD (R (C C′)) लिखो। अर्थात् C और C′ के संरचना विवरण के स्थान पर C और C′ के सम्बन्ध का संरचना विवरण लिखा जाना चाहिए। उपर्युक्त विवरण के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त किए जा सकते हैं—

(१) काव्यात्मक व्यवस्था PS, व्याकरणिक व्यवस्था G द्वारा व्युत्पन्न संरचना विवरणों पर क्रियाशील होती है।

(२) इस काव्यात्मक व्यवस्था PS के नियम भाषिक संरचनाओं पर प्रवृत्त होते हैं पर स्वयं अति भाषिक (extralinguistic) हैं।

(३) यह व्यवस्था स्वतः और स्पष्टतः यह बतलाती है कि किन नियमितताओं में काव्यात्मक प्रभाव का आधार है।

(४) यह काव्यात्मक व्यवस्था इस प्रकार सूत्रबद्ध होनी चाहिए कि प्रत्येक निवेशित भाषा और प्रत्येक विशिष्ट काव्यात्मक प्रभाव का निकष बन सके।

(५) विशेष काव्यात्मक व्यवस्थाओं की विशेष समस्याओं के अध्ययन से काव्यात्मक व्यवस्था के विशिष्ट परिप्रेक्ष्यों की गवेषणा की जा सकती है। जैसे भाषिक सिद्धान्तों में सामान्यरूप का अध्ययन किया जा सकता है, ठीक उसी प्रकार काव्यात्मक व्यवस्था के सामान्य स्वरूप का अध्ययन किया जा सकता है।

(६) अंततः काव्यात्मक व्यवस्था के भाषेतर सौन्दर्यशास्त्रीय पक्ष को भी समुचित रूप से समझा जा सकता है।

(७) यह माना जाता है कि जानबूझ कर किए गये व्याकरण विरुद्ध प्रयोगों में काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न होते हैं, पर प्रत्येक व्याकरण विरुद्ध प्रयोग से काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न नहीं होता।

ध्वनिसिद्धान्त, वस्तुतः एक काव्यात्मक व्यवस्था का सिद्धान्त है। इसके निश्चित नियमों की व्यवस्था काव्यात्मकता अथवा अकाव्यात्मकता का निकष प्रस्तुत करती है। इस सिद्धान्त द्वारा प्रस्तुत व्यवस्था के निवेश (Input) व्याकरण द्वारा

व्युत्पन्न संरचनाएँ हैं। ध्वनिसिद्धान्त की व्यवस्था शब्द और अर्थ पर प्रवृत्त होती है। यह व्यवस्था चयनधर्मी भी है—

> सो ऽर्थं तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।
> यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥

ध्वनिसिद्धान्तीय काव्यात्मक व्यवस्था निर्धारित संरचनाओं में से कतिपय को काव्यात्मक मानती है अन्य को नहीं।

ध्वनिसिद्धान्त प्रतिपादित काव्य व्यवस्था के नियम भाषिक संरचनाओं पर प्रवृत्त होते हैं परन्तु ये नियम स्वयं में भाषाशास्त्रीय नहीं हैं। ध्वनिसिद्धान्त स्वतः उन नियमितताओं की व्याख्या करता है जिनमें काव्यात्मकता उत्पन्न होती है। इस व्यवस्था के नियमों द्वारा भाषा के प्रत्येक विवरण तथा विशिष्ट काव्यात्मक प्रभाव की व्याख्या सम्भव है। इस काव्य व्यवस्था के भाषाशास्त्रेतर सौन्दर्य पक्ष की व्याख्या अध्याय ६ और ७ में की गई है।

ध्वनिसिद्धान्त व्युत्पत्तिमूलक व्याकरण के सदृश एक ऐसी व्यवस्था है जो वाक्य की काव्यात्मकता का निर्णय करती है। यह प्रतीयमान अर्थ की व्यवस्था है। यदि इस व्यवस्था को प्र० व्य० संज्ञा से व्यक्त करें तो शब्द और अर्थ संरचनाएँ इसकी प्रारम्भिक निवेश सामग्री होगी। यह व्यवस्था इस निवेशित सामग्री को तीन रूपों में विभक्त करती है। प्रथम वे संरचना विवरण जिनमें प्रतीयमान अर्थ वाच्यातिशयी है, जिन्हें यह व्यवस्था 'ध्वनि' कहती है। दूसरे वे संरचना विवरण (SDs) जिनमें प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ के समान अथवा कम महत्त्वपूर्ण हैं ऐसे संरचना विवरणों को यह व्यवस्था गुणीभूत व्यंग्य कहती है। तृतीय वे संरचना विवरण जिनमें व्यंग्य का स्पर्श नहीं है अथवा कवि की विवक्षा वैसी नहीं है, इस व्यवस्था के अनुसार चित्रकाव्य है।

शब्द और अर्थ संरचनाएँ	→	प्र० व्य०	→	ध्वनि गुणीभूत व्यंग्य चित्र

इस प्रकार यह व्यवस्था शब्द और अर्थ की संरचनाओं को काव्यात्मक मूल्यवत्ता प्रदान करती है। इसके अनुसार काव्यत्व विविध शब्द अर्थ संरचनाओं द्वारा उत्पन्न वाच्यातिशयी प्रतीयमान अर्थों का समुच्चय (set) है।

ध्वनिसिद्धान्त की इस काव्यात्मक व्यवस्था के नियमों को दो रूपों में रखा जा सकता है—

(१) जहाँ अर्थ स्वयं को और शब्द अपने अर्थ को प्रतीयमान अर्थ के प्रति उपसर्जन कर दे, वहाँ विद्वानों ने ध्वनि व्यपदेश किया है। अतः ध्वनि सिद्धान्त, शब्द

और अर्थ की प्रतीयमान और अर्थ के प्रति स्वोपसर्जन की व्यवस्था है। यह व्यवस्था व्यंग्य-व्यंजक भाव पर आधृत है। यही वह प्रधान निकष है जो शब्द और अर्थ की काव्यत्व विषयक मूल्यवत्ता का निर्णय करता है।

(२) इस व्यवस्था का द्वितीय महत्त्वपूर्ण नियम यह है कि वाच्यवाचक पर आधृत चारुत्वहेतुओं का भी प्रतीयमान रस के प्रति तत्परता का भाव होना चाहिए।

(३) प्रतीयमान रस के आश्रित रहने वाले गुण कहलाते हैं।

(४) रसाश्रित अलंकार ही ग्राह्य है।

(५) औचित्य का परिपालन सर्वत्र वांछित है।

अतः यह निष्पन्न होता है कि आनन्दवर्धन ने ध्वनि की प्रेरणा ही वैयाकरणों से ग्रहण नहीं की वरन् भारत की प्रसिद्ध व्युत्पत्तिमूलक व्याकरण-परम्परा के स्वरूप के आधार पर ही इस सिद्धान्त-व्यवस्था को विकसित भी किया है।

अध्याय षष्ठ

ध्वनिसिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्रीय संदर्भ

"भारतीय चिन्तन-परम्परा मे ललित-कलाओं के अंतर्गत स्थापत्य संगीत तथा काव्य, इन तीन कलाओं का विधान है। इन्हीं तीन कलाओं का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया गया है, मूर्ति और चित्रकला का गौण स्थान है। इसलिए भारतीय सौन्दर्यशास्त्र विषयक अवधारणाएँ उपर्युक्त तीनों कलाओं—रस-ब्रह्मवाद, नाद-ब्रह्मवाद तथा वस्तु-ब्रह्मवाद का निरूपण करती हैं।[1] पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रीय हेगेल ने ललितकलाओं की सूची में मूर्ति और चित्रकला को भी सम्मिलित किया है।"

काव्य, काव्य-सौन्दर्य एवं उसकी अनुभूति के विषय में भारतीय काव्यशास्त्र में अत्यन्त प्रौढ़ विचार उपलब्ध हैं। काव्य-कला के इस विस्तृत एवं गम्भीर वर्णन का कारण इस कला का सर्वश्रेष्ठ माना जाना है। काव्यकला में भी नाट्य को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। नाट्य में सभी कलाएँ अन्तर्निहित हैं।[2] अत नाट्य के सन्दर्भ में ही संगीत, मूर्ति आदि कलाओं का विवेचन भी किया गया है।

भारतीय काव्य चिन्तन की इस परम्परा में—ज्ञान की इस शाखा का आरम्भ में 'अलङ्कारशास्त्र' कहा गया था। आचार्य वामन[3] ने अलङ्कार को सौन्दर्य प्रतिपादित किया है, अत अलङ्कारशास्त्र सौन्दर्यशास्त्र ही है। परन्तु यह सौन्दर्यशास्त्र केवल काव्य के सौन्दर्य से ही सम्बद्ध है। आज हिन्दी में 'सौन्दर्यशास्त्र' शब्द 'एस्थेटिक्स' के पर्याय रूप में प्रयुक्त हो रहा है। अत इस 'सौन्दर्यशास्त्र' में जो अर्थ है उसका समाहार निश्चय ही भारतीय 'अलङ्कारशास्त्र' में नहीं होता। संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रयुक्त 'अलङ्कारशास्त्र' काव्य से ही सम्बद्ध है, अत उसे काव्यशास्त्र ही कहा जाना चाहिये। तब भी, भारतीय काव्यशास्त्र में ललितकलाओं के सौन्दर्य का विधान और विश्लेषण करने वाले तत्वों का आख्यान है। कतिपय काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त

---

१ डा० के० सी० पाण्डेय, कम्परेटिव एस्थेटिक्स, वाल्यूम १, पृ० १

२ न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥
नाट्यशास्त्र १-११७

३ काव्यालंकारसूत्र, १-१२-'सौन्दर्यालंकार'

तो ऐसे हैं जिन्हें सामान्यतः सभी कलाओं के सौन्दर्य का निकष बनाया जा सकता है।

सौन्दर्यशास्त्र और काव्यशास्त्र

आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत ललितकलाओं के सौन्दर्यविधायी तत्त्वों का गंभीर विवेचन किया जाता है। कौन से तत्त्व ललितकलाओं के सौन्दर्य का विधान करते है? उन तत्त्वों का कितना और कैसे समायोजन होता है? कला-सौन्दर्य-विषयक उपर्युक्त जिज्ञासाओं का समाधान करने का प्रयत्न सौन्दर्यशास्त्र करता है। अधुनातन रूप में सौन्दर्यशास्त्र का विकास पाश्चात्य चिन्तन में हुआ है। बाउमगार्तेन से सेंट्सबरी तक सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन की एक दीर्घ परम्परा वहाँ विद्यमान रही है। सौन्दर्यशास्त्र की उपर्युक्त परिभाषा इसी परम्परा का सुचिंतित परिणाम है। इस परिभाषा के अनन्तर यह कहा जा सकता है कि सभी ललितकलाओं के सौन्दर्य से सम्बद्ध होने के कारण सौन्दर्यशास्त्र का क्षेत्र व्यापक है। इसकी तुलना में काव्यशास्त्र का क्षेत्र सीमित है, उसमें केवल काव्य-सौन्दर्य से सम्बद्ध तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन किया जाता है।

सौन्दर्यशास्त्र विषयक हिन्दी ग्रन्थों में प्रत्यक्षतः और काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्रसंगतः काव्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र का अन्तर बतलाया गया है। 'सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व' पुस्तक में काव्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र में एक 'ध्यातव्य अन्तर' यह कहा गया है कि 'सूक्ष्म तात्त्विक सिद्धान्त परिकल्पन' का समावेश काव्यशास्त्र में किन्हीं स्थलों में ही होता है जब कि सौन्दर्यशास्त्र तो इस सूक्ष्म तात्त्विक सिद्धान्त परिकल्पन पर ही आधृत है।[1] परन्तु यह भेदक लक्षण ग्राह्य नहीं है। संस्कृत काव्यशास्त्र को दर्शन-व्याकरणादि के समायोग ने तत्त्वदर्शी बनाया है; रस-व्यंजना, गुण और दोषों का सूक्ष्म विवेचन संस्कृत काव्यशास्त्र की अनन्य विशेषता है, अतएव उसमें तात्त्विक-सिद्धान्त-परिकल्पन' का अभाव कहना प्रमाणसम्मत नहीं है।

श्री डे[2] ने संस्कृत काव्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र में निम्नलिखित अन्तर बतलाये हैं :—

१—काव्यशास्त्र का सम्बन्ध व्याकरण से है जब कि सौन्दर्यशास्त्र का व्याकरण से कोई सम्बन्ध नहीं है।

२—काव्यशास्त्र में कल्पना की प्रक्रिया पर कोई चर्चा नहीं मिलती, हाँ प्रतिभा के प्रसंग में अवश्य कुछ कहा गया है जबकि आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र में कल्पना-विश्लेषण उसका अपरिहार्य अंग है।

---

१. डा० कुमार विमल, सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व, संस्करण १९६७, पृ० ११

२. एस० के० डे, सम प्राब्लेम्स आव संस्कृत पोयटिक्स, सं० १९५९, पृ० ५३

उपर्युक्त भेदों में से प्रथम के सन्दर्भ में यह विचारणीय है कि यद्यपि सौन्दर्य-शास्त्र का व्याकरण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है तथापि काव्यसौन्दर्य की चर्चा के प्रसंग में सौन्दर्यशास्त्र में भी व्याकरण सम्मत आधार ग्रहण किये जायेंगे। जब सौन्दर्यशास्त्र काव्येतर कलाओं पर चर्चा-प्रवृत्त होगा तो तत्तत्कला सन्दर्भीय आधारों का विवेचन करेगा। व्याकरण से सम्बद्ध असम्बद्ध आदि भेद करना वैसा ही है जैसे यह कहना कि चित्रकला का रङ्गों से सम्बन्ध है अथवा मूर्तिकला का पत्थरों से, पर सौदर्यशास्त्र का न तो रङ्गों से न पत्थरों से। अतः यह भेद स्थापन विवेकपूर्ण नहीं कहा जा सकता। स्थापत्य, चित्रकला, संगीतकला आदि से सम्बद्ध जैसे पृथक् पृथक् शास्त्र हैं, व सब अपने अपने विषय के सौन्दर्यविधायी तत्त्वों की विधियों का सांगोपांग विवेचन करते हैं, वैसे ही काव्यशास्त्र काव्यसौंदर्य का विवेचन करता है। सौंदर्यशास्त्र इन सबका विवेचन करता है। जब चित्रकला का विवेचन किया जाता है तो उसकी आधारभूत सामग्री रङ्ग, पट आदि का भी विश्लेषण होता है। जब काव्यसौंदर्य की चर्चा सौंदर्य-शास्त्र में होगी तो शब्द अर्थ की शक्ति और शोभा का तलस्पर्शी विवेचन किया जाता है। श्री डे के कथन का इतना अंश सत्य है कि जिस अर्थ में कल्पना का प्रयोग—विवेचन आधुनिक सौंदर्यशास्त्र में है, उस अर्थ में संस्कृत काव्यशास्त्र में नहीं मिलता। परन्तु 'कल्पना' पद का प्रयोग संस्कृत काव्यशास्त्र में अवश्य है और जिस अर्थ में आधुनिक काव्यशास्त्र में 'कल्पना' पद व्यवहृत हो रहा है उस अर्थ में संस्कृत काव्यशास्त्र में 'प्रतिभा' का व्यवहार होता रहा है। प्रतिभा को ही शक्ति भी कहा गया है। यह शक्ति बीजरूप है जिसके अभाव में काव्य की रचना सम्भव नहीं है।

वस्तुतः संस्कृत काव्यशास्त्र चिन्तन का प्रधान लक्ष्य काव्य ही है। कतिपय विद्वानों की इस धारणा से अवश्य सहमत हुआ जा सकता है कि 'सौन्दर्यशास्त्र काव्य-शास्त्र का ही विकसित और कला चैतन्य से समन्वित रूप है।[१] भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के चिन्तन का मुख्य विषय शब्दार्थ द्वारा व्यक्त वही सौन्दर्य है जो सौन्दर्यशास्त्र का भी मूलभूत आधार है।' जिस प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्र में 'ब्यूटी', 'एक्सेलेन्स', 'सब्लाइम' इत्यादि का अध्ययन पाया जाता है, जो शब्दभेद से सौन्दर्य का ही अध्ययन है उसी प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र में भी सौन्दर्य, चारुता, विच्छित्ति, वक्रता अथवा शोभा का तलस्पर्शी अध्ययन किया गया है।

उपर्युक्त पंक्तियों में 'तलस्पर्शी अध्ययन' की स्वीकृति दी गई है, परन्तु 'तल-स्पर्शी अध्ययन' सूक्ष्म सिद्धान्त परिकल्पक तत्त्वचिंतन के अभाव में सम्भव नहीं है, अतः 'सूक्ष्म सिद्धान्त परिकल्पक तत्त्वचिंतन' को काव्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र का भेदक लक्षण नहीं माना जा सकता।

---

१. डॉ० कुमार विमल, सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व, संस्करण, १९६७, पृ० १६

भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में एक और आधार पर भी अन्तर बतलाया गया है। यह कि भारतीय काव्यशास्त्र रस, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति आदि के द्वारा काव्य के आत्मतत्त्व की गवेषणा में अधिक प्रवृत्त हुआ है, जब कि सौन्दर्यशास्त्र सौन्दर्य के संवेदनात्मक पक्ष को प्रमुखता देता है।[1] यह ठीक है कि काण्ट ने संवेदनाओं के दार्शनिक विवेचन को एस्थेटिक्स कहा है, परन्तु उपर्युक्त कथन का अर्द्धांग भ्रामक है। भारतीय काव्यशास्त्र काव्य के आत्मतत्त्व का विवेचन करते हुए भी संवेदनाओं और आस्वाद, सौन्दर्य और आनन्द का पूर्ण विश्लेषण करता है। रस की संवेदना को अभिनवगुप्त ने स्पष्टतः आनन्दस्वरूप कहा है।[2] भट्टनायक ने भी भोग और आस्वाद का विवेचन किया है। लोल्लट की रससूत्र व्याख्या तो रंगमंच पर घटित विभावानुभावसंचारि की संघटना के ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष पर ही आधारित है। शंकुक का अनुमितिवाद भी ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष को महत्त्व देता है। अतः सौन्दर्य के संवेदनात्मक पक्ष की बात भी संस्कृत काव्यशास्त्र सौन्दर्यशास्त्र का भेदक लक्षण नहीं है। स्पष्टतापूर्वक कहा जा सकता है कि केवल शब्द और अर्थ के माध्यम से उद्भव सौन्दर्य का सांगोपांग विवेचन करने वाला शास्त्र काव्यशास्त्र है—यहाँ शास्त्र का अर्थ 'शसनात् शास्त्र' अर्थात् 'अभिशसन करने वाला' ही है और सभी ललित कलाओं के सौन्दर्यविधायी तत्त्वों तथा सौन्दर्यानन्द का सूक्ष्म विवेचन सौन्दर्यशास्त्र है। अतएव काव्यशास्त्र भी सौन्दर्यशास्त्र है पर केवल काव्यसौन्दर्य से सम्बद्ध। उसे व्यापक सौन्दर्यशास्त्र की एक शाखा कहा जा सकता है। इसका प्रमाण यह है कि कविता का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन किया जा सकता है पर अन्य कलाओं का काव्यशास्त्रीय अध्ययन नहीं हो सकता। सभी कलाओं और काव्य में अंतःसम्बन्ध का सूत्र विद्यमान है, कल्पना का प्रयोग सब में होता है, बिम्ब और प्रतीक सभी कलाओं में महत्त्वपूर्ण साधन हैं, अतः सौन्दर्यशास्त्र के निष्कर्ष काव्य पर भी समान रूप से प्रयुक्त किये जा सकते हैं, अन्य कलाओं की भाँति सौन्दर्य तो काव्य में भी है। इतना ही नहीं भारतीय परम्परा तो काव्य को अन्य कलाओं में वैचक्षण्य प्राप्त करने का साधन भी मानती है—सम्भवतः इसलिए कि काव्य का अध्ययन व्यक्ति में हृदयवैशद्यता उत्पन्न करता है। आचार्य भामह ने लिखा है—'उत्तम काव्य की रचना धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चारों पुरुषार्थों तथा समस्त कलाओं में निपुणता और कीर्ति एवं प्रीति अर्थात् आनन्द को उत्पन्न करने वाली होती है'।[3] अन्य कलाएँ जो भारतीय दृष्टि से पृथक्

---

१. डॉ० कुमार विमल, सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व, १९६७, पृ० १६

२. 'अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते'...... अभिनव

३. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्॥ काव्यालङ्कार—भामह

रह गई हैं उसका मूल कारण भारतीय दृष्टि की लक्ष्य के प्रति एकनिष्ठता ही है। एक बात यह भी है कि बहुत-सा प्राचीन साहित्य आज भी अज्ञात है—यह सम्भव है कि अन्य ललितकलाओं से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त साहित्य अभी प्रकाश में ही न आया हो, अस्तु। उपलब्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में जो भी विवेचन सौन्दर्य कला-आस्वादि का मिलता है वह काव्य के सन्दर्भ में ही है—तथापि उनमें सामान्य कला-सौन्दर्य सम्बन्धी निष्कर्ष प्राप्त किए जा सकते हैं।

ध्वनिसिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्रीय निकष

संस्कृत काव्यशास्त्रीय—आलोचना-प्रत्यालोचन परम्परा में आनन्दवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त की शुद्ध काव्यशास्त्रीय पक्ष परीक्षा ही की गई है। रस का सौन्दर्यशास्त्रीय पक्ष उद्घाटित हुआ, ध्वनिसिद्धान्त को भी रस के आलोक में ही देखा गया। प्रकारान्तर से उसे रससिद्धान्त में सम्मिलित कर लेने तक के प्रयत्न किए गए। इस सिद्धान्त की सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्यवत्ता अनादृत ही रही। वस्तुतः भारतीय परम्परा में अब तक भी रससिद्धान्त इस प्रकार छाया रहा कि विद्वानों की दृष्टि न ध्वनि जैसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त की उपेक्षा की। ध्वनिसिद्धान्त के दो पक्ष हैं, परन्तु अब तक विद्वानों की दृष्टि इसके एक ही अंग पर गई। इस सिद्धान्त का सामान्य सौन्दर्यशास्त्रीय पक्ष अनुद्घाटित रहा। हमारी धारणा है कि इस सिद्धान्त का सौन्दर्यसम्बन्धी अंश सभी कलाओं के लिए संगत है। यह अंश वस्तुतः सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्त ही है। यह कला-सौन्दर्य की शाश्वत व्याख्या प्रस्तुत करता है। आनन्दवर्धन ने इस सामान्य कला-सौन्दर्य-सिद्धान्त की स्थापना के अनन्तर, इसका विशेष व्याख्यान काव्य-कला के संदर्भ में किया है। यहाँ इस सिद्धांत के कलामात्र के लिए संगत अंशों का विवेचन किया जा रहा है।

कला-सौन्दर्य की प्रतीयमानता

ध्वनिसिद्धान्त प्रतीयमान अर्थ में सौन्दर्य मानता है, सौन्दर्य को प्रतीयमानता का धर्म कहता है। यह भी कहा जा सकता है कि प्रतीयमान अर्थ ही सौन्दर्य है। प्रतीयमान अर्थ जो वाच्यार्थ से उसी प्रकार भिन्न है जैसे अंगनाओं में लावण्य उनके प्रसिद्ध अवयवों से 'कुछ भिन्न' ही होता है। इस धारणा का समीकरण इस प्रकार बनेगा—

प्रतीयमान अर्थ = लावण्य = सौन्दर्य

अतः आनन्दवर्धन ने सौन्दर्य को प्रतीयमान (suggested) माना है। ध्वनिसिद्धान्त की यही महत्त्वपूर्ण धारणा है जो सौन्दर्यशास्त्रीय निकष प्रस्तुत करती है। सभी कलाओं में सौन्दर्य प्रतीयमान ही होता है और इस प्रतीयमान सौन्दर्य के प्रति उन कलाओं में प्रयुक्त होने वाले माध्यम स्वरूप उपादानों का उपसर्जनीकृत भाव होता है। कला का सौन्दर्य अभिधेय नहीं होता। यदि ऐसा होता तो 'सुन्दर' शब्द में सौन्दर्य की

प्रतीति होनी चाहिए, पर वह नहीं होती। इसके विपरीत मुन्दर दृश्य, मूर्ति अथवा स्थापत्य के सामने होने पर और 'मुन्दर' शब्द का प्रयोग न होने पर भी सौन्दर्य की अनुभूति होती है। काव्य के संदर्भ में अर्थ की प्रतीयमानता तो ध्वनिसिद्धान्त का विषय है ही यहाँ अन्य कलाओं के सम्बन्ध में सौन्दर्य की प्रतीयमानता (कथ्य की प्रतीयमानता) पर कुछ विस्तार से प्रमाण-चर्चा अपेक्षित है।

जैसे काव्य में कथ्य को व्यक्त करने के माध्यम शब्द और अर्थ हैं, वैसे ही अन्य कलाओं में रंग, प्रकाश, छाया, उभार, प्रस्तर आदि हैं। जैसे काव्य में प्रतीयमान अर्थ के प्रति शब्द और वाच्यार्थ की तत्परता होती है वैसे ही रंग, रेखा, प्रकाश, छाया आदि की तत्परता कथ्य के प्रति होती है—ये उपादान स्वयं में लक्ष्य नहीं होते वरन् कथ्य—प्रतीति के साधन हैं—कथ्य इनमें प्रतीयमान (suggested) रहता है। काव्य में प्रयुक्त प्रतीकविम्ब आदि भी प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करते हैं। यह कथ्य कवि की अपनी अनुभूतिस्वरूप होता है—कला में यह अनुभूति प्रतीयमान बन कर व्यक्त होती है। अन्य कलाओं में प्रयुक्त प्रतीकों की भी यही स्थिति है।

कला प्रतीक का वैशिष्ट्य

कला प्रतीक तथा दैनिक जीवन में व्यवहृत प्रतीक में अन्तर है। भाषिक प्रतीक के रूप में शब्द अभिधा द्वारा शासित होता है। जब शब्द कला प्रतीक के रूप में प्रयुक्त होता है तो वह अनुभूति की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति होता है और वह प्रतीक अन्य व्यक्ति में भी संवेदनात्मक उपपादन द्वारा वही अनुभूति जगा सकता है, इस स्थिति में शब्द-व्यापार व्यंजना द्वारा संचालित होता है।

संगीत और प्रतीयमान सौन्दर्य

संगीत इस दृष्टि से शुद्ध कला प्रतीक है क्योंकि संगीतात्मक ध्वनियाँ शब्द-ध्वनियों के विपरीत सम्पूर्ण अभिधार्थ को त्यागकर शुद्ध आभिव्यक्तिक कार्यफलन सम्पादित करती है। इसीलिए कामबेरिए[1] (Combar.en) ने संगीत को अतीन्द्रिय संवेदी जीवन की ऊर्जा का अनुवाद कहा है। कुके (Cooke) ने इस कथन को स्पष्ट करते हुए कहा है 'संगीत मूल अनुभूति को सीधा प्रेषित करता है।[2] संगीत में भाव रूपाकार धारण करता है और पुनः श्रोता में वही भाव उत्पन्न करता है। भाव की यह स्थिति प्रतीयमान ही हो सकती है—अन्यथा नहीं। बीथोवन की ग्लोरिया

---

१. कृष्ण चैतन्य, संस्कृत पोएटिक्स, पृ० १३६, १९६५

२. "Music conveys the naked feeling direct. It is emotion convetred int› form" —Deryck Cooke

—वही

(Gloria) थाम (Theme) का विश्लेषण करते हुए कूक (Cooke) ने कहा है कि परमात्मा का मामप्य और ज्ञान के सम्बन्ध में विचार करते समय उस जिस प्रसन्नता का अनुभव हुआ—वही ग्लोरिया थाम (Gloria) म अभिव्यक्त हुई है। इस अनुभूति के आवेग में बीथोवन आनन्द से उछल पडा होगा या वह चिल्ला पडा होगा तब उसने अनुभूति का विनिमय बियना निवासियों के समक्ष व्यक्त किया था। परन्तु बीथोवन कलाकार था अतः अपनी आवेगपूर्ण प्रसन्नता की अनुभूति का ऊर्जा को क्षणभंगुर मानसिक शक्ति रूप में स्थानान्तरित करके ही शान्त न हुआ वरन् उसे स्थायी, पुनः उत्पन्न करने योग्य रूप में प्रस्तुत किया तथा आनन्द की संगीतमय कृति के रूप में जिसे समस्त विश्व सुन सके। यह वस्तुतः कलाकार द्वारा कलासृजन के पूर्व की अनुभूति है। आनन्दवर्धन ने क्रौञ्चद्वन्द्व आदि श्लोक में इसी तीव्र अनुभूति की चर्चा की है। इसमें एक निष्कर्ष यह भी उपलब्ध होता है कि कलात्मक प्रतीक का चयन अवचेतन का प्रक्रिया नहीं है। यह प्रतीक भावना का प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति कर सकता है पर उसका प्रस्तुतीकरण इस प्रकार होना चाहिये कि वही भाव दूसरों में भी अभिव्यक्त हो। कला का प्रतीक सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्य से समावृत होता है वह केवल भाषिक अर्थ नहीं होता। जिस कलाकार को सम्प्रेषण की महत्ता का ज्ञान है वह प्रतीक को इसी रूप में प्रयुक्त करेगा। यदि वह सम्प्रेषण की आवश्यकता का अनुभव नहीं करता, वह प्रतीकों की इस प्रयोग व्यवस्था को नहीं समझता तो वह केवल अपने आवेग को प्रकट करता है। कूके (Cooke) ने इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए बीथोवन का ही उदाहरण दिया है। ईश्वर की महानता की अनुभूति सृजनात्मक कल्पना द्वारा एक कलाकृति के रूप में सामने आई है—ऐसी कलाकृति, जिसमें संगीत में सम्भावित व्यंजना की शक्ति समाहित है। संगीत में विशिष्ट अवसरों की अनुगूँज होती है। यह अनुगूँज इसके वैशिष्ट्य में नहीं वरन् जातीय गुण में होती है। जातीय मनोदशाओं और भावनाओं को ही यह श्रोता के मन में जाग्रत करता है।[1]

संगीत की प्रसिद्ध संरचनाओं के रचयिताओं ने सूक्ष्मता से मानवीय अनुभूतियों, भावनाओं, मनोदशाओं की सम्भावनाओं का ग्रहण किया है तथा आकस्मिक प्रतीयमानता (suggestion) के द्वारा मानव की इन अंत स्थितियों को उत्प्रेरित किया है।

---

१ The specific occassions which is celebrated is echoed in the music not in its specificity but only in its generic character and in terms of the generic moods and feelings which it tends to arouse in the observer (The Arts and the art of criticism, Greene Princeton University press 3rd edi 1952, page 338)

निश्चय ही संगीत का यह प्रभाव पृथक्-पृथक् ध्वनियों में नहीं है। उनके विशिष्ट समायोजन में प्रतीयमानतः उपस्थित रहता है। अतः इसमें संदेह नहीं रह जाता कि संगीत-सौंदर्य इसी प्रतीयमान प्रभाव (suggested effect) में है। संगीत कलाकार अन्य स्थापत्य कलाकारों की भाँति वैयक्तिकता को प्रस्तुत नहीं कर सकता, वह संगीत की अमूर्त्तता में किसी व्यक्तिविशेष के अथवा घटना के, अथवा वस्तु के विश्वजनीन वैशिष्ट्य को ही व्यक्त करता है। यह अभिव्यक्ति भी प्रतीयमान ही है।[१] अतः कहा जा सकता है कि संगीत का सौंदर्य प्रतीयमान होता है। Eduard Hanslick ने संगीत के सौंदर्य को किसी वाह्य विषय पर निर्भर न मानकर कलात्मक विधि से संयोजित ध्वनियों में माना है। उनके अनुसार मूलतः आनन्ददायी ध्वनियों का संयोजन, उन ध्वनियों का आवर्तन, पुनरावर्तन, उनकी तीव्रता और मन्द्रता ही वह (संगीत सौन्दर्य) है।[२]

Eduard Hanslick के इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि संगीत का सौंदर्य किसी ध्वनि विशेष में नहीं है, कतिपय सांगीतिक ध्वनियों के विशेष संयोजन में है, हाँ इस संरचना में कोई विशेष ध्वनि विशेष प्रभाव उत्पन्न कर सकती है— परन्तु यह प्रभाव अन्य ध्वनियों की सन्निधि के कारण ही संभव है। अतः ध्वनि नहीं, ध्वनियों का कलात्मक संयोजन प्रभाव उत्पन्न करता है। यह प्रभाव प्रतीयमान है, क्योंकि सांगीतिक योजना का प्रभाव किसी ध्वनिविशेष से वाच्य नहीं होता। इसी प्रतीयमान प्रभाव की प्रतीति से श्रोता आनन्द का अनुभव करता है। Eduard Hanslick संगीत सौंदर्य का आधार सांगीतिक विचार (Musical Idea) को मानता है—इतना ही नहीं इसे ही उद्देश्य भी प्रतिपादित करता है। वह संगीत को किसी अनुभूति अथवा विचार का वाहक नहीं मानता।[३]

परन्तु कंठ (Vocal) संगीत Eduard Hanslick के इस मत का समर्थन नहीं करता। इस प्रसंग में डॉ० रामानन्द तिवारी[४] का यह कथन द्रष्टव्य है—'स्वरों के चढ़ाव-उतार उनकी भिन्नताएँ तथा उनकी भंगिमाएँ राग के रूप में अतिशय का विधान करती हैं। ठुमरी आदि के गायन में एक अन्य प्रकार का अतिशय उत्पन्न होता है। खयाल में विलंबित लय के द्वारा भाषा के दो-चार पदों का संगीत के कई गुने स्वरों में विस्तार होता है। ठुमरी में भाषा के दो-चार पद अनेक बार विभिन्न

---

१. The Arts and art criticism, P. 336-337
२. वही० पृ० ३३८
३. मारिस वीत्ज, प्रोब्लेम्स इन एस्थेटिक्स, ३८१
४. डॉ० रामानन्द भारती, साहित्यकला, पृ० ५६

स्वर विधानों के अनुसार गाए जाते हैं। भाषा के इन्हीं पदों के गायन में स्वर-योजना भिन्न होती है। स्वर-योजना की इसी विभिन्नता के द्वारा भाषा के उन्हीं पदों में विभिन्न भाव ठुमरी में व्यंजित किए जाते हैं। उदाहरण के लिए 'नजरिया तोरी लागी बनवारी' यह एक ही पद ठुमरी के गायन में विभिन्न स्वर-योजनाओं के द्वारा क्षोभ, रोष, उपालम्भ, वेदना, हर्ष, आश्चर्य आदि विभिन्न भावों का व्यंजक बन जाता है।' अत कंठ संगीत में तो सौंदर्य व्यंग्य है ही तबला आदि वाद्य यन्त्रों में भी सामान्य स्वरों के अतिरिक्त विशेष भंगिमाएँ और अनुर्ध्वनियाँ होती हैं। निष्कर्षत कहा जा सकता है कि संगीत का सौन्दर्य प्रतीयमान ही होता है।

चित्रकला सौन्दर्य की प्रतीयमानता

चित्रकला और स्थापत्यकला का सौन्दर्य भी निर्मायक आधारभूत उपादानों से पृथक् ही है। शिल्प की प्रक्रिया में यह कला सौंदर्य भी प्रतीयमान होता है। चित्रकला में रङ्गों के विविध प्रयोग विभिन्न व्यंजना करते हैं। प्रत्येक रङ्ग में एक स्वतन्त्र प्रभाव-चेतना व्यंजित होती है। यह ध्यातव्य है कि ऐन्द्रिय चमत्कार अथवा रंग का आधिक्य अथवा तीव्र चमक एक ही बात नहीं है। ऐसे रङ्ग जो आधिक्य अथवा गहराई के बिना ही चमकीले होते हैं, तड़क-भड़क प्रकट करते हैं तथा उनसे छिछलेपन का भाव व्यंजित होता है।[1]

रेमब्राण्ड् (Rambrandt) द्वारा प्रयुक्त रूपान्तरित गहरे वर्ण विविध रङ्ग-छटाओं की व्यञ्जना करते हैं।[2] रङ्गों से सरसता और शुष्कता भी व्यञ्जित होती है। रङ्ग के कुशल प्रयोक्ताओं में यह प्रयोग-वैशिष्ट्य दिखलाई पड़ता है। जैसे कुशल कवि एक व्यञ्जक शब्द द्वारा प्रतीयमान अर्थसौंदर्य की छटा प्रस्तुत करता है, वैसे ही कुशल कलाकार रङ्ग के प्रयोग कर अभिप्रेत भाव की व्यञ्जना करता है। Titian, Constable और (Renoir) आदि कलाकारों के रङ्ग प्रयोगों में सरसता व्यञ्जित होती है। इसके विपरीत (Poussin) जैसे महान् कलाकारों में शुष्कता का भाव प्रमुख है।[3]

---

१ Morris Weitz, Problems in Aesthetics, page 313, Mac Com 1959

२. 'Rembrandts subtly modified dark tones suggest a great variety of colour'—The source book p 313

३ But there is another sense of the word for which we may find a synonym by a figure of speech, in 'juiciness'as some thing opposed to dryness · poussin in a great artist and an important colorist, yet the colour in his picture is almost invariably dry —The source book p 315.

यह आवश्यक नहीं है कि रङ्ग किसी रचना के अनिवार्य अवयव हों। ठोसपन की अभिव्यक्ति प्रकाश अथवा छाया के क्रमिक बढ़ाव द्वारा होती है। लियोनार्डो (Leonardo) और माइकेलेंजलो (Michelangelo) में यह प्रविधि अपने चरमोत्कर्ष पर है। सामान्यतः ठोसपन की व्यञ्जना के लिए इस शिल्प का प्रयोग होता रहा है।[1]

पिअरो (piero) को विशिष्ट रूपरचना में एक ठंडेपन का भाव व्यञ्जित होता है। निश्चय ही यह व्यञ्जना, उसके रेखांकन, रचना तथा अभिव्यक्ति का एकान्वित प्रभाव है। यह प्रभाव सौंदर्य की चरम सीमाओं को व्यञ्जित करता है।[2]

रङ्गों की ही नहीं, रेखाओं की भी अपनी विशिष्ट व्यञ्जना होती है। Botticelli में रेखाएँ गति के प्रभाव को व्यञ्जित करती हैं।[3] कभी-कभी ऐसा भी होता है कि चित्र में कोई कथा अथवा कथांश नहीं होता, भाव अथवा भावांश से संबद्ध कोई अभिव्यक्ति नहीं होती फिर भी उसमें प्रभावित करने की क्षमता होती है—दर्शक को स्वयं मे तल्लीन कर लेने की क्षमता होती है। वह चित्र दर्शक को संहलों आनन्ददायी भावनाओं से आपूरित कर देने की सामर्थ्य रखता है।[4]

चित्रकला-सौंदर्य की व्यञ्जना में महत्वपूर्ण उपादान है उसके अवयवों की संगतता, अर्थात् एक अवयव की दूसरे अवयव से संगतता तथा प्रत्येक अवयव की पूरे चित्र से संगतता। यहाँ पूर्ण चित्र का तात्पर्य एक विचार अथवा अनेक विचारों अथवा रूप रङ्ग, प्रकाश-छाया आदि के एकान्वित प्रभाव से है। अंततः चित्र एक प्रभाव ही है, एक प्रभाव की व्यञ्जना ही चित्र करता है। इस प्रभाव का उद्देश्य कोई विशिष्ट सत्य, भाव अथवा घटना अथवा कोई मनोदशा हो सकती है। सम्पूर्णता के संदर्भ के अभाव में संगतता की कल्पना नहीं की जा सकती और अवयवों की संगतता के अभाव मे पूर्ण की कल्पना नहीं हो सकती। चित्र मे यह संगतता उत्पन्न करना ही प्रतिभा की परीक्षा है, कसौटी है।[5]

---

१. Morris Weitz, Problems in Aesthetics, p. 315.

२. This dominant note of coolness''' to create a distinctive note of the highest esthetic excellence. Ibid page 315

३. वही

४. John. W. Mecou Brea, American Art 1700-1900 p. 69 Edition 1965.

५. Washington Allston, Lectures on Art and poetry p. 70

आधुनिक चित्र कला तो अर्थ की प्रतीयमानता पर ही निर्भर है। अमूर्त (Abstract) कला का सपूर्ण अर्थ प्रतीयमान ही होता है। स्थापत्य और चित्रकला मे शुद्ध अमूर्तीकरण किसी निश्चित भौतिक वस्तु, दृश्य अथवा घटना का सदृशीकरण उपस्थित नही करता।[१] अमूर्तीकरण की प्रविधि म कलाकार पुनर्योजन द्वारा अपने अर्थ को सजेस्ट करता ह।[२] वह अमूत आकार पर निर्भर करने का बाध्य होता है, अदृश्य समार को व्यक्त करने के लिए उसे ऐसा करना ही पडता है, क्योकि ससार उतना ही तो नही है जितना दिखलाई पडता है। रेथवन तथा हज की पुस्तक[३] मे कार्नीवाल के चित्र के रगो और आकारो के पुन सयोजन द्वारा एक दृश्य का बहुरूपदर्शी अनुस्मरण प्रस्तुत किया गया है। यह प्रस्तुतीकरण उत्तेजना को सघन बनाता है। इसी पुस्तक म पृ० ६६ पर एक चित्र एमा भी है जिसका अर्थ शब्दो में नही कहा जा सकता परन्तु इससे वक्र और स्वच्छ आकृतियो के प्रति रुचि व्यक्त होती है।

अमूर्तीकरण की समस्त प्रक्रिया प्रतीयमानता पर आधृत है। पिकासो का 'आर्क आव मोशन' (Arc of motion) इसी दिशा मे किया गया प्रयत्न था।[४] ध्वनि को आँख से देखा नही जा सकता कोई अनुकरणात्मक प्रक्रिया भी ऐसी नही जिसके द्वारा इसे उपस्थित किया जा सके। अत जो चित्रकार इसे सजेस्ट करना चाहता है उसे वैज्ञानिक प्रमाणो पर ही निर्भर करना होगा। इसी पुस्तक मे (रेथवन और हेज) एक चित्र का परिचय[५] देते हुए 'अनुगूज (echoed) पद का प्रयोग किया गया है। वस्तुत यह चित्र कोहरे से आवृत जल की अनुभूति है। जिसने इस घटना को भोगा है। वह जानता है कि अगम्य शीलन से कोहरे के शृङ्ग कैसे नि सृत होते हैं। इस चित्र मे मेगाफोन जैसे अमूर्त आकारो मे यही अनुभूति गुजित होती है।

एलग्जेंडर कल्डेर (Alexandar Calder) ने अमूर्त कला विषयक अनुभूति को व्यक्त करते हुए लिखा है—'जब मैंने स्फीयर (Sphere) तथा डिस्क (disc)

---

१ The Arts and the art of criticism. Greene, Princeton Uni Press 3edi 1952 p 92-93

२ Rathbun and Hayes, Layman's guide to modern art p 76 Fourth edition 1957

३ Ibid

४ Rathbun and Hayes, Layman's guide to modern art p 89

५ Ibid

का उपयोग किया तो मेरी यह इच्छा रही है कि वे जो कुछ हैं उससे अधिक व्यक्त करें। वैसे ही जैसे पृथ्वी एक गोला है, परन्तु इसके बाहर, इसके चारों ओर कुछ मीलों तक गैसीय पदार्थों का वृत्त है, इस पर ज्वालामुखी है, चन्द्रमा इसके चतुर्दिक् चक्र लगाता है। सूर्य एक गोला है पर साथ हो वह ताप का स्रोत भी है, जिसे हजारों मील दूर से अनुभव किया जाता है। एक लकड़ी का गोला अथवा धातु की डिस्क (d sc) जब तक 'कुछ और' व्यक्त न करे मात्र निर्जीव वस्तुएँ है।[1]

अतः अमूर्त कला का अर्थ अनुभव किया जा सकता है, वह प्रतीयमान होता है।

रेखा भी व्यंजक होती है।[2] विशेष विधि से खींचे जाने पर वह विशिष्ट अर्थ व्यक्त करती है। एक कलाकार अपनी रुचि के अनुसार वस्तु तथ्य में अन्तर उत्पन्न कर देता है। कलाकार प्रकृत सत्य में सरलीकरण (Simplification) परिवर्तन (Alteration), पुनः संयोजन (Reorgan'zation), आविष्करण (Invention) आदि अन्तर उपस्थित करता है। इस परिवर्तन का हेतु कलाकार का वह अदृश्य 'कुछ' है जिसे वह अनुभव तो करता है पर देख नहीं पाता। उपर्युक्त विधियों द्वारा उस अनुभूत किन्तु अदृश्य 'कुछ' को व्यक्त करता है। अभिव्यक्ति की इसी अदम्य आकांक्षा मे शिल्प उद्भूत होता है। इसीलिए यह सत्य है कि कलात्मक अभिव्यक्ति अनिवार्यतः शिल्प समन्वित होती है।[3] कला का वास्तविक कार्यफलन अनुभूति की अभिव्यक्ति तथा प्रेषण है।

अतियथार्थवादियों की धारणाओं का मूल आधार एक रूप में से अन्य रूप की उद्भावना है—असत्य से सत्य की उद्भूतता। ऐसे आकार जो अस्तित्व की प्रारम्भिक अवस्था व्यंजित करते हैं, ऐसे जीव जो अज्ञात नक्षत्र के हैं।

प्रभाववादी स्कूल के चित्रकार रेनायर (Rsnoir), मोने (Monet) और पिसारो (Pissaro) रंग के छोटे-छोटे बिन्दुओं के प्रयोग पर बल देकर निरन्तर टिमटिमाहट का प्रभाव उत्पन्न करते हैं।[4]

क्यूबिज्म किसी वस्तु को एक साथ अनेक सम्भव दृष्टिकोणों से देखने का प्रयत्न है। इस विधि में एक रूपाकार को पृथक् कर उसे पुनः नूतन परिप्रेक्ष्य में रखा जाता है—अधिक उत्तेजक परिदृश्य में प्रस्तुत किया जाता है।[5]

---

१. American Art, 1700-1900, p. 209 Edt. 1965

२. Rathbun and Hayes, Layman's guide to modern art p.39

३. Herbert Read, The meaning of art ; p. 262

४ Do. p. 24

५. Herber: Read : The Meaning of Art. p. 407

वृक्षा—उसका सौन्दर्य, रेखाओ-रूपा-सरचनाओ को इस प्रकार प्रस्तुत करने का परिणाम है कि वह एक रूपसपृक्त विचार अथवा भाव सम्पन्न विचार व्यक्त कर सके।

मूर्तिकला-सौन्दर्य

मूर्तिकला म भी वस्तु का बाह्य रूप ही पुन सृजित किया जा सकता है—और यह पुन सृजन एक कलात्मक माध्यम म सम्पन्न भी होना चाहिये। वस्तु के इस कलात्मक अनुवाद मे अनेक परिवर्तन आवश्यक हो जाते हैं। मानव शरीर की पूर्ण ईमानदार प्रतिकृतिस्वरूप मूर्ति म जीवन्त मासलता तथा रक्ताभा निर्जीव माध्यम मे उभरने चाहिये। परन्तु गति आदि का पुन सृजन मूर्तिकला मे सम्भव नही है—यह तो प्रतीयमानत (Suggested) ही दिखलाई जा सकती है। गतिशील मोडेल (Model) के तद्सूचक क्षण को मूर्ति मे उतार कर गति को प्रतीयमान किया जाता है।[1]

उपर्युक्त विवरण से—जिसमे चित्र, सगीत, स्थापत्य तथा मूर्ति कला के सम्बन्ध मे अधिकारी विद्वानो के विचार सप्रमाण उद्धृत किए गए हैं, यह प्रमाणित होता है कि कला मे कथ्य व्यग्य (प्रतीयमान) बन कर ही अभिव्यक्त होता है। आधुनिक पाश्चात्य विद्वानो ने काव्यार्थ की प्रतीयमानता को स्वीकार किया है। अग्रेजी कवि—आलोचक एवरक्रोम्बी[2] के मत को इस सन्दर्भ मे डॉ० नगेन्द्र ने उद्धृत किया है—

"इस प्रकार, अनुभूति जैसी अत्यन्त सरल (परिवर्तनशील) वस्तु का अनुवाद भाषा में करना पडता है जिसकी शक्ति स्वभाव से ही अत्यन्त सीमित है। अतएव काव्यकला सदा ही किसी-न-किसी अश मे ध्वनिरूप होती है और काव्यकला का चरम उत्कर्ष है भाषा की इस व्यञ्जनाशक्ति को अधिक व्यापक, प्रभावपूर्ण, प्रत्यक्ष, स्पष्ट तथा सूक्ष्म बनाना। यह व्यञ्जनाशक्ति भाषा की साधारण अर्थविधायिनी (अभिधा) शक्ति की सहायक होती है। भाषा की इसी शक्ति का परिज्ञान कवि का सामान्य व्यक्ति से पृथक् करता है। इसी व्यञ्जना वृत्ति के प्रति सवदनशीलता सहृदय की पहचान है।"

आर० नोवी न वाच्यार्थ से व्यतिरिक्त अर्थ के सन्दर्भ मे विचारो का उल्लेख किया है। उन्होंने प्रमाण स्वरूप पवित्र धर्मग्रन्थो का हवाला देते हुए लिखा है कि यदि वाच्यार्थ ही सब कुछ है तो धर्मग्रन्थो के sensus historicus vel literalis

---

१ ग्रेन, द आर्ट अण्ड आर्ट आव क्रीटीसिज्म, प्रिंसटन यू० नी० प्रेस, दृ० स०
२ ध्वन्यालोक की भूमिका, (आचार्य विश्वेश्वर), पृ० २१

तथा sensus spiritualis आदि वाक्य निरर्थक ही कहे जाएँगे - परन्तु ये वाक्य निरर्थक नहीं हैं, अतः यह स्पष्ट है कि प्रत्येक वाक्य का वाच्य व्यतिरिक्त अन्य अर्थ भी है। अन्य अर्थ विषयक योरोपीय विचार परम्परा और भारतीय विचार-धारा में अन्तर इसलिए उत्पन्न हुआ है कि योरोप मे यह विचार शृङ्खला ईश्वरपरक चिन्तन तक ही सीमित रही। यदि यह साहित्य मे भी घटित होती तो परिणाम आनन्दवर्धन के चिन्तन के सदृश ही होते।[1]

उपर्युक्त मतो एवं उद्धरणों से यह प्रमाणित होता है कि चित्रकला-मूर्ति-स्थापत्य आदि कलाओं में प्रभाव प्रतीयमान रूप में ही उपस्थित किया जा सकता है और इन कलाओं में यह प्रभाव ही उनका एकान्वित स्वरूप सौन्दर्य है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि, सौन्दर्य प्रतीयमानता में व्यक्त होता है या प्रतीयमान अर्थ ही सौन्दर्य है।

पूर्व पृष्ठों में उद्धृत मत आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रियों के है। अब से हजार वर्ष पूर्व यही स्थापना आनन्दवर्धन ने की थी। उन्होंने शब्द और वाच्यार्थ के अतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ को स्थापित कर उसमें सौन्दर्य माना था। अतएव ध्वनिसिद्धान्त का प्रतीयमान विषयक मत सामान्य सौन्दर्य शास्त्र का सिद्धान्त है, जिसके प्रकाश में सभी कलाओं के सौन्दर्य की व्याख्या सम्भव है।

आनन्दवर्धन का सौन्दर्य विषयक मत

'ध्वन्यालोक' में सौन्दर्य शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। आनन्दवर्धन ने इस अर्थ में 'चारुत्व' शब्द का प्रयोग किया है। 'चारुत्व', चारु की भाववाचक संज्ञा है। कोष में 'चारु' शब्द के सुखद, रमणीय, मनोहर आदि अर्थ दिए गए हैं।[2] अतः आनन्दवर्धन प्रयुक्त 'चारुत्व', सौन्दर्य का ही पर्याय है। चारुत्व की सिद्धि ध्वन्यालोककार के अनुसार प्रतीयमान अर्थ में है, यह प्रतीयमान गुणीभूत भी हो सकता है। प्रतीयमान की छाया से रहित शब्दार्थ (कला) को आनन्दवर्धन काव्य पद का अधिकारी नहीं मानते। उनकी मान्यता के अनुसार व्यंग्य रहित रचना काव्य का अनुकरण है।[3] संसार में कोई वस्तु ऐसी नहीं जो भावादि का विषय न बन सके। और रस-भावादि का विषय बनी वस्तु की अभिव्यक्ति प्रतीयमान ही हो सकती है। इसलिए जहाँ प्रतीयमान का संस्पर्श नहीं, वहाँ, यह मानना होगा कि वस्तु भाव

---

१. आर० नोली, द एसथेटिक एक्सपीरीएन्स अकार्डिंग टू अभिनव गुप्त—दि० सं० १९६८

२. संस्कृत-हिन्दी कोष, पृ० ३७९ आप्टे

३. 'काव्यानुकारो हि असौ : ध्वन्यालोक, (सं० पाठक), पृ० ९

का विषय हो नहीं बनी, वहाँ रचना काव्य कहलाने की अधिकारिणी नहीं है। ऐसी शब्दार्थ-योजना को आनन्दवर्धन ने चित्र संज्ञा से अभिहित किया है।[1]

प्रतीयमान सौन्दर्य की विलक्षणता और उसके स्वरूप का निरूपण आनन्दवर्धन ने प्रथम, तृतीय और चतुर्थ उद्योत में किया है। सर्वप्रथम प्रतीयमान अर्थ के स्वरूप पर विचार करना संगत है। इस विषय से सम्बद्ध कारिका निम्नलिखित है।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥[2]

उपर्युक्त स्वरूपविधायक श्लोक का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) प्रतीयमानं पुनरन्यदेव (पुनः अन्यत् एव)—प्रतीयमान अर्थ (काव्य) कुछ और ही है। यहाँ अन्यत् और विभेदक है। आनन्दवर्धन अब तक नाना अर्थ छटाओं से प्रतीयमान अर्थ को सर्वथा भिन्न रूप में प्रतिपादित कर रहे हैं। एव का प्रयोग इसके इसी पार्थक्य पर बल देने के लिए है। प्रतीयमान अर्थ शब्द और अर्थ से वैसे ही भिन्न है जैसे रंग प्रस्तर, रेखा आदि से कलाकृति का सौन्दर्य भिन्न होता है।

(२) वस्त्वस्ति वस्तु अस्ति)—निर्भ्रान्त अस्तित्ववान् को वस्तु कहते हैं—प्रतीयमान को वस्तु कहकर उसके होने को निस्सन्देह कहा गया है—वह है, उसके अस्तित्व में शंका का स्थान नहीं है।

(३) वाणीषु महाकविनाम् (महाकवियों की वाणी में) कुशल कलाकारों की कृतियों में प्रतीयमान अर्थ रहता है। महाकवीनाम् का अर्थ यह भी है कि जो प्रयोग जानते हैं—जिनमें प्रतिभा है—ऐसे महान् कलाकारों की अभिव्यक्ति में ही इसका अस्तित्व है। उपादानों की आत्मा से सही प्रयोग से सुपरिचित कलाकार रेखा के लघु वक्र से—संगीत की एक मुर्की से—प्रत्यय अथवा प्रत्ययांश के कुशल प्रयोग से जो प्रभाव अर्जित करते हैं वह अनुभव गम्य है, प्रसिद्ध भी है।

---

१ अयमिदं चित्रं नाम यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शः वही, पृ० ५२६

२ ध्वन्यालोक आ०वि०। पृ० १३ प्र०उ०प्र० वाराणसी ज्ञानमंडल १९६२
प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्याद् वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् यत् तत् सहृदयेषु प्रसिद्धं प्रसिद्धेभ्योऽलङ्कृतेभ्यः प्रतीतेभ्यो वावयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन लावण्यमिवाङ्गनासु। यथा हि अङ्गनासु लावण्यं पृथङ् निर्वर्ण्यमानं निखिलावयवव्यतिरेकि किमप्यन्यदेव सहृदयलोचनामृतं तत्त्वान्तरं तद्वदेव सोऽर्थः।

श्लोक का द्वितीय चरण उदाहरण वाक्य है। प्रतीयमान को कुछ और कहने से उसका अन्य से पार्थक्य तो कथित हो गया, पर वह कैसा है, यह स्पष्ट करने के लिए उदाहरण दिया जा रहा है।

(४ लावण्यमिवाङ्गनासु (लावण्यम् इव अंगनासु --जैसे अंगनाओं में लावण्य। जैसे अंगनाओ में लावण्य (सौन्दर्य) होता है वैसे ही कलाकृतियों में प्रतीयमान अर्थ होता है। यहाँ तुलनीय पक्ष इस प्रकार होंगे—

अंगना = कलाकृति
लावण्य = प्रतीयमान अर्थ

(५) प्रसिद्धावयवातिरिक्तं (प्रसिद्ध अवयव अतिरिक्तं)—प्रसिद्ध (नाक, आँख, मुँह आदि) अवयवों से अतिरिक्त।

अंगनाओं में लावण्य प्रसिद्ध अंगों से पृथक् ही होता है, उन अंगो के सम्मिलित प्रभाव से व्यंजित अवश्य होता है पर यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक अंग लावण्य है अथवा अमुक अग। अंगों से व्यंजित होकर भी वह अंग नही, उनसे व्यतिरिक्त ही है। प्रतीयमान अर्थ शब्द और अर्थ से व्यंजित होता हुआ भी उससे भिन्न है। काव्य के सन्दर्भ में शब्द और वाच्यार्थ अंगनाओ के प्रसिद्ध अंग स्थानी हैं एव प्रतीयमान अर्थ लावण्य स्थानी। चित्रकला के सन्दर्भ में रंग, प्रकाश, छाया, उभार आदि अंग स्थानी है, उनसे व्यंजित प्रभाव प्रतीयमान अर्थ। रंग से व्यजित होकर भी कला का सौन्दर्य रंग नही है, रेखा से व्यजित होकर भी उससे पृथक् है। कलाकार ने अंग की जिस वक्रता द्वारा गति का भाव व्यक्त किया है वह अंग वक्रता गति नहीं है। अतएव प्रतीयमान अर्थ सभी कलाओं मे अपने व्यंजक उपादानो से भिन्न ही होता है।

(६) विभाति (भासित होता है)—विभाति क्रिया द्वारा प्रतीयमान की स्थिति और भी स्पष्ट की गई है। इस सम्बन्ध में एलिएट[१] का कथन विवेचनीय है—'कविता में प्रतीयमान अर्थ एक प्रकाशमान केन्द्र के चतुर्दिक् प्रकाशपुंज-वृत्त के सदृश हैं। जैसे प्रकाशपुंजवृत जगमगाता है वैसे ही प्रतीयमान अर्थ भी प्रकाशित होता है—भासित होता है। इसलिए वह सौन्दर्य भी है। कलाकृति प्रकाशमान केन्द्रवत् हैं, प्रतीयमान अर्थ उससे भासित होता है। विभाति में 'भा' धातु है[२], जिसकी निष्पत्ति (भा+अङ्+टाप्) मे होती

---

१. T. S. Eliot : Ezra Pound, His metric and Poetry (London 1917)

२. आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोष—पृ० ७३४

है। इसका अर्थ है प्रकाश आभा, कान्ति, सौन्दर्य। अत इस प्रमाण से प्रतीयमान अर्थ की सौन्दर्यवत्ता भी प्रमाणित होती है। सौन्दर्य की, भाव की, रस की यह प्रतीयमानता सभी ललितकलाओं का सार्वभौम तत्त्व है। इसीलिए यह प्रतिज्ञा प्रस्तुत की गई थी कि ध्वनिसिद्धान्त के निष्कर्ष केवल काव्य म ही सम्बद्ध नही हैं वे सभी ललितकलाओं के लिए उपयुक्त हैं।

कथ्य की प्रतीयमानता ही सौन्दर्य का आधार

आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ मे ही सौन्दर्य माना है। इतना ही नही ऐसे वर्णन भी जो बहुप्रयुक्त होने के कारण अपना सौन्दर्य खो चुके हैं प्रतीयमान सौन्दर्य के संस्पर्श से नूतनता मण्डित होकर प्रकाशमान हो उठते हैं—

'अनया सुप्रसिद्धोऽप्यर्थः किमपि कामनीयकमानीयते'[१]।

इस पंक्ति मे दो शब्द विचारणीय हैं 'किमपि' तथा 'कामनीयकम्'। प्रथम पद का अर्थ कुछ है जो अन्य सौन्दर्य कहे जाने वाले तत्त्व से 'प्रतीयमान अर्थ जनित सौन्दर्य' की विशिष्टता प्रतिपादित करता है और 'कामनीयकम्' यहाँ सौन्दर्य का पर्याय है। चित्रकला एवं अन्य कलाओं म भी भाव अथवा अर्थ की प्रतीयमानता मे सौन्दर्य रहता है। आनन्दवर्धन ने इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित कारिका दी है—

मुख्या महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्॥३८॥[२]

अलंकार आदि से सज्जित होने पर भी जैसे लज्जा ही कुलवधुओं का मुख्य शोभाकारक (अलंकार) होती है उसी प्रकार वाच्य-वाचक पर आधृत अलंकारों से युक्त होने पर भी महाकवियों की वाणी मे प्रतीयमान की छाया ही उसका मुख्य अलंकार (शोभाकारक) है। इस प्रकार आनन्दवर्धन सौन्दर्य का कारण प्रतीयमान अर्थ की उपस्थिति को मानते हैं। अन्य कलाओं मे जीवतता उत्पन्न करने वाला तत्त्व यही है।

आनन्दवर्धन के अनुसार अलंकार अगरूप शब्द और वाच्यार्थ के द्वारा ही प्रतीयमान अर्थ सौन्दर्य का उपकार करते हैं। संगीत में भी मीड, तान, आलाप आदि अलंकार का कार्य करते हैं, भाव के उपकारक हैं। मूर्ति इत्यादि मे यदि कोई प्रतीयमान भावच्छाया नहीं है तो भी उसे मूर्ति तो कहेंगे ही, उसमे रंग भी होगा,

---

१ ध्वन्यालोक (आ० वि०) पृ० २९७ सू० ३
२ वही

पर यदि उसमें भाव भी प्रतीयमान है तो उसकी शोभा कुछ और ही होगी तथा दर्शक चमत्कृत होकर आनन्द का अनुभव कर सकेगा। अतएव वाच्य पर आधृत अलंकारादि से चमत्कृत करने वाला सौन्दय उत्पन्न नहीं होता। केवल रंग प्रयोग से अथवा संगीत के सदर्भ में, केवल तान और पलटों से चित्र को चमत्कृत करने वाले सौन्दर्य की प्रतीति संभव नहीं है—वह तो प्रतीयमान भाव के संस्पर्श से ही सम्भव है —

वाच्यालंकारवर्गोऽयं व्यङ्ग्याभानुगमे सति ।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते ॥३७॥[1]

प्रतीयमान अर्थ ही जब प्रधान होता है तो उस काव्य को 'ध्वनि' कहा गया है। अन्य कलाओं में भी सहृदय को तल्लीन कर देने वाला तत्त्व यही प्रतीयमान अर्थ है। अतएव जो उत्तम कलाकृति का निर्माण करना चाहता है—अथवा उत्तम कलाकृति को समझना चाहते हैं उसे इस अपूर्व तत्त्व को समझना ही होगा—

इत्युक्तलक्षणो यो ध्वनिर्विवेच्यः प्रयत्नतः सद्भिः ।
सत्काव्यं कर्तुं वा ज्ञातुं वा सम्यगभियुक्तैः ॥४६॥

'अर्थात् उत्तम काव्य को बनाने अथवा समझने के लिए प्रस्तुत सज्जनों को इस प्रकार जिस ध्वनि का लक्षण किया गया है उसका प्रयत्नपूर्वक विवेचन करना चाहिये।'[2]

नूतनता की प्रतीति

यह प्रतीयमान सौन्दर्य नूतन । की प्रतीति कराता है। किसी वस्तु में नूतनता की प्रतीति चित्त को आकर्षित करती है—चमत्कृत करती है और ऐसी वस्तु जो आनन्द दे अवश्य ही सुन्दर है। जार्ज सन्टायना ने स्पष्ट कहा है कि सौन्दर्य वह है जो देखने वाले को आनन्द दे। प्राचीन अर्थ भी गुणीभूत व्यंग्य अथवा व्यंग्य के स्पर्श से नवत्व को प्राप्त होता है। एक ही विषय पर अनेक चित्र देखने में आते हैं—उनका नवत्व कलाकार द्वारा प्रतिष्ठित प्रतीयमान अर्थ पर ही निर्भर करता है। एक ही राग भिन्न-भिन्न कलाकारों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, श्रोता उसे सुनते हैं। कलाकारों द्वारा प्रस्तुत प्रतीयमान भाव के कारण ही बार-बार सुना हुआ राग नूतन प्रतीत होता है। इस सत्य का उद्‌घाटन आनन्दवर्धन ने किया था –

अतो हि अन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता ।
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि ॥

---

१. ध्वन्यालोकः, (आ० वि०), पृ० २९०, तृ० ३
२. ध्वन्यालोकः, (आ० वि०) तृ० ती० उद्योत ४६ कारिका
३. „ „ „ २ कारिका पृ० ३३६

कवि प्रतिभा की अनन्तता—

इस प्रकार से इस ध्वनिमार्ग से कवियों की प्रतिभा अनन्तता को प्राप्त करती है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि प्रतीयमान अर्थ और प्रतिभा व्यधिकरण धर्म हैं—प्रतीयमान अर्थ काव्य में रहता है, प्रतिभा कवि में। तब काव्यनिष्ठ प्रतीयमान अर्थ कविनिष्ठ प्रतिभा का आनन्त्य-हेतु कैसे हो सकता है। आनन्दवर्धन ने इस शंका का समाधान प्रतीयमान अर्थ में ज्ञान को प्रतिभा का हेतु मानकर किया है—

ध्वनेर्यः स गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शितः ।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः ॥१॥[1]

उपर्युक्त कथन को स्पष्ट करने के लिए आनन्दवर्धन ने अनेक उदाहरण दिये हैं। यहाँ एक उदाहरण द्रष्टव्य है। निम्नलिखित दो श्लोकों में कथ्य लगभग समान है तब भी प्रथम में विशेष पदों के प्रयोग से कुछ और चमत्कार उत्पन्न हो गया है—

(१) स्मितं किञ्चिन्मुग्धं तरलमधुरो दृष्टिविभवः,
परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोर्मिसरसः ।
गतानामारम्भः किसलयितलीलापरिमलः,
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव हि न रम्यं मृगदृशः ॥[2]

नवयौवना का स्पर्श करने वाली, मृगनयनी की तनिक-सी मधुर मुसकान, चंचल और मुग्धक्षण मीठी दृष्टि का सौन्दर्य, नवीन (विलास) पूर्ण उक्तियों से सरस वाणी का प्रयोग, विविध हाव-भावों को विकसित करने वाली गतियों का उपक्रम (आदि में से) कौन-सी चीज मनोहर नहीं है, (सभी कुछ सुन्दर और रमणीय है)

(२) सविभ्रमस्मितोद्भेदा लोलाक्ष्यः प्रस्खलद्गिरः ।
नितम्बालसगामिन्यः कामिन्यः कस्य न प्रियाः ॥[3]

विभ्रम (शृङ्गारचेष्टा विशेष) से युक्त, जिनकी मन्द मुसकान खिल रही है, आँखें चञ्चल और वाणी लड़खड़ा रही है, और नितम्बों (के अतिभार) के कारण जो धीरे-धीरे चलने वाली कामिनियाँ हैं वे किसे प्रिय नहीं लगतीं हैं।

द्वितीय श्लोक पहले लिखा गया है—प्रथम बाद में, दोनों का कथ्य एक-सा है। परन्तु प्रथम श्लोक में 'मुग्ध', मधुर, विभव, परिस्पन्द, सरस, किसलयित,

---

१ ध्वन्यालोक (आ० वि०) सू० तो० उद्योत, १ पृ० ३३६
२ ध्वन्यालोक (आ० वि०) च० उ० पृ० ३३७
३ „ „ „ „

परिकर, आदि पदों में उनके मुख्यार्थ अत्यन्त बाधित होने से लक्षणामूला अत्यन्त-तिरस्कृत वाच्यध्वनि के सम्बन्ध से नवीन ही चारुत्व प्रतीत होता है। यहाँ मधुर पद से सौंदर्यातिरेक, मुग्ध पद से सकलसहृदय-हरणक्षमत्व, विभव पद से अविच्छिन्न सौन्दर्य, परिस्पन्द शब्द से लज्जापूर्वक मन्दोच्चारणजन्य चारुता, सरस पद से तृप्तिजन-कत्व, किसलय पद से सन्तापोपशमकत्व; परिकर पद से अपरिमितता और स्पर्श पद से स्पृहणीयतमत्व आदि प्रतीयमानों के वैशिष्ट्य से प्राचीन अर्थ भी नवीन हो उठा है।

इसी कथन को और उदाहरण देकर कहा गया है कि जैसे वसंत ऋतु को पाकर वृक्ष सौंदर्य से संवलित हो उठते हैं वैसे ही प्रतीयमान रस के स्पर्श से पूर्वदृष्ट पदार्थ भी नये से प्रतीत होते हैं—

दृष्टपूर्वा अपि हि अर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥४॥[1]

रमणीय अर्थों की अनन्तता (प्रतिभा की अपरिहार्यता)

ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य (अर्थात् प्रतीयमान सौन्दर्य) के मार्ग के ज्ञान से कवि की प्रतिभा ही आनन्त्य को प्राप्त नहीं होती वरन् काव्य के वर्णनीय रमणीय विषय भी सीमातीत हो जाते हैं, वे कभी समाप्त ही नहीं होते। हाँ, कवि में प्रतिभा होना आवश्यक है —

ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च समाश्रयात्।
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभागुणः ॥६॥

'यदि (कवि मे) प्रतिभागुण हो तो इस प्रकार ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के आश्रय से काव्य के (वर्णनीय रमणीय) अर्थों का कभी समाप्ति हो नहीं हो सकती।' वृत्ति में प्रतिभा की अपरिहार्यता पर विचार करते हुए आनन्दवर्धन ने कहा है कि प्रतिभा के न रहने पर तो कवि के पास कोई वस्तु है ही नहीं जिससे वह अपूर्व चमत्कारयुक्त काव्य का निर्माण कर सके। ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य के अनुरूप शब्दों के सन्निवेशरूप रचना का सौन्दर्य भी अर्थ की प्रतिभा के अभाव में कैसे आ सकता है।

प्रतीयमानता रम्य की कसौटी

"पूर्वोक्त परिच्छेद में 'रमणीय' अर्थ के आनन्त्य की चर्चा की गई है—तब रम्य क्या है? इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है—जिस वस्तु के विषय में सहृदयों को ऐसा अनुभव हो कि 'यह कोई नयी सूझ है—उद्भावना है, वह वस्तु नयी या पुरानी जो भी हो—रम्य है।"

---

१. ध्वन्यालोकः (आ० वि०) चतु० उ० पृ०, ३४१

यदपि तदपि रम्य यत्र लोकस्य किंचित् ।
स्फुरितमिदमितीय बुद्धिरभ्युज्जिहीते ॥

जो कवि दूसरो क द्वारा वणित वस्तु क प्रति निस्पृह होन हैं, देवी भागवती उनके लिए स्वय यथेष्ट वस्तु उपस्थित कर देती है ।

सौन्दर्य का आधान

सौन्दय कहाँ है ? यह वस्तु म निहित और द्रष्टा को आकर्षित करन वाला गुण है अथवा पूणत द्रष्टा की भावना पर आधृत द्रष्टा की अपेक्षा स अस्तित्ववान् तत्त्व है । इस दृष्टि से सौन्दय पर विचार करन की एक निश्चित परम्परा भारत और यूरोप दोनो मे विद्यमान है ।

यूराप म प्लेटो स लकर अद्यावधि सौन्दर्य की वस्तु अथवा विषयिनिष्ठता के विषय म तीन विचारधाराएँ प्रचलित रहा हैं । ज्ञान और आनन्द की वरेण्यता के प्रसग म प्लेटो[1] ने सौंदय की समस्या पर भी विचार व्यक्त किए हैं । उनकी दृष्टि मे सुन्दर वस्तु स—आतरिक रूप म—प्राप्त अनुभव ही शुद्ध आनन्द है । इस प्रसग में प्लेटो न ज्यामितीय आकृतियो, रङ्गो और सागीतिक ध्वनियो का उदाहरण दिया है और सौंदय को वस्तुनिष्ठ धर्म प्रतिपादित किया । इस प्रतिपादन के अनुसार सौंदर्य सरचना का गुण है, वह अवयवो का अत सगतता मे रहता है ।

अरस्तू न एक कलारूप-त्रासदी-पर विचार किया है तथा सौंदर्य सम्बन्धी उनकी धारणाएँ प्रासगिक हैं । प्लाटिनस की सौंदय चचा अध्यात्म और आदश-वादिता स आक्रान्त है । उसके अनुसार सौंदर्य केवल सरचनात्मक गुण-धर्म नही है । वह स्वय म सम्मिति (symmetry) नही है, वरन् सम्मिति को विकीर्ण करता है । सौन्दर्य वस्तु क अवयवो का गुण नही है, वह पूर्ण वस्तु है, पूण प्रभाव है ।

सौंदर्य चिन्तन की दृष्टि स नव क्लासिकल युग महत्त्वपूर्ण है । इस युग के एतद्विषयक चिन्तन को निम्नलिखित बिन्दुओ[2] म सूत्रबद्ध किया जा सकता है—

१—सौन्दर्य वस्तुनिष्ठ धम है ।
२—सौंदय कलात्मकता स प्राप्त किया जा सकता है ।
३—सौंदर्य विश्लेषण स ज्ञेय है ।
४—सौंदर्य प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है जिसे आनन्द अथवा आह्लाद कहा जा सकता है ।

---

१ एनसाइक्लोपीडिया आव फिलोसफी, वाल्यूम १ पृ० २६३
२ एनसाइक्लोपीडिया आव फिलोसफी, वाल्यूम १ पृ० २६४

अठारहवीं शती में सौंदर्यशास्त्र एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में विकसित हुआ। सौंदर्य-गुणों को बहिर्जगत् में देखने की अपेक्षा द्रष्टा के अनुभवों के परीक्षणों को महत्त्व दिया गया। उन परिस्थितियों का विश्लेषण किया गया जिनमें कलागत सौंदर्य का प्रशंसन होता है। ताटस्थ्य (Disinterestedness) को निर्णायक स्थिति कहा गया। फ्रांसिस हुचेन (Francis Hutchen, 1726) ने 'सौंदर्य को मानस में उत्पन्न विचारों का ज्ञापक' कहा है। सौंदर्य की परम्परागत परिभाषा 'अनेकता में एकता' (unity in variety) को अर्थहीन घोषित किया गया, क्योंकि इसकी व्याप्ति सुन्दर से इतर वस्तुओं में भी है।

प्रसिद्ध जर्मन सौंदर्यशास्त्री काण्ट (Kant, 1724-1804) ने सौंदर्य और उदात्त sublime) विषयक अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इस सिद्धान्त के अनुसार सौंदर्यात्मक निर्णय प्रमाता (subject) की दुःख-सुखात्मक अनुभूति का कथन है।[१] यह एक ऐसा निर्णय है जिसकी निर्धारक भूमि विषयिपरकता के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकती। इस आधार पर यही कहा जा सकता है कि काण्ट सौंदर्य की अनुभूति को विषयिपरक मानते हैं।

शिलर ने सौंदर्य को वस्तुनिष्ठ माना है।[२] सौंदर्य के द्वारा ही मनुष्य अपनी मनुष्यता को पहचानता है—स्वतन्त्रता का अनुभव करता है।

हेगेल की मान्यता है कि सुन्दर वस्तु विशेषरूप से स्वातन्त्र्य का पूर्ण प्रतिमान है, आत्मा का सार है, क्योंकि इसका मूर्त रूप इसी में (सौंदर्य में) प्रकट होता है।[३]

उन्नीसवीं शताब्दी में सौंदर्य की विषयिनिष्ठता पर बल दिया जाने लगा। टाल्सटाय इस मत के प्रबल पोषक थे। इनके मत की विशेष चर्चा आगे प्रस्तुत की जायेगी। इसी शती में जार्ज सन्तायन (Georg Santayana) सौंदर्य की वस्तुनिष्ठता के प्रतिपादक थे। सन्तायन ने सौंदर्य को वस्तु का आंतरिक गुण माना। द्रष्टा को आनन्द देना सौंदर्य का अनिवार्य धर्म है। सौंदर्य स्वयं में पूर्ण है, महत्त्वपूर्ण है, वह मानसिक आकांक्षाओं की पूर्ति करता है। सौंदर्य घनात्मक

---

१. Aesthetics from classifical Greece to the present p. 212 by Monroe. C. Beardsley I ed. 1966 Mac. Com. Newyork.

२. Ibid p. 228

३. Ibid p. 237

मूल्य है, तात्विक और वस्तुरूप है।[1] हर्बट रीड[2] के अनुसार भी सौंदर्य आनन्द का स्रोत है।

'इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि यूरोपीय चिंतन परम्परा में सौंदर्य की वस्तुनिष्ठता और विषयिनिष्ठता को लेकर पर्याप्त ऊहापोह रही है। परन्तु वस्तुस्थिति क्या है ? क्या सौंदर्य एकान्तरूप से विषयिपरक (sub ective) है ? इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए टाल्सटाय के मत में चर्चा प्रारम्भ की जा रही है।'

टाल्स्टाय का कलाविषयक मत

टाल्स्टाय कला को भावा-अनुभूतियों का सप्रेषण मानते हैं। कलाकार कोई कहानी कहता है, गीत रचता है, चित्र बनाता है— तो इसीलिए कि वह अपनी अनुभूति को दूसरों तक पहुँचाना चाहता है। क्राचे के मत में और इस मत में अन्तर है। क्राचे कला को अभिव्यक्ति मानते हैं, टाल्स्टाय के अनुसार यह अनुभूति की अभिव्यक्ति सप्रेषित भी होनी चाहिये। यदि कलाकृति सप्रेषण नहीं कर पाती तो वह निर्बल है।[3] इस मान्यता में प्रमाता की ग्रहणशीलता अन्तर्निहित है। इससे यह निष्कर्ष भी सम्पादित होता है कि कला की मूल्यवत्ता उसके किसी मौलिक गुण पर नहीं अपितु कलाजन्य अनुभूतियों पर आधृत है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कला का सौंदर्य वस्तुनिष्ठ नहीं—वस्तु का मौलिक गुण नहीं, वरन् भावात्मक प्रभाव में है। इस प्रभाव का मूल्यांकन उस व्यक्ति की अनुभूतियों में है जो इसका प्रशंसन करता है। जितने अधिक व्यक्ति किसी कलाकृति की प्रशंसा करते हैं, वह कलाकृति उतनी ही सुन्दर है। टाल्सटाय अपने मत की पुष्टि में कहते हैं कि एक रशियन लोकगीत शेक्सपीयर के हेमलेट की अपेक्षा अधिक सुन्दर है, श्रेष्ठ है।

उपर्युक्त मत भावनाओं का मात्रात्मक निकष प्रस्तुत करता है। क्योंकि इस मत के अनुसार एक वस्तु को दूसरी वस्तु से श्रेष्ठ अथवा सुन्दर कहने का अभिप्राय यह होगा कि प्रथम वस्तु द्वितीय की अपेक्षा अधिक भावनाओं का, अधिक व्यक्तियों में सप्रेषित करती है।[4] परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि 'अधिक' भावनाएँ सौंदर्यात्मक दृष्टि से मूल्यवान् हों, क्योंकि सप्रेषित भावनाओं से इतर सौंदर्यात्मक मूल्य स्वीकार ही नहीं किया गया है। अतः सौंदर्य का निकष आनन्दात्मक अनुभूति की वह मात्रा

---

१ 'Le.uty is a value positive, intrinsic and objectified'
The sense of beauty p 49

२ Herbert Red, Meaning of art p 20

३ Aesthet cs from classical Greece to the present p 311

४ Aes hetics rom class cal Creece to the presert p 310

है जो द्रष्टा में उत्पन्न होती है। इससे यह निष्पत्ति भी होती है कि वही कलात्मक वस्तु श्रेष्ठ है जो अधिकतम पसन्द की जाती है।[1]

परन्तु कोई व्यक्ति किस वस्तु को पसन्द करता है और कौन-सी वस्तु अच्छी है, इसमें भेद करना आवश्यक है। रुचि के अभाव के कारण बहुत से व्यक्ति उस वस्तु का प्रशंसन नहीं कर पाते जिसे वे अच्छा समझते हैं। टाल्स्टाय ने अपने विवेचन में इस बात का विवेक नहीं रखा। उनके अनुसार 'पसन्द करना' और 'अच्छा समझना' में भेद नहीं है। वस्तुतः टाल्स्टाय का सिद्धान्त उस हेडोनिस्ट मत का पूरक है जिसमें 'चाहने योग्य' और 'चाहे गए' में भेद नहीं माना जाता। परन्तु, सौन्दर्य-शास्त्र में 'आपको इसे पसन्द करना चाहिये क्योंकि यह सुन्दर है' जैसे वाक्य का कोई अर्थ नहीं है।[2]

सौन्दर्यशास्त्र के इतिहास में ऐसे अनेक सिद्धान्त हैं जो व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के मानस पर पड़ने वाले प्रभाव को सौन्दर्य का निकष प्रतिपादित करते हैं। अथवा ये सिद्धान्त वस्तु और द्रष्टा—मानस के सम्बन्ध को सौन्दर्य का निकष सिद्ध करते हैं। ये सिद्धान्त प्रकारांतर से टाल्स्टाय के मत के ही रूपांतर हैं। सी० ई० एम० जोड[3] ने इन विचारणाओं में निम्नांकित त्रुटियों का निर्देश किया है—

(क) इन मान्यताओं के अनुसार कला का मूल्य—अंततः उन भावनाओं मे है जो वह द्रष्टा में जाग्रत करती है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि व्यक्तियों की गणना की जाए। इसे एक उदाहरण से स्पष्ट करना उचित होगा। हम बाख फ्युग्ये (Bach Fugue) का परीक्षण करें—यह कला का [illegible] उदाहरण कहा जाता है, इसे हम 'अ' कहेंगे। अब एक सामान्य बैलो (alley) 'ब' लें, 'अ' की अपेक्षा 'ब' अधिक व्यक्तियों में आनन्दयुक्त अनुभूतियाँ जाग्रत करता है, पर इससे यह निष्कर्ष कैसे निकाला जा सकता है कि 'ब', 'अ' की अपेक्षा श्रेष्ठ है। क्योंकि 'अ' से प्रभावित होने वाले व्यक्ति, 'ब' से प्रभावित होने वालों की अपेक्षा कला का विवेक करने में अधिक समर्थ हैं। ऐसे व्यक्ति जिन्होंने कला को, संगीत की साधना में जीवन लगा दिया है 'अ' को श्रेष्ठ कहते हैं। अतः कहा जा सकता है कि परिपक्व रुचि-सम्पन्न व्यक्ति 'अ' को अच्छा कहते हैं इसलिए वह श्रेष्ठ है।

---

१. Elisco Vivas and Murray : The problems of Aesthetics; Krieger. p. 46

२. Elisco Vivas and Krieger. The Problems of Aesthetics, p. 465

३ Ibid.

उपर्युक्त तर्क का निष्कर्ष यह है—

(१) 'अ' कलाकृति उन व्यक्तियों द्वारा पसन्द की जाती है जो निर्णय करने के अधिकारी हैं। 'अ' इन व्यक्तियों द्वारा अधिक समय तक पसन्द किया जाता रहा', अभी भी किया जाता है जब कि 'ब' विस्मृत कर दिया गया है। अत कहा जा सकता है कि उपयुक्त रुचि-सम्पन्न व्यक्तियों में अधिक समय तक आनन्दात्मक भावनाएँ जाग्रत करने की सामर्थ्य के कारण कोई वस्तु सुन्दर है। परन्तु यह कहा जा सकता है कि रुचिसम्पन्न विशेषज्ञ का मत कोई महत्त्व नहीं रखता, क्योंकि प्रत्येक पीढ़ी के विशेषज्ञ भिन्न-भिन्न मत रखते हैं। एक पीढ़ी का सत्य अगली पीढ़ी के लिये असत्य बन जाता है।

तब हम विशेषज्ञ का निर्णय कैसे करें ? तथा किन व्यक्तियों के मत को सौन्दर्य का निकष निर्धारित करें ? इस प्रकार रुचिसम्पन्नता के गुण को प्रमाणित करने के निकष में दोष उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि रुचिसम्पन्नता का गुण, निर्णय के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। तब यह मत प्रकारांतर से सौन्दर्य की उसी विषयिपरकता का पुन. कथन हो जाता है।

(ख) एक और मत के अनुसार सौन्दर्यात्मक मूल्य किसी व्यक्ति के शरीर अथवा मानस पर पड़ने वाले प्रभाव के निकष पर नहीं आँका जा सकता, सौन्दर्यात्मक-मूल्य, वस्तुत ज्ञेय वस्तु और ज्ञाता मानस में स्थित सम्बन्ध का गुण है।

यदि 'अ' एक चित्र है, 'ब' प्रशंसन करने वाला मानस है, 'स' वह सम्बन्ध है जब 'ब' 'अ' को जान रहा है। इस स्थिति मे सौन्दर्यात्मक मूल्य—

(१) 'अ' का गुण नहीं है।

(२) 'ब' का गुण नहीं है—ब' का गुण मानने पर वह अशोधित विषयिपरक मत ही होगा।

(३) अत वह 'स' का गुण है।

ज्ञान के आइडियलिस्टिक सिद्धान्त मे इस प्रकार के कथन पुन-पुन कहे जाते रहे हैं।

बहुत से व्यक्तियों को यह अकल्पनीय प्रतीत होगा कि वस्तुओं की इस सृष्टि मे भी सौन्दर्य है जो किसी मानस द्वारा कभी देखा नहीं गया है। अर्थात् उनके अनुसार वस्तु सौन्दर्य को प्रशंसक प्रमाता से निरपेक्ष नहीं माना जा सकता। यदि ज्ञान के अभाव मे भी कोई वस्तु अस्तित्ववान् है, तो वह ज्ञान की प्रक्रिया में स्थानान्तरित होगी और ज्ञान का विषय बनने के पूर्व की वस्तु और ज्ञान का विषय बनी वस्तु मे अन्तर है। ज्ञात वस्तु के सौन्दर्य का ही निर्धारण किया जा सकता है।

अन्य शब्दों में उसी वस्तु के सौन्दर्य के विषय में कहा जा सकता है जो द्रष्टा मानस से सम्बन्धित हो चुकी है, अतः सौन्दर्य का कथन वस्तु और द्रष्टा मानस के सम्बन्ध के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है। सौन्दर्य तभी अस्तित्व में आता है जब 'अ' और 'ब' के बीच सम्बन्ध बनता है। अतः कहा जा सकता है कि 'अ' और 'ब' के संयुक्त होने पर सौन्दर्य रूपी उपद्रव्य अकस्मात् आ जाता है। यह सब होता है जब वस्तु किसी विशिष्ट जाति की हो, मानस विशेष दशा में हो।[1]

उपर्युक्त दृष्टिकोण में भी अनेक आपत्तियाँ हैं :

(१) यह नहीं कहा गया कि किसी भी ज्ञात वस्तु और मानस के सम्बन्ध में सौन्दर्य आ टपकता है वरन् विशिष्ट जाति की वस्तुओं और प्रशंसन कर सकने योग्य स्थितियों में स्थित मानस के सम्बन्ध में ही वह सौन्दर्य प्रतिपादित किया गया है। परन्तु किसी जाति विशेष से सम्बन्धित होने का गुण तो वस्तु का अपना होता है, जो वस्तु के मानस सम्बन्ध में प्रविष्ट होने से स्वतंत्र है। यदि वस्तुओं के इस गुण को 'अ' कहें तो यह मानना होगा कि सौन्दर्यात्मक सम्बन्ध में प्रविष्ट होने वाली वस्तु स्वतंत्र रूप से 'अ' गुण से युक्त है। इस प्रकार वस्तु को स्वतंत्र रूप से गुण युक्त मानना एक प्रकार से सौन्दर्य का वस्तुनिष्ठता का प्रतिपादन है।

(२) द्वितीय आपत्ति यह है कि जिस असंशोधित विषयिनिष्ठता से यह मत बचना चाहता है, वस्तुतः उसी में समाहित हो जाता है। यह कहा गया है कि सौंदर्य 'अ' का गुण नहीं, 'ब' का गुण नहीं, 'स' का गुण है। परन्तु मानस और 'अ' का सम्बन्ध ('अ' वह चित्र है जिसका मानस प्रशंसन करता है) निश्चय ही मानस और उस चित्र के सम्बन्ध से भिन्न है जिसे वह पसन्द नहीं करता। इसका तात्पर्य यह हुआ कि 'स', 'अ' के अनुसार परिवर्तित होता है। 'स', 'ब' के अनुसार बदलता है, अतः अंशतः 'ब' पर निर्भर करता है। इस मत के अनुसार सौंदर्य तभी अस्तित्व में आता है जब 'स' किसी विशेष प्रकार का हो—यह 'स' का गुण होगा जो 'ब' पर निर्भर है अतः सौन्दर्य स्वतंत्र नहीं, विषयिनिष्ठ ही है।

(३) यह दृष्टिकोण वस्तु और उसके ज्ञान के भ्रम पर आधृत है। ज्ञात वस्तु और वस्तु के ज्ञान में अन्तर है। न्याय और मीमांसा दोनों ही वस्तु और उसके ज्ञान में भेद मानते हैं। वस्तु का पृथक् अस्तित्व है, इसीलिए उसका ज्ञान हो सकता है। ज्ञान का होना या न होना ज्ञेय वस्तु के गुणों को प्रभावित नहीं कर सकता।

इसलिए, यदि वस्तु में सुन्दर होने का गुण है तो ज्ञाता मानस में घटित किसी बात से वह प्रभावित नहीं हो सकता। न तो प्रशंसन से यह गुण प्रवर्द्धित होगा

---

१. Eliseo Vivas, etc. The Problems of Aesthetics, p. 468

न उपेक्षा से घटेगा। मानस की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति से न्यूनाधिक्य होने वाला तत्व सौंदर्य नहीं, उसका प्रशंसन है।

अतः जब तक ज्ञेय और ज्ञान का एक न समझा जाय तब तक यही मानना तर्कसंगत है कि सौंदर्य का प्रशंसन मात्र विषयिनिष्ठ है। सौन्दर्य स्वयं वस्तुनिष्ठ है जो प्रशंसन की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति से प्रभावित नहीं होता।

ज्ञेय और ज्ञान की एकरूपता ज्ञान-मीमांसा द्वारा ही अस्वीकृत नहीं है, भाषा के सामान्य प्रयोग में भी अव्यावहारिक है। यदि सौन्दर्य और उसकी अनुभूति में अन्तर नहीं है तो 'सौन्दर्य' पद के स्थान पर सौंदर्य का प्रशंसन पद का प्रयोग किया जाना चाहिए। परन्तु ऐसा प्रयोग नहीं होता, वस्तुतः यह सम्भव ही नहीं है।

दो कथन हैं—(१) अ एक अच्छा चित्र है। (२) यह 'ब' से अच्छा है। *प्रथम कथन का तात्पर्य है 'अ' में कुछ गुण हैं जो द्रष्टा में कतिपय भावनाएँ जाग्रत* करते हैं। द्वितीय कथन का तात्पर्य है कि 'अ' में ये गुण विशेष मात्रा में हैं, 'ब' में नहीं हैं। इन गुणों के लिए यह चित्र भूत, वर्तमान अथवा भविष्य के मानसों पर निर्भर नहीं है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वस्तु में गुणों का होना उनके प्रशंसन पर निर्भर नहीं करता। तथा गुणों का सद्भाव विभिन्न वादियों में दिए गए निर्णयों पर भी निर्भर नहीं करता। सौंदर्य की विषयिपरकता सिद्ध करने वाले यही तर्क देते हैं, कि एक ही वस्तु के विषय में भिन्न भिन्न कालों में भिन्न भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न राय देते हैं अतः सौंदर्य विषयिपरक है। परन्तु यह सिद्ध हो चुका है कि वस्तु के गुण प्रशंसक निरपेक्ष हैं, प्रशंसन ही व्यक्तिसापेक्ष है।

प्राकृतिक सौंदर्य के उदाहरण उपर्युक्त कथन के प्रमाण हैं। न्याग्रा के जल-प्रपात का सौंदर्य अथवा कश्मीर का प्राकृत सौंदर्य हजारों वर्षों से संसार के कोने कोने के दर्शकों के प्रशंसन का आधार रहा है। परन्तु मानवीय कला का सौंदर्य प्राकृत सौंदर्य जैसा नहीं होता। उसमें रचयिता के भाव, संस्कार और दृष्टिकोण प्रतिबिम्बित होते हैं। *समान परिवेश में स्थित द्रष्टा को यह कलाकृति सुन्दर भी लगेगी* और अच्छी भी, पर भिन्न परिवेश में पले व्यक्ति को सम्भव है सुन्दर तो लगे पर अच्छी न लगे। किसी द्रष्टा को कोई कलाकृति सुन्दर न लगना कलाकृति में सौंदर्य के अभाव का प्रमाण नहीं है वरन् यह द्रष्टा के सौंदर्य प्रशंसन सामर्थ्याभाव का सूचक है। सहृदय के अपना वस्तु के सौंदर्य के लिए नहीं, उस सौंदर्य के प्रशंसन के लिए है। भगवान् और भक्त दोनों एक दूसरे के लिए आवश्यक हैं—अस्तित्व दोनों का है—पर भगवान् और भक्त रूप में बोध एक दूसरे के कारण ही होता है। इसी प्रकार सौंदर्य वस्तुनिष्ठ है, पर *उसका प्रशंसन विषयिनिष्ठ है।*

सौंदर्य की विषयिनिष्ठता का प्रतिपादन करने वाले विद्वान्, माता का कुरूप शिशु को भी प्यार करना, अच्छा समझना तथा मजनूँ द्वारा श्यामा लैला को प्रेम करना आदि उदाहरण देते हैं। ये उदाहरण उचित नहीं हैं। प्रथम में माता के वात्सल्य की सघनता है जिसके कारण कुरूप बच्चा भी उसे अच्छा लगता है। इस बच्चे के अच्छे लगने का कारण उसका सौंदर्य नहीं, वरन् बच्चे के प्रति वात्सल्य का होना है, माता के आदिम भाव का तृप्त होना है। अच्छे लगने में माता अपने ही वात्सल्य का चर्वण करती है—सौंदर्य का नहीं। मजनूँ में भी लैला के प्रति रति-भाव का आवेश है इसीलिए वह लैला को पसन्द करता है। पसन्द का आलम्बन सुन्दर भी हो यह आवश्यक नहीं। कुरूप के प्रति, भयानक के प्रति आकर्षण भी मन के किसी ऐसे भाव के संतुष्ट होने के कारण होता है जो अन्यथा संभव नहीं है। मजनूँ और लैला के सन्दर्भ में लैला के प्रति तीव्र 'रति', रति भाव की तुष्टि ही आकर्षण का कारण है। रति सदैव सौंदर्य के प्रति हो यह आवश्यक नहीं है।

कलाकृति का सौंदर्य इस अर्थ में द्रष्टासापेक्ष है कि उसका प्रशंसन द्रष्टा ही करता है।

भारतीय चिंतन परम्परा में सौंदर्य के आधार के विषय में संतुलित विचार मिलते हैं। भरत के नाट्यशास्त्र में 'रस' सौंदर्य रूप में वर्णित है। यह नाट्यरस अथवा नाट्यसौंदर्य रंगमंच पर विभावानुभावसंचारियों के संयोग से सम्पन्न नाट्य में रहता है। नाटक के प्रेक्षक इस 'रस' रूप सौंदर्य का आस्वादन करते हैं तथा हर्षादि का अनुभव करते हैं। 'रस' को भरत ने नाट्य में उत्पन्न गुण माना है। अतः नाट्य-वस्तु का गुण होने से इसे वस्तुनिष्ठ ही कहा जाएगा। यह नाट्यसौंदर्य कलात्मकता से प्राप्त किया जाता है, क्योंकि विभावानुभावसंचारियों का प्रस्तुतीकरण महत् अभ्यासजन्य कला का ही परिणाम है।

भट्ट लोल्लट तथा शंकुक की दृष्टि भी रस के सन्दर्भ में वस्तुनिष्ठता का पोषण करती है। वामन ने 'सौंदर्यमलङ्कारः' कह कर सौंदर्य की वस्तुनिष्ठता का प्रतिपादन किया है।

ध्वनिसिद्धांत के प्रतिष्ठाता आचार्य आनन्दवर्धन ने सौंदर्य के विषय में अत्यन्त सुलझे हुए विचार बिन्दु प्रस्तुत किए हैं। यह कहा जा चुका है कि आनन्दवर्धन ने कलागत सौंदर्य को प्रतीयमान कहा है। यह प्रतीयमान सौंदर्य वस्तुरूप है, कलावस्तु का अविभाज्य गुण है। काव्य के सन्दर्भ में यह महाकवियों की वाणी में रहता है, वस्तु में रहता हुआ भी, वस्तु के अवयवों का गुण होते हुए भी यह सौंदर्य उनसे पृथक् इस प्रकार आभासित होता है जैसे अंगनाओं का लावण्य उनके प्रसिद्ध अंगों से

पृथक् कुछ 'और' ही होता है। सौंदर्य के इस पृथक् अस्तित्व को स्थापित करने वाले आनन्दवर्धन कथित वाक्यांश निम्नांकित हैं—

(१) प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति (प्र० उ० का ४)
(२) सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु (प्र० उ० का० ६)

आनन्दवर्धन ने सौंदर्य को ज्ञान का विषय और इस सौंदर्यजन्य प्रभाव को चमत्कृति कहा है। यह स्थापना न्यायादि मतों के अनुकूल है और व्यवहार्य भी। ज्ञान का विषय और ज्ञान का फल भिन्न-भिन्न होते हैं। इसमें एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। आनन्दवर्धन की दृष्टि में सौंदर्य अन्यसापेक्ष धर्म नहीं है। हाँ, उसके प्रकाशन के लिए सहृदय की अपेक्षा अवश्य है। परन्तु सौंदर्य का सहृदय निरपेक्ष अस्तित्व सिद्ध है।

अतः आनन्दवर्धन की एतद्विषयक धारणाएँ निम्नांकित हैं—

(१) सौंदर्य प्रतीयमान है।
(२) वह कलावस्तु का गुण है, अतः वस्तुनिष्ठ है।
(३) सहृदय में आह्लाद का हेतु है।
(४) उसे प्रयत्नपूर्वक, अतः कलात्मकता से प्राप्त किया जाता है। सौंदर्य को उत्पन्न करने वाले उपादानों को यत्नतः पहचानना और संयोजित करना चाहिए। (यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ.)'

इन धारणाओं के परीक्षण से प्रमाणित होता है कि जिन आधुनिक सौंदर्य-शास्त्रीय विचारणाओं का पारण पाश्चात्य चिंतन में तर्कसम्मत माना जा रहा है—उनको संस्कृत काव्यशास्त्र का स्पष्ट किन्तु समाहार शैली में आनन्दवर्धन ने विक्रम की नवम शती में प्रतिपादित किया था। सौंदर्य की वस्तुनिष्ठता का यह प्रतिपादन सभी कलाकृतियों के लिए पूर्ण संगत है। इस विधान में सौंदर्य और सहृदय दोनों को तर्कसम्मत स्थान दिया गया है। कला के क्षेत्र में यही मत व्यावहारिक है।

किन्तु रस रूप सौंदर्य का विषयिपरक आख्यान अभिनवगुप्त ने किया है। वस्तुतः ध्वन्यालोक के भाष्य में एकाधिक स्थलों पर तथा नाट्यशास्त्र के रूपक के द्वारा अभिनव ने रसरूप सौंदर्य की वस्तुनिष्ठता प्रतिपादित की है। पर शैवदर्शन से अत्यधिक प्रभावित अभिनवगुप्त ने ज्ञेय 'शिव' और ज्ञाता जीव की एकता का प्रयोग ज्ञान के विषय सौंदर्य और ज्ञान के फल अनुभूति में करके दोनों को एक कर दिया। इस प्रकार रस अनुभूतिस्वरूप कहा गया परन्तु जैसा कि कहा जा चुका है—यह स्थापना दार्शनिक बुद्धि को भले ही तुष्ट करे, व्यवहार्य नहीं है।

बाद में कविराज विश्वनाथ ने 'रसात्मकं वाक्यं .. .' और पंडितराज जगन्नाथ ने 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः ... ..' कह कर सौंदर्य की वस्तुनिष्ठता ही स्वीकार की है।

सौन्दर्यानुभूति*

सौंदर्य के स्वरूप तथा आधार का विवेचन कर लेने के उपरांत एतद्विषयक शास्त्र का महत्वपूर्ण प्रतिपाद्य है—सौंदर्यानुभूति। इस सन्दर्भ में कला-द्रष्टा में सौंदर्यानुभूति के स्वरूप का विश्लेषण किया जाता है। सौंदर्यानुभूति के क्षणों में द्रष्टा की स्थिति क्या होती है और वह क्या अनुभव करता है?

जैसा आगे के विवेचन से स्पष्ट होगा भारतीय दृष्टि ने सौंदर्यानुभूति के स्वरूप और उस क्षण में द्रष्टा की मानसिक स्थिति का विश्लेषण स्पष्टता एवं प्रामाणिकता से किया है। पाश्चात्य चिंतन में उपलब्ध विविध सिद्धान्त अनुभूति के कारणों की शोध में अधिक प्रवृत्त हुए हैं। भारतीय चिंतकों ने सौंदर्यानुभूति का कारण साधारणीकरण माना है और यह पूर्णतः तर्कसम्मत स्थापना है। पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्रियों के मानसिक अन्तराल (Psychical distance), सुख (Pleasure), परिष्कार (Sublimation), भावप्रवणता (Emotionalism) आदि मत कहीं न-कहीं साधारणीकरण का स्पर्श करते हैं। प्रथमतः भारतीय विचारकों की तद्विषयक धाराणाएं-विशेषतः आनन्दवर्धन के सन्दर्भ में प्रस्तुत की जा रही है। आनन्दवर्धन की ये विचारणाएँ सभी कलाओं के लिए संगत हैं।

भरत ने रूपरस सौंदर्य का आस्वाद आनन्दमय माना है—

'यथा हि नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुंजाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यंजितान् वागंगसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याताः।'[१]

उपर्युक्त कथन में प्रयुक्त 'हर्षादि' पद के दो अर्थ किए जाते हैं। यह कहा जाता है कि भरत ने 'आदि' पद से हर्ष के साथ कटु दुःखात्मक अनुभूति का भी संकलन किया है। इसी आधार पर, सम्भवतः, नाट्यदर्पणकार ने रस को सुख-दुःखात्मक कहा है। परन्तु तर्क और व्यवहार के प्रमाण से रसरूप सौंदर्य की आनन्दमयता ही सिद्ध होती है। भरत ने 'आदि' सामान्य कथन में प्रयोग किया है। व्यंजनों का आस्वादन करते समय आस्वादयिता दुःख का अनुभव नहीं करता। तिक्त और

---

१. नाट्यशास्त्र, (काव्यमाला) पृ० ६३

क्योंकि रस भी आनन्द के लिये ही उपयुक्त किए जाते हैं। अतः भरत के 'आदि' प्रयोग में दुःख का संकलन मानना उपयुक्त नहीं है। भट्टलोल्लट और शंकुक ने भी रस रूप सौंदर्य की आनन्दरूपता को ही स्वीकार किया है।

आनन्दवर्धन प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने काव्य (कला) सौन्दर्य की अनुभूति के सन्दर्भ में चमत्कार शब्द का प्रयोग किया है। सुन्दर वस्तु की परिभाषा के प्रसंग में आनन्दवर्धन कहते हैं—'सहृदय को जिस वस्तु के विषय में नूतन स्फुरण'—आस्वादमय चमत्कार—की प्रतीति हो वह वस्तु सुन्दर है।' इस प्रकार सौंदर्य और आस्वादमय चमत्कार का योग कर आनन्दवर्धन ने ज्ञान के विषय सौंदर्य और इस ज्ञान के फल चमत्कृति का आख्यान किया है। यही चमत्कृति सौन्दर्यात्मक अनुभूति है। इस अनुभूति की विवेचना में ध्वनिकार यह भी कहते हैं कि 'स्फुरणा' ही सहृदयों में चमत्कृति है।[२] इसी कारिका के भाष्य में अभिनव ने 'चमत्कृति' को आस्वादप्रधान बुद्धि कहा है।[३] जब सहृदय में सुन्दर वस्तु के प्रति यह बुद्धि उद्रिक्त होती है तो वह अन्य कुछ स्मरण नहीं रखता। बुद्धि सौंदर्यपूर्ण वस्तु से आच्छादित हो जाती है। इस स्थापना का निष्कर्ष यह है कि वस्तुपक्ष में जो सौंदर्य है, सहृदय पक्ष में वही चमत्कृति है। यह अनुभूति विस्मय और आस्वादमूलक है। अभिनव ने इसकी पुष्टि करते हुए सौंदर्यानुभूति को चमत्कार-मूलक कहा है।[४] कुन्तक ने भी इसी अर्थ में इस शब्द को स्वीकृति दी है। सौंदर्यचेतना के सन्दर्भ में यह गया है कि यह चेतना परमानन्दमय ही नहीं होती वरन् इसमें विस्मय का भाव भी रहता है।[५] उत्पलदेव ने इस 'चमत्कार' पद का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया है। आनन्दवर्धन कृत प्रयोग व्यावहारिक अर्थ में है। आर० नोली ने इस शब्द के व्याख्यान में लिखा है—"रहस्यात्मक और सौंदर्यात्मक, दोनों ही प्रकार की अनुभूतियों में अन्य प्रकार की सांसारिक भावनाओं का अवसान होता है और आकस्मिक रूप से यथार्थ के नवीन आयाम में चित्त आलोकित हो जाता है।"[६] पाश्चात्य चिंतन में भी इस विचारधारा के समानधर्मी कथन उपलब्ध हैं। अभिनव के अनुसार सामान्य विस्मय की अपेक्षा सौंदर्यानुभूतिजन्य विस्मय अधिक उदात्त

---

१ यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किंचित्,
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते ॥ ध्व० (आ० वि०) पृ० ५८६

२ 'स्फुरणेयं काचिदिति सहृदयानां चमत्कृतिरुत्पद्यते वही

३ 'चमत्कृतिरिति। आस्वादप्रधाना बुद्धिरित्यर्थः' वही

४ वी० राघवन, सम कन्सेप्ट्स आव द अलंकारशास्त्र, पृ० २६६

५. आर० नोली, द एस्थेटिक एक्सपीरीएन्स अकार्डिंग टू अभिनवगुप्त

६ वही

होता है।[1] अतः चमत्कार सौंदर्यात्मिक अनुभूति है।[2] यह चमत्कार सौंदर्यात्मिक कला का सार तत्त्व है। यह सहृदय की चेतना का धर्म है, अनुभवसाक्षिक है, असामान्य आनन्द इसका गुण है।

'चमत्कार' शब्द की व्युत्पत्ति में ही उपर्युक्त अर्थों का संकेत है। सामान्यतः इसकी दो व्युत्पत्तियाँ दी जाती हैं—

(१) चमत् + कारः इसमें 'चमत्' विस्मय का बोधक है तथा 'कार' से चेतन की उक्त स्थिति के कर्तृत्व का बोध होता है। अतः चमत्कार में द्रष्टा की चेतना को सहसा अभिभूत कर लेने वाले विस्मय अथवा आश्चर्य का भाव है। इसी से सौन्दर्य की अनुभूति होती है।

(२) चमत् का सम्बन्ध चम् से है जिसका अर्थ आस्वादन करना है।[3] अतः चमत्कृत होने का अर्थ सौंदर्यात्मिक आस्वाद में तन्मय होना है। इस यह निष्कर्ष भी निकलता है कि चमत्कार चित्त का धर्म है। अभिनव ने इस 'अन्यनिरपेक्ष स्वात्मविश्रान्ति की अवस्था' कहा है, यह निर्विघ्न आस्वाद वृत्ति है।'[4] चमत्कार का आवेशाधिक्य ही सहृदयता है और इसका अभाव जड़ता है।

"प्रतीयमान अर्थ रूप सौंदर्य की सिद्धि का फल यही चमत्कार है। सौंदर्य की अनुभूति के सन्दर्भ में आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम 'चमत्कार' पद का प्रयोग किया था। भारतीय काव्यशास्त्र में यही मत बाद में प्रवर्द्धित होता रहा। आनन्दवर्धन ने इस सौन्दर्यानुभूतिरूप चमत्कार को आध्यात्मिकता से नहीं उलझाया है, यही आनन्दवर्धन की स्थापनाओं की विशेषता है कि वे पूर्ण व्याख्येय और व्यावहारिक हैं। कला-आस्वादन के समय सहृदय को जो कुछ प्रतीति होती है वह ज्ञान के सदृश बोध रूप न होकर अनुभवरूप होती है। कला-सौन्दर्य में उसका तन्मयीभवन होता है। अभिनव की दृष्टि में यह तन्मयीभवन ही अनुभावन है।"[5]

सौन्दर्यानुभूति और पाश्चात्य चिंतन

स्टालनित्ज[6] ने सौंदर्यानुभूति के विषय में कहा है कि यह एक ऐसा अनुभव है जिसमें हम वस्तु को ग्रहण करते हैं—उसका आनन्द लेते हैं, कोई प्रश्न नहीं

---

१. आर० नोली, द एस्थेटिक एक्सपीरिएन्स अकॉर्डिङ्ग टू अभिनवगुप्त
२. एस० के० डे०, संस्कृत पोएटिक्स, एज अ स्टडी आव एस्थेटिक्स, पृ० ५६
३. आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० ६७२
४. द एस्थेटिक एक्सपीरीएन्स अकार्डिङ्ग टू अभिनवगुप्त, पृ० ६१
५. 'तच्चित्तवृत्तितन्मयीभवनमेवह्यनुभवनम्। ध्वन्यालोकः (पाठक) पृ० १६२
६. स्टोल्नित्ज, एस्थेटिक्स अण्ड फिलासफी आव आर्ट, पृ० ३६६

पूछते, हम वस्तु के लिए वस्तु का आलिंगन करते हैं। निश्चय ही यह आलिंगन चित्त द्वारा होता है। प्रश्न पूछना अन्वेषण की स्थिति में ही सम्भव है परन्तु सौंदयानुभव में क्योंकि चित्त वस्तुमय हो जाता है बुद्धि सौंदर्याच्छादित हो जाती है अतः हम प्रश्न नहीं पूछते वरन् वस्तु की सम्पूर्ण चेतना में रमण करते हैं। इन स्थिति में आलोचना नहीं होती सुनीता नहीं होती। जब सौंदर्यात्मक अभिरुचि अधिक सघन होती है द्रष्टा स्वयम् को वस्तु में विलयित कर देता है।[1] बोध के प्रथम क्षण में ही द्रष्टा तन्मय हो जाता है सताप को सुख पाता है। काण्ट ने भी सौंदर्यजन्य संताप की चर्चा की है। शापनहावर ने इस अनुभूति की परम मूल्यवत्ता प्रतिपादित की है। सौंदर्यात्मक अनुभूति के सन्दर्भ में ये वचन भारतीय दृष्टि के बहुत कुछ समानान्तर है।

सौंदयानुभूति के विषय में पाश्चात्य विचारधारा के अन्तर्गत निम्नलिखित पाँच मत चर्चित हैं। इनका संक्षिप्त विवेचन यहाँ दिया जा रहा है।

भावप्रवणतावाद (Emotionalism)

इस मत के प्रतिष्ठाता टाल्स्टाय हैं। टाल्स्टाय के अनुसार कलाकार कलात्मक सौंदर्य द्वारा द्रष्टा में भावनाएँ संक्रमित करता है। रचयिता कलाकार जिन अनुभूतियों का अनुभव करता है वे ही कला द्वारा द्रष्टा में संक्रमित होती हैं। कलाकार बाह्य चिह्नों द्वारा अपनी अनुभूतियों का सम्प्रेषण करता है। यह कलासृजन का प्रक्रम सचेतन होता है। अनुभूतियों का यह संक्रमण कलाकार की ईमानदारी पर निर्भर है कि उसने कितनी शक्ति से अनुभूतियों को लिया है। यदि द्रष्टा यह जान ले कि कलाकार जो कुछ कह रहा है उसके लिए कह रहा है।[2]

उपर्युक्त मत के अनुसार कलासौंदर्य की अनुभूति द्रष्टा द्वारा अनुभूत भावनाओं में है। तथा कलासौंदर्य का सृजन कलाकार के द्वारा अनुभूत अनुभूतियों की तीव्रता में है। यदि सम्प्रेषित भावनाओं की अनुभूति द्रष्टा कर पाता है तो यही कला-सौंदर्य की अनुभूति है। टाल्स्टाय ने कला को मानव मानव के बीच सम्बन्ध का माध्यम कहा है।[3]

---

१ 'When aesthetic interest is more intense, the percipient loses himself in the object' p 7

२ मारिस वीत्ज, प्रोब्लेम्स इन एस्थेटिक्स, पृ० ६१४

३. बीअर्डस्ले, एसथेटिक्स फ्राम क्लासीकल ग्रीस टू द प्रेजेंट पृ० ३१०

तदनुभूति (Empathy)

तदनुभूति का सिद्धान्त द्रष्टा की क्रियाशीलता को दृश्य वस्तु में विलयित होने का प्रतिपादन करता है। वेरॉन ली (Veron Lee) ने तदनुभूति विषयक मत के विवेचन में 'पर्वत उठ रहा है' वाक्य का उदाहरण दिया है। द्रष्टा जब पर्वत के आकार को देखता है तो तदनुभूति की विलयन-प्रक्रिया में केवल 'उठने' के अपने विचार का ही स्थानान्तरण नहीं करता वरन् विचार और भावनाओं का भी स्थानान्तरण करता है। 'उठने' का विचार द्रष्टा के मानसकोश में समय-समय पर एकत्रित होता रहा है। इस पर्वत विशेष के सम्पर्क मे आने के पूर्व ही 'उठने' का भाव संस्कार रूप में उसके मानस में है। जब वह पर्वत विशेष को देखता है तब उस जड़ आकार को अपने मानसकोश में निहित अनुभूतियों से नियुक्त करता है। तब वह 'पर्वत' को उठता हुआ अनुभव करता है—यह प्रक्रिया अत्यन्त जटिल है। इस प्रकार मानस-कोश में संस्कार रूप मे निहित भावनाओं को विचार के साथ जब सुन्दर वस्तु में स्थानान्तरित किया जाता है तो वेरॉन ली उसे तदनुभूति (Empathy) कहते हैं।

यह तदनुभूति क्षण भर के लिए ही सही अहं के तिरोभाव पर निर्भर करती है।[1] यदि द्रष्टा को इस बात का बोध रहेगा कि वह 'पर्वत' का उठना सोच रहा है, वह 'उठने' का अनुभव कर रहा है तो तदनुभूति सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त स्थापना के अनुसार सौदर्यानुभूति मे द्रष्टा अपने अंश का तिरोभाव करता है। सौंदर्यपूर्ण वस्तु के प्रभाव से द्रष्टा की संस्काररूप भावनाएँ उस वस्तु में स्थानान्तरित होती है और वह आनन्द की अनुभूति करता है। द्रष्टा इस अनुभव में न तो यह सोचता है कि वह अनुभव कर रहा है और न अन्य किसी विचार अथवा भावना से ही युक्त होता है।

परिष्करण (Sublimation)

फ्रायड कला को ऐसी प्रक्रिया मानते है जिससे कलाकार की असंतुष्ट कामनाएँ उपशमित होती हैं। यह प्रक्रिया केवल कलाकार की अपूर्ण असंतुष्ट इच्छाओं का ही उपशमन नही करती वरन् कलासौंदर्य के भावक की असंतुष्ट भावनाओं का उपशमन भी करती है।[2]

कला का आनन्द इन भावनाओं के उपशमन का सन्तोष ही है।[3] कला का

---

१. मारिस वीट्ज, प्रोब्लेम्स इन एस्थेटिक्स, पृ० ६२३-६२४

२. मारिस वीट्ज, प्रोब्लेम्स इन एस्थेटिक्स, पृ० ६२७

३. वही, पृ० ६३२

द्रष्टा यही समझता है कि वह कला के रूप से आनन्दित हो रहा है पर उसके सुख का अधिकांश स्रोत उसके अचेतन मानस में ही होता है।[1]

सुखवाद (Pleasure)

जार्ज सन्तायन इस मत के प्रतिष्ठापक हैं। इसके अनुसार सौंदर्य की अनुभूति आनन्दात्मक है तथा जब द्रष्टा सौंदर्यात्मक सुख की स्थिति में होता है तब अहं और स्वामित्व जैसी भावनाएँ नहीं रहतीं—अवलोकन का शुद्ध हर्ष द्रष्टा—मानस को परिप्लावित रखता है।[2] प्रत्यक्ष सुख किसी-न किसी रूप में तटस्थ होता है। इसमें अन्य किसी तथ्य का सन्धान नहीं होता, इस सुख स्थिति में जो कुछ मानस में व्याप्त होता है वह गणनात्मक परिस्थिति नहीं होती वरन् वस्तु अथवा घटना का भावभाषा में समवेत बिम्ब मानस का आच्छादित कर लेता है। बहुधा परिष्कृत चेतना के लिए 'स्व' (self) का विचार निरस्त बन जाता है। परन्तु यह 'स्व', जिसके सन्तोष और विवर्धन हेतु मनुष्य जीवित रहता है, लक्ष्यों और स्मृतियों का पुञ्ज होता है। इन लक्ष्यों और स्मृतियों के कभी साक्षात् वस्तु लक्ष्य रहे होंगे। ये सन्तोष जो मिलकर 'स्वार्थ' का निर्माण करते हैं, इनमें से प्रत्येक स्वयं में अच्छा है, स्वार्थहीन है, निर्वैयक्तिक भाव है। इस प्रकार स्वार्थ का विषयवस्तु स्वयं में निःस्वार्थ है। किसी व्यक्ति की प्रकृत क्षुधा में अथवा उसके अपने कुत्ते अथवा बच्चों के प्रति प्रेम में स्वार्थ का अभिधान किया जाता है—यह इसलिए कि व्यक्ति की ये भावनाएँ अन्य द्वारा समभुक्त नहीं होतीं। निःस्वार्थ व्यक्ति की प्रकृति अधिक विश्वव्यापी दिशाओं में प्रवृत्त होती है। उसकी रुचियाँ व्यापकतः विकीर्ण होती हैं।

परन्तु सभी विचारों का आधार कोई न कोई वस्तु होती है अतः विचारों की निर्वैयक्तिकता उनकी आधारभूत वस्तुओं के रूप में ही हो सकती है, विषयी के सन्दर्भ में नहीं। निःस्वार्थ रुचियाँ भी किसी-न किसी व्यक्ति की रुचियाँ ही हैं। यदि कोई सौंदर्य में रुचि नहीं रखता, यदि वस्तुओं के सौंदर्य अथवा असौंदर्य का सम्बन्ध द्रष्टा की प्रसन्नता में न हो तो इसका अर्थ यही है कि द्रष्टा में सौंदर्योन्मुख प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव है। अतः सौंदर्यानुभूतिजन्य आनन्द के तटस्थ्य का यही अर्थ है कि इसमें आदिम और अन्तर्जात सन्तोष, 'स्व' जैसी कृत्रिम धारणाओं के सन्दर्भ में नियन्त्रित नहीं होते। इस सन्तोष की शक्ति इसके अवयवों में ही प्राप्त होती है।[3]

---

१ वही, पृ० ६३३

२ वही, पृ० ६३८

३ मारिस वीत्ज, प्रोब्लेम्स इन एस्थेटिक्स पृ० ६३

वस्तु के द्वारा उत्पन्न आनन्द और उसके अवलोकन का पार्थक्य स्पष्टतः दिखलाया जा सकता है। आनन्द और अवलोकन में काल का भी अन्तर है। आनन्द प्रभाव के रूप में अनुभूत होता है, वस्तु के गुण के रूप में नहीं। परन्तु जब अवलोकन की प्रक्रिया ही हर्षदायक हो तो हम आनन्द को वस्तु से ही संयुक्त पाते हैं। इस स्थिति में आनन्द अन्य मूर्तिमान् भावनाओं के सदृश मूर्त हो जाता है।[1]

मानसिक अन्तराल (Psychical Distance)

मानसिक अंतराल वस्तु को स्व-निरपेक्ष व्यक्तिगत इच्छाओं-कामनाओं के संदर्भ से मुक्त होकर देखना है। आंतरालिक दर्शन व्यक्ति का सामान्य दृष्टिकोण नहीं होता। नियमतः कोई भी अनुभव व्यक्ति के 'स्व' से सम्बन्धित होता है। मानव वस्तु के उन्हीं गुणों से प्रभावित होता है जो उसको तत्काल और व्यवहारतः प्रभावित करते हैं। जो गुण तत्काल प्रभाव नहीं डालते, सामान्यतः व्यक्ति को उनकी जानकारी नहीं होती। वस्तु के अनदेखे परिदृश्यों के प्रभाव अकस्मात् रहस्योद्घाटन की भाँति प्रकट होते हैं। यह कला द्वारा उत्पन्न प्रभाव की स्थिति है। इस सामान्य अर्थ में, कला में मानसिक अन्तराल क्रियाशील होता है। इसीलिए यह सौंदर्यशास्त्र का सिद्धांत है। यह मानसिक अंतराल 'सुन्दर' का निकष प्रस्तुत करता है। यह कलात्मक सृजन का महत्त्वपूर्ण सोपान है, कलात्मक स्वभाव का विशिष्ट गुण है।[2]

मानसिक अन्तराल का सिद्धान्त स्व निरपेक्ष दर्शन पर बल देता हुआ भी वस्तु और 'स्व' के सम्बन्ध को निर्वैयक्तिकता की सीमा तक टूटा हुआ नहीं मानता। यद्यपि 'वैयक्तिक' और 'निर्वैयक्तिक' इन दो पक्षों में से मानसिक अन्तराल की धारणा के निकट 'निर्वैयक्तिक' ही है तथापि विषयनिष्ठ, वस्तुनिष्ठ, वैयक्तिक, निर्वैयक्तिक जैसे शब्द इस दृष्टिकोण में प्रयुक्त करना भ्रामक ही होगा।

मानसिक अन्तराल का तात्पर्य वैज्ञानिक जैसा निर्वैयक्तिक, शुद्ध बौद्धिक सम्बन्ध भी नहीं है। इसके विपरीत यह भावनाओं के रङ्गों में रँगा व्यक्तिगत सम्बन्ध है पर एक विचित्र प्रकार का। इसकी विचित्रता व्यक्तिगत गुण के छन (Filter) जाने में है। इसका श्रेष्ठ उदाहरण नाटक के पात्रों और घटनाओं के प्रति हमारा दृष्टिकोण है। नाटक के पात्र हमें सामान्य अनुभव के पात्र की भाँति प्रभावित करते हैं। इसमें अन्तर यह है कि उनके प्रभाव का वह पक्ष जो हमें साक्षात् वैयक्तिक रूप में प्रभावित करता, तिरोहित हो जाता है। यह अन्तर सामान्यतः यह कहकर व्याख्यायित किया जाता है कि हमें पात्र और घटनाओं का काल्पनिक ज्ञान

---

१. वही, पृ० ६४४

२. मारिस वीत्ज, प्रोब्लेम्स इन एस्थेटिक्स, पृ० ६४८

होता है। परन्तु यह ज्ञान कारण नहीं है फल है और इसका कारण मानसिक व तराल ही है।

कलाकार भी अपन सृजन को तभी कलात्मक बना सकता है जब वह अपनी अनुभूतियों से तटस्थ हो चुका होता है। सामान्य मनुष्य अपने अति-सुख अति दु ख को इसीलिए दूसरा तक उस रूप म नहीं पहुँचा सकता कि उसम उसका व्यक्ति तत्त्व रहता ह वह उनस तटस्थ नहीं होता।

अत सृजन और प्रशसन दोनो म मानसिक अन्तराल आवश्यक है।[1]

उपर्युक्त सभी मता म कला सौंदर्य की अनुभूति सुखकारक मानी गई है। अत यह स्थिति भारतीय स्थापना क अनुरूप ही है जो सौंदर्य के दर्शन म चमत्कार या आह्लादक अनुभूति का प्रतिपादन करती है। इसीलिए आनन्दवर्धन की सहृदया म चमत्कृति विषयक धारणा सभा कलारूपा के लिए सगत है।

तदनुभूति के सिद्धान्त में अह के 'तिरोभाव को महत्त्व दिया गया है, सौंदर्यानुभूति के क्षण को अन्य अनुभूति स अथवा विचार से मुक्त कहा गया है। यह वस्तुत अभिनव प्रतिपादित 'वीतविघ्न प्रतीति' का प्रतिपादन है। अभिनव न आनन्दवर्धन कथित चमत्कार की व्याख्या—'अन्य निरपेक्ष स्वात्मविश्रान्ति का अवस्था है, निर्विघ्न आस्वाद वृत्ति है' वाक्या द्वारा की है।

परिष्करण म भी भावनाओ की तुष्टि म आन द को स्वीकृति दी गई है।

आज मन्वायन के सुखवाद मे एक विशिष्ट विचार बिन्दु है। वस्तु के अवलोकन और तज्जनित आनन्द म दो प्रकार माने गये हैं

(१) आनन्द और अवलोकन मे काल का क्रम रहता है, आनन्द प्रभाव क रूप म होता है।

(२) अवलोकन की प्रक्रिया ही सुखदायक हो तो आनन्द का वस्तु स ही सयुक्त मान लिया जाता है।

आनन्दवर्धन ने सलक्ष्यक्रम कह कर उपर्युक्त दो धारणाओ का सकेत किया था। प्रथम मे अवलोकन से आनन्दानुभूति क पहुँचने का क्रम दृश्य रहता है द्वितीय म यह क्रम रहत हुए भी प्रतीत नहीं होता, तात्कालिक होन के कारण आनन्द मूर्त्त-सा लगता है। इसी स्थिति को आनदवर्धन न भी श्रेष्ठ कहा है।

'मानसिक अतराल' आनद को स्वीकृति देता हुआ भी कलाजनित आनद की प्रक्रिया का स्पष्ट करता है। व्यक्ति स्वनिरपेक्ष होकर वस्तु का देखता है।

---

१ मारिस वीटज, प्रोब्लेम्स इन एस्थेटिक्स, पृ० ६५१

हमारा विचार है कि कलाकार की अनुभूति की प्रतीयमानता वाला सिद्धान्त अधिक पूर्ण है। कलासृजन के दौर में कलाकार की अनुभूति प्रतीयमान हो जाती है, इस प्रतीयमान अनुभूति का सौंदर्य निर्वैयक्तिक होता है। श्रोता अथवा दर्शक इसे स्व-पर की भावना से मुक्त होकर ग्रहण करता है, आनन्द का अनुभव करता है। व्यंजना व्यापार द्वारा साधारणीकरण की धारणा इस दृष्टि से पूर्ण है।

स्थापत्य कला और सौन्दर्यात्मक अनुभूति

जब सहृदय स्थापत्य कला के प्रतिमान—किसी भवन—किसी मंदिर अथवा अन्य ऐसी ही किसी रचना को देखता है तो सर्वप्रथम वह प्रतिमान दृष्टि में वस्तु के रूप में उभरता है तथा उसके प्रति विस्मय का भाव द्रष्टा में उत्पन्न होता है। वह यह देखकर विस्मित होता है कि यह सौंदर्य का स्वर्ग धरती पर कैसे—किसके द्वारा विन्यस्त किया गया। अतः यह सौंदर्यात्मक अनुभूति विस्मय स्थायीभाव के परिणत रूप अद्भुत रस में अभिव्यक्त होगी। भरत ने देवकुल और सभागार को विस्मय का आलम्बन स्वीकार किया है। भोज ने भी 'समरांगण सूत्रधार' में स्थापत्य कला के प्रतिमान को विस्मयोत्पादक माना है।

इसके अतिरिक्त स्थापत्य से सौंदर्यानुभूति का एक स्वरूप और होगा। स्थापत्य के मूल में निर्माता के भाव और विचार रहते हैं। कला के माध्यम से रचयिता के भावों—विचारों से तादात्म्य भी सौंदर्यानुभूति ही है। एक बौद्धमंदिर मानस में शांति की तरंगें उत्पादित करता है। चित्तौड़ का किला द्रष्टा में उत्साहजनित रोमांच उत्पन्न करता है। यही अवस्था जब चरम क्षणों में होती है तो द्रष्टा वस्तु-ब्रह्म की अनुभूति करता है।

संगीत कला और सौन्दर्यानुभूति

जब कोई वस्तु स्व-पर की भावना से मुक्त मानस पर परावर्तित होती है तब वह दुःख अथवा सुख का आलम्बन नहीं बनती, वरन् द्रष्टा के स्व-परनिरपेक्ष मानस में एक कम्पन-सा उत्पन्न करती है, इस प्रकार आत्मन् के आनन्द-स्वरूप को उजागर करती है। जब मधुर संगीत को सहृदय सुनता है तो यही होता है। यदि सौन्दर्यात्मिक वस्तु की मूलप्रकृति आनन्दात्मक नहीं होगी तो यह कैसे संभव है? अभिनव के अनुसार संगीत सौन्दर्य की अनुभूति, आनन्द की अनुभूति है—भावमय आनन्द की। इसीलिये अभिनव यही मानते भी हैं कि सहृदय वही है जो भावमयता की स्थिति तक पहुँच सकता है।

सौन्दर्य का सहृदयसंवेद्यत्व

आधुनिक सौंदर्यशास्त्री इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि प्रतीयमान सौंदर्य सर्वजनसंवेद्य नहीं है। ग्रीन ने इस विषय के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है

कि कलाकार द्वारा अभिव्यंजित विषयवस्तु का अनुभव कला के क्षेत्र में प्रशिक्षित व्यक्तियों को ही हो सकता है।[1] इसका कारण यह है कि कलात्मक अभिव्यंजना सौंदय-सचालित होता है और सौंदर्यदृष्टि प्रत्येक व्यक्ति में नहीं होती।

यही स्थिति संगीत कला की भी है। संगीत कला के व्याकरण पर अधिकार कर लेने से ही इस कला के प्रति समझ उत्पन्न नहीं होती वरन् उन भावनाओं के प्रति भी पकड़ होनी चाहिये जिनसे प्रेरित होकर संगीत की विशिष्ट रचना श्रोताओं के समक्ष प्रस्तुत की गई है। तात्पर्य यह कि संगीत में भावव्यंजना की समझ प्रत्येक को नहीं हो सकती। संगीत की तकनीकी विशेषताएँ ताल, राग आदि का ज्ञान अभ्यास करने से हो सकता है, पर संगीत की आत्मा, भाव तक पहुँचने के लिए प्रशिक्षित सहृदयता की अपेक्षा है।

आचार्य आनन्दवर्धन भी प्रतीयमान अर्थ के लिए सहृदय की अपेक्षा मानते हैं। उन्होंने ऐसे सहृदय के लिए 'काव्यार्थतत्त्वज्ञ' विशेषण का प्रयोग किया है। उनका स्पष्ट मत है कि शब्द और अर्थ के शासन अर्थात् व्याकरण मात्र के ज्ञान से उस प्रतीयमान अर्थ के सौंदर्य को नहीं जाना जा सकता, वह तो काव्यार्थतत्त्वज्ञों के द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥७॥[3]

'केवलम्' की व्यंजना ही यही है कि मात्र सहृदय उस अर्थ के सौन्दर्य को पहचान सकते हैं।

आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक के प्रारम्भ में ही जो श्लोक कहा है उसमें भी यही प्रतिज्ञा है कि सहृदयों के मन की प्रसन्नता के लिए ध्वनि का स्वरूप कहते हैं—

'तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्।'[4]

'सहृदय' से तात्पर्य यहाँ 'काव्यमर्मज्ञत्व' ही है। पुनः काव्यात्मा के रूप में व्यवस्थित अर्थ को भी सहृदयश्लाघ्य कहा है। अतएव कलामात्र के सौंदर्यानुभव के लिए सहृदय की अपेक्षा है। प्रत्येक जन कला की प्रशंसा कर सकें, ऐसा सम्भव नहीं है। कवि में जैसे निर्माणक्षमा कारयित्री प्रतिभा आवश्यक है वैसे ही भावक-

---

१ Greene, The Arts and the art of criticism Princeton Un Press p 97
२ Ibid p 333
३ ध्वन्यालोक (आ० वि०) प्रथम-उद्योत, पृ० ३२
४ वही, पृ० २

करने वाले में भावयित्री प्रतिभा होती है। सहृदय भावयित्री प्रतिभा से युक्तजन होता है। ध्वन्यालोक लोचन में अभिनवगुप्त ने सहृदय का व्याख्यान इस प्रकार किया है - 'येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता: ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः। यथोक्तम्—

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना।।

अर्थात् काव्य के अनुशीलन के अभ्यासवश जिसके विशदीभूत मन के दर्पण में वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मय हो जाने की योग्यता हो वे, अपने हृदय के साथ संवाद को भजन करने वाले जन सहृदय कहलाते हैं तथा जो अर्थ हृदय के साथ संवाद रखने वाला होता है उसका भाव रस की अभिव्यक्ति का कारण होता है। वह (सहृदय के) हृदय को वैसे ही, व्याप्त कर लेता है जैसे शुष्क काष्ठ को अग्नि।[१]

सहृदय की तत्त्वार्थदर्शिनी बुद्धि वाच्यार्थ से विमुख होती है। वह तो कला के सौंदर्य का पिपासु होता है सौंदर्य के उपादानों का नहीं—

तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम्।
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते।।[२]

अलबर्ट. आर. चेन्डलर ने श्रोता अथवा दर्शकों को चार कोटि में रखा है[३]—

(१) आब्जेक्टिव टाइप—यह श्रोता संगीत के स्वरों, वाद्ययंत्रों के दोषों तथा यंत्रों को शीघ्रता से पहचानता है।

(२) इन्ट्रासब्जेक्टिव टाइप—यह श्रोता संगीत के प्रभावस्वरूप स्वयं में होने वाले यथार्थ अथवा प्रतीत होने वाले परिवर्तन का अनुभव करता है।

(३) असोसिएटिव टाइप—यह संगीत से सम्बद्ध दृश्य, घटनाओं और व्यक्तियों का विवरण प्रस्तुत करता है।

(४) करेक्टर टाइप—यह श्रोता संगीत में भाव, मनोदशाओं और विशेषताओं का आरोपण करता है।

बुलो से सहमत होते हुए मेयर (Myers) ने चतुर्थ[१] को सर्वाधिक सौन्दर्य-संवेदी कहा है। इनमें से प्रथम आनन्दवर्धन के शब्दों में शब्दार्थ-शासन-ज्ञाता है और

---

१. ध्वन्यालोकः (आ० वि०) प्रथम—उद्योत, पृ० ४०
२. ध्व० (आ० वि०) पृ० ३६
३. एलिसीओ विवस और मरे क्रीगर, द प्रोब्लेम्स आव एस्थेटिक्स, पृ० २६२-२६४

चतुर्थ सहृदय। वही संगीत की प्रभावशाली और भावसंपृक्त विविधरंगी अभिव्यक्ति को ग्रहण कर सकता है। पुस्तक से संगीत ज्ञान प्राप्त करने वाले को संगीत-सौन्दर्य अज्ञात ही रहता है, वह तो सहृदय को ही ज्ञात होता है। आनन्दवर्धन ने इसी मत का प्रतिपादन किया था।[1] सहृदय जब सौन्दर्यानुभूति करता है तो सौन्दर्य उसके व्यक्तित्व का अंग बन जाता है। कला सहृदय के व्यवहार मे प्रतिभासित होती है। सहृदय कलाकार के प्रति भी सहानुभूतिपूर्ण होता है।[2]

सहृदय के लिए कला वह भाषा है जिसमे मानवात्मा अपनी दुनिया के रहस्य उस तक पहुँचाती है।[3]

आनन्दवर्धन ने सहृदय की इन विशेषताओ का उद्घाटन किया था। कला के लिए सहृदय की अपेक्षा स्वतः सिद्ध है। सहृदय की कला का प्रशंसन करता है। अतः सहृदय विषयक आनन्दवर्धन की धारणा कलामात्र के लिए संगत है। यह एक कला मूल्य है।

औचित्य का सन्निवेश

आनन्दवर्धन ने औचित्य को प्रतीयमान की प्रतीति के लिए आवश्यक माना है। कला मे औचित्य सर्वत्र नियामक तत्त्व है। आनन्दवर्धन के बहुत बाद क्षेमेन्द्र ने औचित्य की परिभाषा, 'उचितस्य भाव औचित्य' कहकर दी है। औचित्य संगति से उत्पन्न होता है। काव्य के सन्दर्भ मे शब्दार्थ की संगति, चित्र आदि कलाओ मे तत्तत् उपादानो की संगति-अवयवो की पारस्परिक संगति तथा पूर्ण के साथ संगति अपेक्षित है। अनुचित प्रयोग भाव दोष का कारण बनता है। सर्गबन्ध अर्थात् महाकाव्य मे औचित्य की आवश्यकता बतलाते हुए आनन्दवर्धन ने लिखा है—

'सर्गबन्धे तु रसतात्पर्ये यथारसमौचित्यं, अन्यथा तु कामचारः' अर्थात् सर्गबन्ध (महाकाव्य) मे रस प्रधान होने पर रस के अनुसार औचित्य होना चाहिये अन्यथा कामचार (स्वतन्त्रता) है। न केवल महाकाव्य मे वरन् गद्यकाव्यो मे भी औचित्य आवश्यक है—

> एतद् यथोक्तमौचित्यमेव तस्या नियामकम्।
> सर्वत्र गद्यबन्धेऽपि छन्दोनियमवर्जिते ॥८॥[4] पृ० १८६

अर्थात् यह पूर्ववर्णित औचित्य ही छन्द के नियम से रहित गद्य रचना मे भी सर्वत्र उस संघटना का नियामक होता है। विषयगत औचित्य भी इसमे रहता

---

१ ध्व० (आ० वि०) पृ० ३२

२ राफ, एल०, अन इन्ट्रोडक्शन टू आर्ट एक्टीविटीज, पृ० २५६

३ इरविन एडमन्, आर्ट अण्ड द मैन, पृ० ३४-३५

४ ध्वन्यालोक (स० पाठक), चौ० पृ० ३५७

है। यदि कवि अथवा कविनिबद्ध वक्ता रसभाव से रहित होता हो तो वह स्वतन्त्र है, परन्तु रस-भाव से समन्वित वक्ता होने पर तो औचित्य का पालन अनिवार्य है। रसबन्ध का औचित्य सर्वत्र आवश्यक है—

रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता।
रचना विषयापेक्षं तत्तु किंचिद् विभेदवत् ॥९॥[1]

अर्थात् रसबन्ध में उक्त (नियमनार्थ प्रतिपादित) औचित्य का आश्रय करने वाली रचना सर्वत्र (गद्य पद्य दोनों में) शोभित होती है। विषयगत औचित्य की दृष्टि से उसमें कुछ भेद हो जाता है। पद्य के समान गद्य में भी रसबन्धोक्त औचित्य का सर्वत्र आश्रय लेने वाली रचना शोभित होती है। इतना ही नहीं, आनन्दवर्धन ने भाव, विभाव, अनुभाव आदि के भी औचित्य पर बल दिया है।

विभाव, (स्थायी) भाव, अनुभाव, संचारी के औचित्य से सुन्दर, वृत्त (ऐतिहासिक) अथवा उत्प्रेक्षित (कालिक) कथा-शरीर का निर्माण होता है।[2]

---

१. वही पृ० १३८
२. ध्वन्यालोक, (सं० पाठक), पृ० ३५६

अध्याय सप्तम

व्यंजकत्व : सौंदर्योपादान

ध्वनिसिद्धान्त म प्रतिपादित व्यञ्जक की धारणा कला-सौन्दर्य की व्याख्या के लिए अत्यन्त उपयोगी है। व्यञ्जक कला-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति मे सहायक उपादान है। कला मात्र मे कुछ स्थल विशेषत उभारकर प्रस्तुत किय जाते हैं। द्रष्टा की कला चेतना इन विशेष बिन्दुओ पर चतुर्दिक् केन्द्रित हो जाती है। ये प्रमुख बिन्दु सम्पूर्ण कृति को विशेष अर्थवत्ता के साथ व्यक्त करत हैं। किंचित् ध्यान देन पर ये स्थल व्यग्य अथ (Suggested Meaning) के केन्द्र प्रतीत होंगे। आधुनिक शैलीशास्त्र के अन्तर्गत कविता के सन्दर्भ म इस प्रकार के प्रयोगो को फोरग्राउन्डेड (Foregrounded) प्रयोग कहा जाता है। चित्रकला के सन्दर्भ म इस प्रक्रिया का प्रभाविता (dominance) कहा गया है।[1] कलाकार अपनी कृति म कतिपय विशेष बिन्दुओ की ओर द्रष्टा का ध्यान आकर्षित करना चाहता है। ये व्यञ्जक बिन्दु एक प्रकार के प्रकाश केन्द्र क समान कार्य करते हैं जो कृति क अन्य अवयवो को भी विशेष अर्थवत्ता स युक्त कर दते है।

कलाकार परम्परा को तोडता है, उससे विपथन करता है। कलाकार का महत्त्व पूर्वनिश्चित प्रतिमानो को यथावत् पुन प्रस्तुत करन मे नहीं है वरन् उसकी महत्ता इस तथ्य म है कि उसन पूर्वनिश्चित प्रतिमानो स क्या और कितना अप्रत्याशित विपथन किया है[2] इन विपथनों स क्या विशेषताएँ उत्पन्न की हैं। कला चाहे मूर्ति हो, स्थापत्य अथवा सगीत उसकी अर्थवत्ता के मूल्याकन हेतु विशिष्ट बिन्दुओ पर ध्यान केन्द्रित करना ही होगा। इन्ही बिन्दुओ को फोरग्राउन्डेड (Foregrounded) उपादान कहा जाता है। गैस्टन लाची (Gaston Lacha se) निर्मित ब्रा ज की एक स्त्री मूर्ति म्युजियम आव माडर्न आर्ट, न्यूयार्क मे है,[3] इसमे उभार (Convexity) को प्रभाविता उपादान क रूप म प्रयुक्त किया गया है। सगीत की रचना मे भी

---

१ Palph L Wickiser, Art Activities p 91

२ C N Leech, A Linguistic guide to Eng p 57

३ Donald L Weisman, The Visual Art human experience p 145

अन्य राग के किसी स्वर का समायोजन कलात्मक विपथन होकर विशेष प्रभाव का व्यञ्जक बन सकता है।

आधुनिक चित्रकार चित्रपट पर समरता के रूप में कुछ प्रस्तुत कर दर्शक की चाक्षुष कल्पना को उत्तेजित करता है। यह चित्रसृष्टि अनियमितताओं और अन्तर्विरोधों से पूर्ण प्रतीत होती है। इसमें व्याख्या के पारस्परिक सूत्रों (clues) का अभाव होता है। गोम्ब्रिख ने घनवादी रचनाओं के विषय में कहा है—'इनमें विपरीत सूत्र (clues) होते हैं जो संगति लगाने के सभी प्रयत्नों का प्रतिरोध करते हैं।'[१] व्याख्या के सरलतम मार्ग का अवलम्बन करने वाला द्रष्टा इससे निराश होता है, वह संरचना के उस आन्तरिक तल को पाना चाहता है जिससे बाह्यतः प्रतीत होने वाली असंगतता का समाधान हो सके। घनवादी कलाकार का साहित्यिक स्थानी वह कवि है जो वाक्यों का विन्यास इस प्रकार करता है कि पाठक स्पष्ट व्याख्या के लिए संरचना के आन्तरिक तल तक पहुँचे।

गोम्ब्रिख[२] (Gombrich) का यह विचार ठीक है कि 'कोई भी चित्र अपनी प्रकृति से ही दर्शक की चाक्षुष कल्पना के लिए आकर्षण उत्पन्न करता है, इसे समझने के लिए पूरक की आवश्यकता होती है। यही बात कविता के सम्बन्ध में भी सच है। कविता अपने रचयिता और पाठक दोनों से पृथक् अस्तित्ववान है। पर जब हम पूछते हैं कि कविता का तात्पर्य क्या है ? तो हमारे मानस में एक व्याख्या करने वाला होता है, तब हमें यह भी सोचना चाहिये कि वह व्याख्या करने वाला कविता में क्या जोड़ता है।[३] एक सहृदय पाठक उन सभी अर्थवत्ताओं को स्वीकार करता है जो संगतता के दायरे में होती है, पर संगतता आदि का निर्णय सौन्दर्यात्मक निर्णय-क्षमता पर निर्भर करता है। कवि द्वारा प्रयुक्त एक उपयुक्त शब्द, चित्रकार द्वारा प्रयुक्त एक लघुबिन्दु अथवा रेखा का सामान्य-सा प्रतीत होने वाला वक्र सम्पूर्ण कृति को विचित्र अर्थवत्ता से भर देता है। डोनाल्ड एल० वीजमैन[४] (Donald. L. Weismann) ने डेविट हेयरस (David Hare's) की 'सनराइज' कृति के विवेचन में लिखा है 'ये अवकाश बिन्दु, इनके विशिष्ट आकार तथा स्थान इस कृति के दृश्य संतुलन में महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करते हैं।'

कन्ट्रास्ट, हारमनी, डिमकार्ट, आदि चित्रकला में व्यञ्जक के तौर पर ही प्रयुक्त किए जाते हैं।

---

१. Art and illusion, p. 204

२. Art and illusion, p. 204

३. Leech, A Linguistic guide to Eng. poetry p. 220

४. The Visual Arts and human experience p. 94

ध्वनिसिद्धान्त में व्यंजक की प्राकल्पना सौंदर्योत्पादक फोर-ग्राउण्डिङ्ग अथवा चित्रकला की शब्दावली में प्रभाविता (Dominance) के समतुल्य ही है। फोर-ग्राउण्डिङ्ग क्योंकि कलाकृति के नूतन अर्थआयामों की व्यंजना करता है अतः फोर-ग्राउण्डिङ्ग के तत्त्व को व्यंजक कहा जा सकता है। किसी कृति में यह व्यंजक उपादान एक भी हो सकता और अनेक भी। आनन्दवर्धन ने कहा है—'यद्यपि शरीरधारियों में सौंदर्य की प्रतीति अवयवसंघटना विशेषरूप समुदाय-साध्य होती है फिर भी अन्वय-व्यतिरेक से वह अवयवों में मानी जाती है—

'किन्च काव्यानां शरीरिणामिव संस्थानविशेषावच्छिन्नसमुदायसाध्यापि चारुत्व-प्रतीतिरन्वयव्यतिरेकाभ्यां भागेषु कल्पत इति पदानामपि व्यंजकत्वमुखेन व्यवस्थितो ध्वनिव्यवहारो न विरोधी।'

उदाहरण के लिए निम्नलिखित श्लोक का परीक्षण करें—

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो,
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे,
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्॥

इस उदाहरण में अन्य पद तो व्यंजक हैं ही, चतुर्थ चरण में प्रयुक्त 'अधम' विशेष व्यंजक है। इस 'अधम' पद की सहायता से ही नायक की लम्पटता प्रकट होती है, उसने दूती से सम्भोग किया होगा यह भी 'अधम' से ही व्यक्त होता है।

आनन्दवर्धन ने भाषा के प्रत्येक अवयव में व्यंजना प्रतिपादित किया है पर यह प्रयोक्ता पर निर्भर करता है।

कविता की भाषा दैनिक व्यवहार की भाषा से भिन्न होती है। कवि अपने कथ्य को पाठक तक प्रेषित करने के लिए भाषा को यथार्थ रूप में प्रयुक्त करता है तथा भाषा के सभी सम्भव स्रोतों का उपयोग कर लेना चाहता है। सामान्यतः कविता में उपलब्ध कठिन शब्द और जटिल वाक्य विन्यास यादृच्छिक नहीं होते, वरन् कवि की भाषा के सभी सम्भावित अनुक्रमों (Possible sequences) का उपयोग कर अपनी अनुभूति को प्रेषित करने की आकांक्षा के परिणाम होते हैं। कविता में शब्द-प्रयोग की भी यही स्थिति है – कविता भाषा के सामान्य नियमों का अतिक्रमण करती है। कवि देश और काल की सीमा से मुक्त होकर शब्द-चयन करता है। नए कवियों की भाषा में यह स्वच्छन्द शब्द-ग्रहण देखा जा सकता है। एज़रा पाउन्ड और टी० एस० इलियट ने गद्यात्मक संवाद और सामान्य बोलचाल की भाषा का अत्यधिक प्रयोग किया है, हिन्दी के नए कवियों में भी वह प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है।

सृजनधर्मी कवि अनिवार्यतः भाषा का रचनात्मक प्रयोग करता है। कवि विशिष्ट होता है, सामान्य से पलायन करता है, इसलिए एक स्तर पर रचनात्मक आवेग को जीर्ण और पारम्परिक काव्य-रीतियों से पलायन कहा जा सकता है। भाषा की सामर्थ्य को पुनः जाग्रत करने के लिए कवि सामयिक भाषा स्रोतों का संधान करता है। सम्भवतः इसीलिए इलियट ने प्रत्येक कविता क्रांति को सामान्य भाषा की ओर प्रत्यावर्तित कहा है।[१] सामान्य भाषा की ओर प्रत्यावर्तित होने के दूरगामी प्रभाव हुए हैं। इस धारणा ने काव्यात्मक भाषा और सामान्य भाषा के पृथक् होने के पारम्परिक विचार को ध्वस्त किया है। अब कवि अकाव्यात्मक स्रोतों से शब्द-चयन करता है। १९५० की अंग्रेजी कविता में बोलियों के शब्दों का आधिक्य है। भारत की नई कविता, नंगी-भूखी पीढ़ी की कविता और अकविता में भी गद्य के शब्दों और दैनिक जीवन के अश्लील परिदृश्यों के प्रति आग्रह है।

यदि कवि भाषा की पूर्वतः स्थापित सामर्थ्य का मौलिक प्रयोग करता है और इस सामर्थ्य से आगे जाकर नए संप्रेषण की सम्भावना प्रस्तुत करता है तो वह निश्चय ही भाषा का रचनात्मक प्रयोग करता है। डिलन थामस का एक प्रसिद्ध प्रयोग है— 'a grief ago' यह प्रयोग भाषा के सामान्य प्रयोगों से भिन्न है। थामस ने grief को कालवाचक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त किया है। 'a year ago, a minute ago' आदि सामान्य प्रयोग हो सकते हैं, पर 'a grief ago' में भाषा के सामान्य नियम को भंग किया गया है।

कवि नूतन शब्दों का आविष्कार करके, वाक्य-विन्यास में वैचित्र्य उत्पन्न करके, भाषा के परम्परागत मार्ग से विपथन करता है। कभी कवि की भाषा सामान्य पृष्ठभूमि में किसी प्रयोग को विशेष दीप्ति के साथ इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि पाठक का ध्यान इसी प्रयोग पर केन्द्रित हो जाये। काव्य-भाषा के आधुनिक अध्ययन में इसे फोरग्राउंडिङ्ग[२] कहा जाता है। यह फोरग्राउंडिङ्ग भाषा के किसी भी अवयव का हो सकता है अथवा वाक्य-विन्यास द्वारा भी इस प्रकार का प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है।

आनन्दवर्धन ने इस दृष्टि से कविता की भाषा पर विचार किया है। आधुनिक काव्य भाषाविद् इस सत्य को स्वीकारते हैं कि कविता तथ्य कथन नहीं है। कविता

---

१. The music of Poetry, selected Prose, p. 58, Penguin Books, 1953.

२. Geoffrey N. Leech, A Linguistic guide to English Poetry, p. 56.

शब्दों के वाच्यार्थ तक नहीं होती, कविता के कथ्य तक पहुँचने के लिए, उस अर्थ को पहचानना होगा जो कविता के शब्दों द्वारा व्यंजित[1] होता है, यह अर्थ संरचना के गहनतम तल से उद्भूत होता है। इस अर्थ को प्रेषित करने के लिए ही कवि प्रयत्न करता है, इस प्रयत्न की प्रक्रिया में भाषा के पहले से स्थापित प्रतिमान टूटते हैं, नए स्थापित होते हैं। इसी प्रक्रिया में कवि विशेष प्रयोग करता है जो पारम्परिक भाषिक पृष्ठभूमि में नूतन और विचित्र प्रतीत होते हुए चमत्कार के आधार बनते हैं।

'आनन्दवर्धन की मान्यता के अनुसार कवि की अनुभूति ही प्रतीयमान अर्थ का रूप धारण करती है अतः वही कथ्य (content) है। अतः कवि को शब्द, और अर्थ का चयन इस प्रकार करना चाहिए कि प्रतीयमान अनुभूति व्यंजित हो सके। इस चयन-प्रयत्न में कवि को भाषा के विभिन्न अवयवों को विशेष रूप में प्रयुक्त करना पड़ता है।' नई शब्दावली में, उसे अपने प्रयोग को कविता की भाषा-भूमि के अग्रभाग में अथवा मुख्य भाग में उभारकर प्रयुक्त करना होगा। यह प्रयोग प्रतीयमान अर्थ का केन्द्र होगा इसके द्वारा प्रतीयमान के सौन्दर्य को हृदयंगम किया जा सकेगा। आनन्दवर्धन के अनुसार कविता के किसी भी अंश में व्यंजकत्व रह सकता है। संज्ञा, क्रिया, निपात आदि विशेष अर्थ सौन्दर्य की व्यंजना कर सकते हैं। यदि किसी काव्य में अनेक अवयवों का व्यंजकत्व हो तो फिर उसके सौन्दर्य का कहना ही क्या—

"एवंविधस्य व्यंजकभूयस्त्वे च घटमाने काव्यस्य सर्वातिशायिनी बन्धच्छाया समुन्मीलति। यत्र हि व्यंग्यावभासिन पदस्यैकस्यैव तावदाविर्भावस्तत्रापि काव्ये कापि बन्धच्छाया किमुत यत्र तेषां बहूनां समवायः"

कृत् प्रत्यय, तद्धित और वचन के व्यंजकत्व का उदाहरण महर्षि व्यास रचित निम्नलिखित श्लोक दिया गया है।

अतिक्रान्तसुखाः कालाः प्रत्युपस्थितदारुणाः।
श्वः श्वः पापीयदिवसा पृथिवी गतयौवना॥

इन वाक्य के अवयवीभूत सुबन्तादि का पृथक् पृथक् व्यंजकत्व-कविता के सन्दर्भ में उनका प्रयोग महत्त्व प्रदर्शित करने के लिए—प्रदर्शित किया जा रहा है। अवयवों के व्यंजकत्व का पूर्ण विवेचन भी आनन्दवर्धन ने किया है—

---

१ Peaty and Matchett, Poetry From Statement to Meaning, p 52

'सुबन्त' का व्यंजकत्व

सुबन्त और तिङन्त संस्कृत व्याकरण के अनुसार पदसंज्ञक हैं। इस प्रकार का विधान करने वाला पाणिनि का सूत्र 'सुप्तिङन्तं पदम् ।१।१।१४ है। सुप् प्रत्यय जिनके अंत में उन्हें 'सुबन्त' तथा तिङ् जिनके अंत में हो उसे तिङन्त कहते हैं। प्रातिपदिक में 'सु' आदि विभक्तियाँ लगती हैं। प्रत्ययभिन्न, धातुभिन्न तथा अर्थयुक्त सत्त्व प्रतिपादिक है। 'कृत्तद्धितसमासाश्च' सूत्र से कृदन्त तद्धित और समास की भी प्रातिपदिक संज्ञा होती है। प्रातिपदिक संज्ञा का फल 'सु औ·······' आदि विभक्तियों की प्राप्ति है। 'सु आदि २१ प्रत्यय हैं'। प्रथम 'सु' है अंतिम सुप् इससे प्रत्याहार बना सुप्। प्रथमा आदि सात विभक्तियाँ हैं, इनके तीन-तीन वचन के अनुसार इक्कीस रूप होते हैं, इसीलिए २१ प्रत्यय हैं। सूत्र 'प्रत्ययः' ३।१।१।। के द्वारा 'सु' आदि की प्रत्यय संज्ञा होती है।

'सुबन्त' संज्ञा शब्द होते हैं, ये किसी सत्त्व को व्यक्त करते हैं, जब विशेषण होते हैं तो संज्ञा शब्दों के अनुसार ही चलते हैं।

'सुबन्त' में इस प्रकार दो रूपिम होते हैं- एक मुक्त (Free) और दूसरा बद्ध (Bound)। बद्ध रूपिम की सहायता से मुक्त रूपिम के अर्थ में विशेषताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इस प्रकार दो रूपिमों के योग से व्युत्पादक व्याकरण के निश्चित नियमों से व्युत्पन्न रूप सुबन्त है और इसका कार्यफलन मुक्त रूपिम जैसा ही होता है। संस्कृत में वस्तुतः, प्रयोगात्मक भाषाओं जैसे रूपिम नहीं होते। प्रातिपदिक और प्रत्यय आधारभूत रूपिम हैं पर प्रयोग न तो प्रातिपदिक का होता न प्रत्यय का। दोनों के योग से पद बनता है और वही प्रयोगार्ह है। प्रातिपदिक के पद बनने में निश्चित नियमों के अनुसार अनेक रूप-स्वनिमिक (Morphophonemic) परिवर्तन होते हैं। अतः सुबन्त का व्यंजकत्व अर्थात् कविता के अर्थ की दृष्टि से कार्यफलन, रूपिम से अगले स्तर का है। आनन्दवर्धन ने सुबन्त के व्यंजकत्व का निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

तालैः शिंजद्वलयसुभगैः कान्तया नर्तितो मे।
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः ॥

(मेरी प्रियतमा द्वारा वलय के झङ्कारों से सुन्दर तालियाँ बजाकर नचाया गया तुम्हारा मित्र मयूर सन्ध्या काल में जिस (वासयष्टि) पर बैठता है।)

इसमें 'तालैः' सुबन्त का व्यञ्जकत्व कहा गया है। तालैः, ताल का बहुवचन है, अर्थात् अनेकविध, चतुरता पूर्ण तालों से। इस प्रकार के कथन से प्रिया की चातुर्य वैविध्यजनित भंगिमाओं के स्मरण से विप्रलम्भ का उद्दीपन होता है। अभिनव ने उसकी व्याख्या में लिखा है—

'तालैरिति बहुवचनमनेकविधं वैदग्ध्यं ध्वनत् विप्रलम्भोद्दीपकतामेति'

तिङन्त (क्रिया पद) का व्यंजकत्व

क्रिया, भाषा की विशेषता होती है, भाषा के प्रयोग-वैशिष्ट्य का उद्घाटन क्रिया-प्रयोग से होता है, क्रियापदों का समुचित प्रयोग काव्य में अपूर्व चमत्कार उत्पन्न करता है, कवि के हृदगत् भावों की संपूर्ण छटाएँ क्रियापद के सम्यक् प्रयोग से विकीर्ण होती है, संस्कृत व्याकरण क्रियापद को तिङन्त कहता है, क्योंकि भू आदि क्रिया रूपों में 'ति'[1] आदि प्रत्यय लगते है, 'ति' आदि जिनके अन्त में हैं, वे ही तिङन्त हैं, काव्यशास्त्र के सभी आचार्यों ने तिङन्त प्रयोग की महत्ता पर सोदाहरण विचार किया है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने व्यञ्जना के प्रसंग में, कुन्तक ने वक्रता के सन्दर्भ में और क्षेमेन्द्र ने औचित्यचर्चा में क्रियापद के वैशिष्ट्य पर समुचित चर्चा की है।

आनन्दवर्धन ने लिखा है 'सुबादि (सज्ञा आदि) का पृथक्-पृथक् तथा समवेत रूप में व्यञ्जकत्व महाकवियों की कृतियों में उपलब्ध होता है' 'सुबादि' में क्रियापद का भी संग्रह है, स्वयं आचार्य ने क्रियापद के व्यञ्जकत्व के विषय में लिखा है -

तिङन्तस्य यथा —

अपसर रोदितुमेव निर्मिते मा पुसय हते अक्षिणी मे ।
दर्शनमात्रोन्मत्ताभ्या याभ्या तव हृदयमेवरूप न ज्ञातम् ॥[3]

(दूर हटो (अपसर) रोने के लिए ही (रोदितुमेव) बने (निर्मित) मेरे अभागे नेत्रों (हते अक्षिणी मे) को विकसित मत करो, तुम्हारे दर्शन मात्र से उन्मत्त (दर्शनमात्रोन्मत्ताभ्यायाभ्या तव) जिन्होंने (नेत्रों ने) तुम्हारे वैसे हृदय (हृदयमेवरूप) को न जाना ।)

उपर्युक्त काव्य पंक्तियों में क्रियापदों—'अपसर' तथा 'मा पुसय' का ही विशेष चमत्कार है—नायिका की हृदगत ईर्ष्या इन्हीं पदों में व्यक्त होती है। 'मा पुसय' क्रियापद यह भी व्यंजित करता कि नायक के प्रति नायिका का इतना अनुराग है कि नायक के दर्शन मात्र से नायिका के नेत्र खिल उठते है, अब भी, नायक का दोष जानकर भी नायिका के नेत्र उसे देखकर अनायास ही विकच हो उठते हैं, तभी

---

१ सुप्तिङन्त पदम्

२ एषा च सुबादीनामेकैकशः समुदितानां च व्यञ्जकत्व महाकवीना प्रबन्धेषु प्रायेण दृश्यते—ध्वन्यालोक, (आ० वि), पृ० २६८

३ ध्वन्यालोक, वही पृ० २७५

उसे नायक का छल स्मरण हो आता है और वह कह उठती है—'अपसर' आदि। इस प्रकार इन काव्यपंक्तियों का चमत्कार इन क्रियापदों के प्रयोग में निहित है। आचार्य आनन्दवर्धन ने एक और उदाहरण दिया है, जिसमें क्रियापदों के द्वारा संभोग शृङ्गार की व्यंजना हुई है—

> मा पन्थानं रुधः अपेहि बालक अहो असि अह्रीकः।
> वयं निरिच्छाः शून्यगृहं रक्षितव्यं नः॥[1]

'रे नासमझ रास्ता मत रोको, हटो, अहो, तुम तो निर्लज्ज हो। हम परतन्त्र हैं क्योंकि हमें अपने सूने घर की रखवाली करनी है।'

इसकी व्याख्या में अभिनव ने कहा है—'इत्यथापेहीति तिङन्तमिदं ध्वनति तावदप्रौढो लोकमध्ये यदेवं प्रकाशयसि। अस्ति तु संकेतस्थानं शून्यगृहं तत्रैव आगन्तव्यमिति।

यहाँ 'अपेहि' का व्यंजकत्व बतलाया गया है। 'अपेहि' क्रिया पद है 'जाओ, घर सूना है वहीं आना।' 'जाओ के साथ यह भी कह दिया गया है कि मेरे गृह में कोई नहीं है, अतः वहीं आना।' परन्तु मुझे तो इसमें 'अपेहि' की अपेक्षा 'शून्यगृहं' 'मामकं रक्षणीयं' अधिक व्यंजक लगता है। वैसे 'अपेहि' में 'जाओ, अभी तो जाओ' का भाव है, जो 'फिर आना' व्यंजना करता है। यहाँ पद परस्पर व्यंजकत्व में सहायक हैं।

कारक का व्यंजकत्व

> अन्यत्र व्रज बालक स्नान्तीं किं मां प्रलोकयस्येतत्।
> भो जायाभीरुकाणां तटमेव न भवति॥

अभिनव ने लिखा है—'अन्यत्र व्रज बाल' अप्रौढबुद्धेः स्नान्ती मां किं प्रकर्षेणालोकस्येतत्। भो इति सोल्लुण्ठमाह्वानम्। जायाभीरुकाणां सम्बन्धितटमेव न भवति। अत्र जायातो ये भीरवः तेषाम् एतत्स्थानम् इति दूरापेतः सम्बन्ध इत्यनेन सम्बन्धेनेर्ष्यातिशयः प्रच्छन्नकामिन्याभिव्यक्तः।'

'हे अप्रौढ़ बुद्धि वाले बाल अन्यत्र चले जाओ, स्नान करती हुई मुझे क्यों घूर कर देखता है, अरे पत्नी से डरने वालों का यह तट नहीं होता, अर्थात् पत्नी से डरने वाला यहाँ नहीं आता। 'डरने वालों का' इस षष्ठ्यर्थ सम्बन्ध से प्रच्छन्न कामिनी ने ईर्ष्यातिशय व्यक्त किया है। व्यंग्य है 'तुम पत्नी से डरने वाले हो' और यह 'कारक' विभक्ति 'का' द्वारा व्यक्त है।

---

१. ध्वन्यालोकः, (आ० वि०, पृ० २७५

इसी पद में जायाभीरुकाणां में तद्धित प्रत्यय 'क' का व्यंजकत्व भी दिखलाया गया है। यह प्रत्यय अवज्ञातिशयार्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह शुद्ध रूपिम का व्यंजकत्व है। इस रूपिम ने अर्थ में चमत्कार उत्पन्न किया है। 'जायाभीरु' अपनी ही स्त्री से प्रेमवद्ध होने वाला कायर भीरु कुत्सित और अवज्ञा का पात्र है। अभिनव ने इसमें सपरिहास आह्वान माना है।

वृत्ति के अनुकूल योजना करने पर समास भी व्यंजक होते हैं।

निपात का व्यंजकत्व

किसी भी भाषिक व्यवस्था में निपात एक महत्त्वपूर्ण संरचना सम्बन्धी तत्त्व है—भारतीय आर्य भाषाओं में निपात के विविध प्रयोग सुरक्षित हैं। ऋग्वेद के प्राचीनतम मंडलों की भाषा से लेकर आर्य भाषा के आधुनिकतम अयोगात्मक रूप में भी निपात का निरवच्छिन्न प्रयोग मिलता है। प्रायः देखा जाता है कि निपात के सम्यक् प्रयोग से वाक्य में अपूर्व चमत्कार उत्पन्न हो जाता है इसके विपरीत निपात का अतिप्रयोग [illegible] वक्ता के अभिप्राय को भी भ्रष्ट कर देता है। अर्थ की दृष्टि से निपातों का महत्त्व असंदिग्ध है। स्वयं अर्थहीन होते हुए भी निपात में अर्थ चमत्कार उत्पन्न करने की क्षमता है। इस दृष्टि से निपात बद्ध रूपिम (Bound Morpheme) है, अर्थात् अन्य रूपिम के साथ प्रयुक्त होकर ही निपात-चमत्कारोत्पत्ति का कारण बन सकता है। [illegible] कोई अर्थ नहीं होता। प्रसंगानुकूलता से उसमें अर्थशक्ति उत्पन्न होती है। अन्य रूपिमों के साहचर्य में प्रकाशित होकर वह वक्ता के अभिप्राय को अभिव्यक्त करने में समर्थ होता है।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में निपात का भी विवेचन किया है, इससे 'निपात' की व्याकरणिक सत्ता का स्पष्टीकरण होता है। सम्पूर्ण पाणिनि अष्टाध्यायी की विशेषता है कि उसमें परिभाषाएँ कहीं नहीं दी गई हैं। जैसा कुछ भाषा में घटित होता है, वहाँ कहा गया है। निपात के सन्दर्भ में निम्नलिखित सूत्र कहा गया है

'चादयोऽसत्त्वे'[1]

जब 'च' आदि किसी सत्त्व का व्यक्त नहीं करते तब उनकी संज्ञा निपात होती है। इस सूत्र में निपात संज्ञा का ग्रहण इससे पूर्व के अधिकार सूत्र से होता है

'प्राग्रीश्वरान्निपाता'[2]

'च, वा, ह, एव, एवम्, नूनम्, शश्वत्, युगपत्, भूयस्, सूपत्, कूपत्, कुवित्, नेत्, चेत्, यत्र, तत्र, किंचित्, नह, हन्त, माकिम्, नकिम्, आकिम्, माङ्, नञ्,

१ ए० सी० वसु, पाणिनि अष्टाध्यायी, वाल्यूम १ बी० के० १ सी० एच० फोर पृ० १९०-१९३

२ वही

यावत्, तावत्, वौषट्, स्वाहा, ओम्, तुम्, तथापि, खलु, किल, अथ आदि के अतिरिक्त 'ओ', 'अ आ' इ ई उ ऊ : ए ऐ ओ औ, जब संयोजकों के कार्यफलन में प्रयुक्त होते हैं तब विविध भावों की अभिव्यक्ति करते हैं तथा इनका कार्यफलन सामान्य स्वरों से भिन्न होता है।

'प्र' आदि रूपिम भी निपात संज्ञक है जब वे किसी सत्त्व को व्यक्त नहीं करते :

'प्रादयः'[1]

'प्रादय' में 'प्र', परा', 'अप', 'सम्' 'अनु', 'अव', निस्, दुस्, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उत्, अभि, प्रति, परि और उप का ग्रहण किया गया है। इनका पृथक् परिगणन इसलिए किया गया है कि ये क्रिया के योग में उपसर्ग भी कहलाते हैं जब कि 'च' आदि उपसर्ग कभी नहीं [illegible]

किन्तु यही तत्त्व जब किसी सत्त्व (द्रव्य) [illegible] करते हैं तब इनकी निपात संज्ञा नहीं होती। एक ही [illegible] के युक्त निपात, प्रगृह्य कहलाता है। आङ् इसका अपवाद है, अर्थात् आङ् निपात है, इसमें एक ही [illegible] भी है पर इसकी प्रगृह्य संज्ञा नही है।

निपातः एकाच् [illegible] (प्रगृह्यम्)

'प्रगृह्य कहने का फल यह है कि तत्र [illegible] सन्धि के नियम प्रयोगार्ह नहीं होते। अन्यथा प्रगृह्य भी निपात ही है। आङ् को प्रगृह्य न कहने के भी चार फल हैं। (१) संज्ञाओं और विशेषणों के साथ प्रयुक्त होकर यह diminitive तत्त्व का कार्य संपादित करता है। आङ् में 'ङ्' इत्संज्ञक है, अतः आ + उष्णम् = ओष्णम् (थोड़ा गर्म)। इस उदाहरण में सन्धि कार्य हुआ है। यदि आङ् को प्रगृह्य कहा जाता तो यह संधि नही हो सकती थी। (२) आङ्, क्रियाओं के साथ पूर्व सर्ग के रूप में भी प्रयुक्त होता है तब यह 'निकटता' का भाव व्यक्त करता है।

आ + गम् = आगम्, आ + इहि = एहि

(३) सीमा व्यक्त करने के अर्थ में भी 'आङ्' का प्रयोग होता है : आजन्मन् = जन्म से ही। (४) अतिरिक्त सीमा (मर्यादा) व्यक्त करने के लिये भी 'आङ्' प्रयुक्त होता है : आध्ययनात् = जब तक पठन प्रारम्भ होता है। उपर्युक्त चार अर्थों के अतिरिक्त जब 'आ' का प्रयोग होता है तो वह प्रगृह्य ही कहलाता है, जैसे दुःख की अभिव्यक्ति में—'आ एवं किलासीद्' अथवा 'आ एवं मन्यसे' आदि प्रयोगों में 'आ' प्रगृह्य ही है—अतः संधि कार्य नहीं हुआ है।

---

१. वही, पृ० १६३

निपात भी अव्यय ही है—उनका रूप सदैव एक-सा रहता है। महर्षि यास्क ने उपसर्गों का निपात से पृथक् परिगणन किया है

'उपसर्गनिपाताश्च'

यह इसीलिए कि उपसर्ग क्रिया के योग में होते हैं, निपात का ऐसा उपयोग नहीं हो सकता। अतएव निपात एक व्याकरणिक तत्त्व है, अर्थनिर्धारण में इसका विशेष महत्त्व है। भारतीय काव्यशास्त्र-परम्परा के तीन प्रमुख सम्प्रदायों ने निपात प्रयोग का महत्त्व बतलाया है। यहाँ इन सम्प्रदायों के तत्सम्बन्धित प्रसंग दिये जा रहे हैं।

ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में व्यंजक की दृष्टि से विचार करते हुए इस भाषिक अवयव (निपात) की व्यंजकता भी स्पष्ट की गई है। आनन्दवर्धन ने नैपातिक व्यंजकत्व का निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः॥

(एक साथ ही उस हृदयेश्वरी प्रिया के साथ यह असह्य वियोग आ पड़ा और उस पर नए बादलों के उमड़ आने से आतपरहित मनोहर (वर्षा के) दिन होने लगा। (अब यह सब कैसे सहा जायगा)

उपर्युक्त उद्धरण में निपात 'च' का दो बार प्रयोग हुआ है—वियोग के साथ वर्षा के मनहर दिन आ गए हैं—यहाँ ये दो निपात विप्रलम्भ शृङ्गार को व्यक्त करते हैं।

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु॥[1]

(बार बार अंगुलियों से ढके हुए अधरोष्ठ वाला और निषेधपरक शब्दों की विकलता से मनोहर तथा कन्धे की ओर मुड़ा हुआ सुन्दर पलकों वाली (प्रियतमा शकुन्तला) का मुख किसी प्रकार ऊपर उठा तो लिया गया परन्तु चूम नहीं पाया।)

यहाँ 'तु' निपात है—इससे न चूमने के कारण उत्पन्न पश्चाताप की भावना तथा चुम्बन कर सकने से उत्पन्न कृतकृत्यता के भाव व्यंजित हो रहे हैं। निपात द्योतक ही होते हैं जो अर्थ उनके कारण व्यक्त होता है निपात उसके वाचक नहीं होते। वैयाकरण भी निपातों को द्योतक ही मानते हैं—

'द्योतकाः प्रादयो येन निपाताश्चादयो यथा' वै० भू०

अर्थों के प्रति निपातों का द्योतकत्व प्रसिद्ध है, इसीलिए आनन्दवर्धन ने कहा है

---

१ ध्वन्यालोक, (आ० वि०) पृ० २७७

'निपातानां प्रसिद्धमपोह्य द्योतकत्वं रसापेक्षया उक्तमिति द्रष्टव्यम्'[1]

यह आवश्यक नहीं है कि एक ही निपात का प्रयोग हो। रस के अनुरूप होने पर दो-तीन निपातों का एक साथ प्रयोग भी हो सकता है, जैसे :

'अहो बतासि स्पृहणीयवीर्यः'[2]

(अहा, तुम स्पृहणीय पराक्रम वाले हो।)

उपर्युक्त उद्धरण में दो निपात 'अहो' और 'बत' हैं, इनसे कामदेव के पराक्रम के अलौकिकत्व की व्यंजना होती है।

भाषा के लघुतम अवयव के कुशल प्रयोग से भी काव्य में अमित चमत्कार उत्पन्न हो सकता है। निपातजनित चमत्कार को वक्रोक्ति सिद्धान्त के स्थापक आचार्य कुन्तक ने निपातवक्रता कहा है। उन्होंने भी ध्वन्यालोककारउद्धृत 'मुखमं-सविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्या ' आदि में 'मु' के प्रयोग का वैशिष्ट्य दिखलाया है, इसके अतिरिक्त कुन्तक ने एक और उदाहरण दिया है—

वैदेही तु कथं भविष्यति,
हा हा हा देवि धीरा भव।

यहाँ भी तु निपात है—वैदेही तो स्वयं इतनी कोमल है—उसका क्या होगा ? इस प्रकार 'तु' शब्द राम की व्यथा को और भी प्रगाढ़ कर देता है।

कुन्तक की प्रतिभा के संबन्ध में डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है : 'वे शब्दार्थ के सूक्ष्म रहस्यों से सर्वथा अवगत थे—अतएव उन्होंने बड़े विशद रूप में यह प्रतिपादित किया है कि प्रतिभावान् कवि शब्दार्थ के छोटे-से-छोटे अवयवों में वक्रता का प्रयोग कर अपने वाक्यों को चमत्कारपूर्ण बना देता है। यह कार्य प्रतिभा के लिए इतना सहज होता है कि एक ही वाक्य में अनेक वक्रता—भेदों का प्रयोग अनायास ही हो जाता है।'[3]

औचित्यसिद्धान्त के प्रस्तोता आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी भाषा के इस लघुतम अवयव निपात के प्रयोग-औचित्य की चर्चा की है, निपात-औचित्य को प्रदर्शित करने के लिये यह कारिका कही गई है :

उचितस्थानविन्यस्तैर्निपातैरर्थसंगतिः।
उपादेयैर्भवत्येव सचिवैरिव निश्चला ॥२५॥[4]

उपादेय और उचित स्थान पर प्रयुक्त निपात से अर्थसंगति होती है, जैसे अच्छे मन्त्रियों की सहायता से अर्थ गति निश्चल होती है अर्थात् अर्थकोष अक्षय

---

१. ध्वन्यालोक, पृ० २७७

२. वही, पृ० २८०

३. हि० व० जी० पृ० ८४-८५

४. क्षेमेन्द्र, औचित्य विचर्चा, चौखम्बा, पृ० १४०

होता है। इस कारिका में दो बातों पर बल दिया गया है (१) निपात का प्रयोग उचित स्थान पर ही स्पृहणीय है। (२) इससे अर्थ सगति होती है, अर्थ असंदिग्ध होता है

काव्यार्थस्य संगतिरसंदिग्धा भवति।'[1]

क्षेमेन्द्र ने निपात के उचित एवं उपादेय प्रयोग को प्रदर्शित करने के लिए स्वरचित मुनिमतमीमांसा रचना से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है

यत्रं स्वर्गसुखार्थिन क्रतुशतै प्राज्ययज्ञाना जडा
स्तैया नाकपुरे प्रयाति विपुल कालो क्षणार्थं च तत्।
क्षीणे पुण्यधने त्यिजन्ति तु यथा वेश्यागृहे कामिना
तस्मान्मोक्षसुख समाश्रयत भो ? सत्य च नित्य च यत्॥

(स्वर्गसुख चाहने वाले सभी मूर्ख सैकडो यज्ञ करके स्वर्ग जाते हैं और बहुत दिनों तक वहाँ वास भी करते हैं परन्तु पुण्य क्षय हो जाने पर उसी तरह वहाँ से खदेड दिए जाते हैं जैसे धन समाप्त हो जाने पर वेश्यागृहों से कामुक पुरुष। इसलिए हे मूढो! मोक्ष सुख की ही कामना करो, जो कि सत्य भी है और नित्य भी।)

उपर्युक्त उद्धरण में स्वर्ग सुख को वेश्याभोग की भाँति विरस एवं अस्थायी कहा गया है तथा मोक्ष सुख की स्थायिता और सत्यता व्यक्त की गई है। यह अभिव्यक्ति 'च' निपात के प्रयोग में हुई है सत्य च नित्य च यत्।

जैसे निपात का समुचित प्रयोग काव्य को सौन्दर्य से युक्त कर देता है वैसे ही रंग का एक बिन्दु सम्पूर्ण चित्र को एक स्वर सम्पूर्ण गीत को अपूर्व सौन्दर्य से युक्त कर देता है।

उपसर्ग का व्यंजकत्व

उपसर्गों के उचित प्रयोग से भी काव्यवस्तु में चमत्कार उत्पन्न होता है। उपसर्ग भी काव्यात्मक संरचना के तत्त्व (Entity) हैं—उनसे उत्पन्न चमत्कार को प्रकट करने के लिए आनन्दवर्धन ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

नीवारा शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामध
प्रस्निग्धा क्वचिदिङ्गुदीफलभिद सूच्यन्त एवोपला।
विश्वासोपगमादभिन्नगतय शब्द सहन्ते मृगा
तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दलेखाङ्किता॥

(शुकयुक्त कोटरो के मुख से गिरे हुए नीवारकण वृक्षों के नीचे बिखरे पड़े हैं। कहीं कहीं चिकने पत्थर हैं जो इस बात की सूचना देते हैं कि उनसे इंगुदीफल तोड़ने का काम लिया जाता है। सर्वथा आश्वस्त होने से, आने वालों के शब्द को

---

१ वही

सुनकर भी मृगों की गति में कोई परिवर्तन नहीं होता है और जलाशयों के मार्ग वल्कलवस्त्रों से टपकती हुई बूँदों से रेखांकित है।)

उपर्युक्त उदाहरण में 'प्रस्निग्धा' में 'प्र' उपसर्ग है। यह स्निग्धता के प्रकर्ष को सूचित करता हुआ इंगुदीफलों की सरसता का द्योतक है, आश्रम के सौन्दर्यातिशय को व्यक्त करता है। एक साथ अनेक उपसर्गों का प्रयोग भी रसाभिव्यक्ति के अनुकूल होने से निर्दोष है। 'मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्तम्' यहाँ सम्+उप+आ इन तीन उपसर्गों का प्रयोग भगवान् के लोकानुग्रहेच्छा के अतिशय का अभिव्यंजक है।

काल का व्यंजकत्व

समविषमनिर्विशेषाः समन्ततो मन्दमन्दसंचाराः।
अचिराद्भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लङ्घ्या॥

(सम-विषम की विशेषता से रहित से अत्यन्त मन्दसंचारयुक्त सारे मार्ग शीघ्र ही मनोरथ से भी अगम्य हो जाएँगे।)

यहाँ 'भविष्यन्ति' (हो जाएँगे) मे प्रत्यय काल विशेष का अभिधान करने वाला है—यह गाथार्थ प्रवास विप्रलम्भ शृङ्गार के विभाव के रूप में विभाव्यमान होकर रसवान् हो जाता है। यहाँ प्रत्ययांश की व्यंजकता है। कहीं प्रकृत्यंश भी व्यंजक हो जाता है—

तद् गेहं नतभित्ति मन्दिरमिदं लब्धावकाशं दिवः
सा धेनुर्जरती, चरन्ति करिणामेता घनाभा घटाः।
स क्षुद्रो मुसलध्वनिः कलमिदं संगीतकं योषिता-
माश्चर्यं दिवसैर्द्विजोऽयमियतीं भूमि समारोपितः॥

यहाँ दिनों से (दिवसैः) प्रकृत्यंश ही द्योतक है—

(वह टूटी-फूटी दीवारों का घर, और (कहाँ आज) वह आकाशचुम्बी महल, (कहाँ इसकी) बूढ़ी गाय (और कहाँ आज) ये मेघों के समान (काली-काली और ऊँची) हाथियों की पंक्तियाँ झूम रही है। (कहाँ) मूसल की क्षुद्र ध्वनि, और (कहाँ आज सुनाई देने वाला) वह सुन्दरियों का मनोहर संगीत। आश्चर्य है, इन (थोड़े से) दिनों में ही इस ब्राह्मण की इतनी अच्छी दशा हो गई है।)

जिस प्रकार काव्य के माध्यम भाषा में निपातादि का व्यंजकत्व पूर्व पृष्ठों में कहा गया है इसी प्रकार अन्य कलाओं में भी छाया, उभार, प्रकाश, रंग, रेखा, स्वर आदि का विशेष व्यंजकत्व होता है। अतः यह प्रमाणित होता है कि आनन्दवर्धन प्रतिपादित व्यंजकत्व की धारणा केवल काव्य के लिए ही नहीं कला मात्र के लिए संगत है।

अध्याय अष्टम

ध्वनि सिद्धान्त और समाज-मनोवैज्ञानिक सदर्भ

आधुनिक समाज-मनोवैज्ञानिक शोध कथ्य की प्रतीयमानता को काव्यसृजन-प्रक्रिया का परिणाम प्रतिपादित करती है। कवि की भावनाओं इच्छाओं से प्रेरित काव्य-कला में अनुभूतिरूप कथ्य वाच्यत व्यक्त नहीं होता। मनोविज्ञान के अन्तर्गत काव्य-कला की सृजन-प्रक्रिया के मूलभूत तत्वों के सम्बन्ध में अनुसधान किया गया है। यह अनुसधान प्रमाणित करता है कि कला का सृजन ऐसी प्रक्रिया है जिसमें कवि की भावनाएँ अपने अतिम रूप में प्रतीयमान होकर व्यक्त होती है। इस विचार परम्परा से प्रभावित अनेक विद्वानों ने यहाँ तक कहा कि भाव की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति सम्भव ही नहीं है। डा० नगेन्द्र जब भाव की कलात्मक अभिव्यक्ति को कविता कहते हैं तो सम्भवत उनका भी यही मन्तव्य है। कविता के बाह्य तल पर प्रतीत होने वाले अर्थ की सहायता से जब सहृदय आतरिक अर्थ तक पहुँचता है तो उस अज्ञात के आविष्करण से निष्पन्न चमत्कृति का अनुभूति होती है—यही चित्तविस्ताररूपा चमत्कृति कविता के आनन्द का आधार है।

काव्य का प्रेरणा तत्त्व (आवेग)

किसी भी रचना का प्रेरणा-स्रोत रचयिता की इच्छाओं, कामनाओं और महत्त्वाकाक्षाओं में निहित माना गया है।[1] भावात्मक आवेग के अभाव में रचना असभव है। आवेग की तीव्रता कवि की इच्छा महत्त्वाकाक्षाओं की तीव्रता पर निर्भर है। यदि व्यक्ति मानस एकाकी स्वतन्त्र और निर्बाध होता तो उसकी सभी कामनाएँ पूर्ण हो सकती थी। प्रत्येक देश की प्राचीन परम्पराओं में ऐसे सर्वशक्तिसम्पन्न

---

१ Thus all creative artists especially writers and poets, strive to express their emotional interpretations of life in graphic and expressive images in their works because it is their ideological interpretation of life imbued with emotion and pathos It is the later which spurs them to creat (International Journal of Social Sciences Vol 18_p 542)

उपादानों का वर्णन है जो अपनी इच्छाओं को तत्काल पूर्ण करने में समर्थ थे। ये उपादान मानवेतर ही थे। मानव उस प्रकार अपनी अभिलाषाओं को पूर्ण कर पाने में असमर्थ हैं। मानव की निर्बाध कल्पनाओं के समक्ष भौतिक एवं मानसिक बाधाएँ प्रतिरोध उत्पन्न करती है।[१] इसके अतिरिक्त 'व्यक्ति' होते हुए भी मानव समाज का अंग है। समाजशास्त्री जार्ज एच० मीड का कथन है कि व्यवस्थित सामाजिक दृष्टिकोण और सामाजिक संस्थाओं के अभाव में किसी परिपक्व व्यक्तित्व की कल्पना व्यर्थ है।[२] अतः व्यक्तित्व को विकसित करने में समाज और उसकी संस्थाएँ महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। प्रमुख समाजशास्त्री चार्ल्स एच० कूले (C. H. Cooley) ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि व्यक्ति और समाज दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं, वरन् एक इकाई के दो परिदृश्य हैं। मानव-जीवन इन्हीं दो परिदृश्यों की कहानी है जिसमें एक ओर व्यक्ति का व्यवहार और दूसरी ओर मानवों का सामूहिक व्यवहार है।[३]

समाज, व्यक्ति से कुछ अपेक्षाएँ रखता है, इसके विपरीत व्यक्ति के आवेग सन्तुष्ट और पूर्ण होना चाहते हैं। फलतः सामाजिक अपेक्षाओं और वैयक्तिक आवेगों में द्वन्द्व होता है। मानव का आचरण, कर्म, अभिव्यक्ति और विचार इन्हीं दो तत्त्वों के द्वन्द्व के परिणाम हैं। प्रत्येक व्यक्ति में कतिपय आवेग होते हैं, इन आवेगों से सम्बद्ध अनुभूतियाँ होती हैं। इन्हें पूर्ण करने के लिए व्यक्ति सुविचारित योजनाओं का आश्रय लेता है। सामाजिक सत्ता स्वनिर्मित परम्पराओं, रूढ़ियों तथा सत्ता के अन्य विविध रूपों द्वारा व्यक्ति की महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने वाली योजनाओं के मार्ग में प्रतिरोध उत्पन्न करती है।[४] इससे यह सिद्ध होता है कि व्यक्ति उतना स्वतन्त्र

---

१. It cannot pick just what it wants and automatically leave the idifferent and adverse out of account. But the impulsion also meets many things on its out bound course that deflect and oppose it.

John Deway, Art as experience, p. 59

२. In any case, without social institutions of some sort without the organized social attitudes and activities by which social institurions are constituted, there could be no full nature individual selves or personalities at all.

Reading in Social Psychology, p. 10-11

३. Cuber and Harrof, Reading in Sociology, p. 220

४. John Deway, Art as experience, p. 59, 1958

नहीं है जितना वह सदैव स्वय को मानता है ।[1] वस्तुत सामाजिक नियन्त्रण एक प्रकार के समाजीकरण की प्रक्रिया का ही उत्पाद्य है, इस प्रक्रिया में व्यक्ति समाज स्वीकृत प्रतिमानों के अनुसार व्यवहार करना सीखता है ।[2] सामाजिक नियन्त्रणजन्य विधि-निषेध-मूलक प्रतिरोध कभी बाह्यत उपस्थित होते हैं और कभी व्यक्ति मानस इन्हें स्वय ग्रहण कर लेता है । इस द्वितीय स्थिति मे प्रतिरोध व्यक्ति-मानस में क्रियाशील होकर उसकी कर्तव्य-भावना तथा चेतना को प्रभावित करता है और ऐसी स्थिति मे 'मानव का आचरण इस समाज सत्ता और मूल आवेग के समायोजना का परिणाम होता है ।'[3] इस दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होगा कि वह समन्वय सर्वश्रेष्ठ है जिसमे वैयक्तिक वैशिष्ट्य की अभिव्यक्ति और सामाजिक अपेक्षाओं का सन्तुलन हो । व्यक्ति का आचरण उसकी सगति, सस्कार अथवा शिक्षा और प्रशिक्षण के अनुसार ही होता है । नैतिक प्रश्नों का समाधान भी—जहाँ तक उसे स्वतन्त्रता है—व्यक्ति अपने मन के अनुसार ही करना चाहता है । वैयक्तिक आवेग स्वातन्त्र्य और अधिकार की भावना को उत्प्रेरित करता है, सामाजिक सत्ता नियमन तथा कर्तव्य की प्रेरक है । आधुनिक समाज-मनोवैज्ञानिक यह स्वीकार करते हैं कि अत्यधिक विकसित समाज के व्यक्ति का द्वन्द्व केवल आदिम आवेगों का द्वन्द्व ही नहीं है वरन् व्यक्तियो के व्यक्तित्व और निश्चित सामाजिक सरचना का द्वन्द्व भी है । इन व्यक्तित्वो और सामाजिक सरचनाओ का स्वरूप अत्यन्त जटिल है, इनके अनेक परिदृश्य हैं ।[4] इस प्रकार विकसित समाज के व्यक्ति का द्वन्द्व अपने उसके व्यक्तित्व के ही अनेक आयामो में होने वाला द्वन्द्व है—जो व्यक्तित्व-विभाजन का कारण बनता है, और जो समाज के अन्य व्यक्तियों से होने वाला द्वन्द्व भी है ।

मानव-प्रकृति के दो अश

नृतत्त्वशास्त्री मानव-प्रकृति के दो अश प्रतिपादित करते हैं

(१) मूल अथवा सहजात प्रकृति

(२) गौण अथवा अर्जित प्रकृति

आवेग मानव की सहजात और मूल प्रकृति के अश हैं । आदिम मनुष्य असयत एव असन्तुलित आवेगों का पुज था । स्वनियन्त्रण का दीर्घ प्रशिक्षण सभ्यता और

---

१ James F Royce, Man and his nature, p. 188 Mc Graw Mill 1961

२ Manorama, Freud On man and society, p 147

३ F C Prescott, The Poetic mind. p 236, 1959

४ Alfred R Lindesmith and St rauss Readings in social Psychology, p 11

संस्कृति के रूप में विकसित हुआ। गौण प्रकृति का अर्जन इसी प्रक्रिया में होता है। मानव यह जानना चाहता है कि दूसरों का उसके विषय में क्या मत है—वह इस मत के प्रति आदर प्रकट करता है—इसे मान्यता देता है। इस गौण प्रकृति के कारण ही मनुष्य कर्तव्य-भावना के प्रति संवेदनशील होता है। इस प्रक्रिया को समझने के लिये बच्चे के व्यवहार को उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है।[1] आवेगों की दृष्टि से बालक और आदिम मानव में अधिक अन्तर नहीं होता। सामाजिक कर्तव्यों से एकदम निरपेक्ष बालक अपनी भावनाओं को अनियन्त्रित अभिव्यक्ति देता है—उन्हें पूर्ण किए बिना शान्त नहीं होता। क्रमशः बालक कर्तव्य-व्यवस्था तथा आचरण के विषय में नियामक सत्ता का अनुभव करता है।[2] उसकी शिक्षा उसके आवेगों का नियन्त्रण ही है जिसे समाज ने अपने हित में प्रवृत्त किया है।[3] युवावस्था को आयु तब तक झुकाती है जब तक युवावस्था स्वयं आयु न बन जाय। तब व्यक्ति व्यक्ति नहीं रहता, समाज का अंग बन जाता है। फिर वह समाज की प्रभुसत्ता को दूसरों पर प्रभावी कर सन्तुष्ट होता है। इस प्रकार प्रगतिशील और जीवन्त युवा शक्ति सत्ता द्वारा क्रमशः अतिवृद्ध कर दी जाती है—इस प्रक्रिया का अन्त मृत्यु में होता है।

कवि सामान्य मानव से अधिक संवेदनशील होने के कारण नियंत्रण की पीड़ा को अपेक्षाकृत तीव्रता से अनुभव करता है। वह बाधाओं को झाड़ फेंकना चाहता है। पर, सृष्टि में इस द्वन्द्व से मुक्ति नहीं मिल सकती, यह मानव की नियति है।

रैंक ने सर्वप्रथम यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया था कि कला वैयक्तिक और सामूहिक सिद्धान्तों के द्वन्द्व का प्रतिफलन है। इस दृष्टि से कला में समाजस्वीकृत रूप का प्रयोग होता है अतः उसे केवल आत्माभिव्यक्ति नहीं कहा जा सकता। कला सामूहिक आदर्शों की अभिव्यक्ति भी नहीं है क्योंकि कलात्मक सृजन कलाकार की

१. 'When the individual is born, he is at first only conscious of the being from whose womb he has emerged··· The infant is moved by the blind instincts of sex and hunger, the satisfaction of appetites, the creation of pleasure. (Art and Society : Herbert Read, p. 81. Faber Publication)

२. Ibid, p. 81.

३. F. C. Prescott. The Poetic Mind p. 237

४. International Encyclopedia of the Social Sciences Vol. 3, p. 444

विशुद्ध वैयक्तिक कामनाओं को तुष्ट करता है। वैयक्तिक अपेक्षाओं और सामूहिक सिद्धान्तों का द्वन्द्व कलाकार की सृजनशीलता का समानुपाती है। रैंक की यह स्थापना फ्रायड को निरस्त करती है। फ्रायड के अनुसार कलाकार स्नायुरोगी के समान है, वह समाज में संतुलन नहीं कर पाता। रैंक की मान्यता है कि कलाकार सृजनशील होने के कारण समाज से निरन्तर द्वन्द्व की स्थिति में रहता है। मनोविज्ञान के प्रयोगसिद्ध प्रमाणों में रैंक की यह धारणा प्रमाणित हुई है।

प्रेस्काट ने इस सन्दर्भ में वर्ड्सवर्थ का उदाहरण दिया है—वर्ड्सवर्थ युवावस्था में आत्मस्वातन्त्र्य के आनन्द में विस्मृत रहा, जब वह वृद्धावस्था को प्राप्त हुआ, उसने नियन्त्रण की शृङ्खलाओं को आदर की दृष्टि से देखा—उन्हें धन्यवाद दिया। इस कवि ने अपने जीवन में सत्य का अनुभव किया था, आवेग और सत्ता के द्वन्द्व को झेला था। यह द्वन्द्व और संतुलन वर्ड्सवर्थ की 'ओएम्स आव रिजिग्नेशन' में व्यक्त हुआ है।

आवेग और नियन्त्रण दो परस्पर विरोधी तत्त्व हैं, पर कविता की रचना में इन दोनों का ही महत्त्वपूर्ण दायित्व है।[1] हर्बर्ट रीड ने इन्हें इच्छा और सामाजिक अपेक्षा कहा है। वैयक्तिक आवेग कविता के लिए प्रेरणा प्रस्तुत करता है, सत्ता का नियन्त्रणजन्य अंकुश उसे कलात्मक होने को बाध्य करता है। कला के लिए एक सहृदय भावक की अपेक्षा विवादास्पद नहीं है। यह सहृदय जिस भाषा, छन्द, रूप और शैली की अपेक्षा करता है, कवि उन्हीं का प्रयोग करता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास का पर्यालोचन यह प्रमाणित करता है कि प्रत्येक युग में कविता की शैली से सम्बन्धित विशेष रूपाकार प्रचलित रहे हैं। रीतिकालीन कवित्त और सवैया प्रेम सर्वविदित हैं। काव्य अतीत से निर्मित रूप और शैली विषयक धारणाओं का प्रयोग कवि स्वभावतः करता है। जहाँ तक काव्य प्रेरणा का प्रश्न है, वह कवि में सहजात ही होती है, पर कला के लिये प्रशिक्षण आवश्यक है।[2] इसीलिए संस्कृत काव्यशास्त्र काव्य के हेतु रूप में शक्ति, निपुणता और अभ्यास[3] को मान्यता देता है। आचार्य

1 There are two factors in every artistic situation the will and the requirements of society

2 प्रेस्काट, द पोएटिक माइन्ड, पृ० २३८

3 शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

"शक्तिः कवित्वबीजरूप संस्कारविशेष, या विना काव्यं न प्रसरेद्, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्। काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरिति त्रयः समुदिताः, न तु व्यस्ता तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः"

काव्यप्रकाश (आ० वि०) प्र० उ० पृ० ६६

मम्मट ने शक्ति को सहजात संस्कार कहा है और काव्य-रचना का अनिवार्य हेतु माना है। इसके अभाव में काव्य सम्भव ही नहीं है, यदि कोई प्रयत्न करे भी तो उपहास का पात्र बने। निपुणता इस विस्तृत जगत् के अध्ययन-अवलोकन से तथा अभ्यास काव्य को जानने-समझने वाले महानुभावों की शिक्षा से किया जाता है। शक्ति, निपुणता और अभ्यास तीनों समवेत रूप में काव्य-हेतु है। इसका आशय यह है कि उत्तम काव्य की रचना हेतु तीनों ही आवश्यक हैं, कोई एक अथवा दो नहीं। इन तीनों में से प्रथम प्रेरणा का स्रोत है—शेष दो उसे कलात्मक रूप प्रदान करते हैं। स्वभावतः आवेग का पक्षधर, कवि, पारम्परिक काव्य-नियमों का भंजन करता है, नए रूप रचता है, उनका औचित्य प्रतिपादित करता है। ये नये नियम पुनः आलोचकों द्वारा कविता पर आरोपित किये जाते हैं—निकष बनते हैं।

कवि अन्ततः मानव है अतः उसकी मूल अथवा प्रथम प्रकृति वैयक्तिक भावनाओं को व्यक्त करने के लिए उत्सुक होती है, परन्तु गौण अथवा अर्जित प्रकृति उसे अपनी भावनाओं को काव्य-कला की सीमाओं में अभिव्यक्त करने को बाध्य करती है। कविता के लिये दोनों तत्त्व आवश्यक हैं—प्रेरक आवेग भी और कलात्मकता भी। प्रेरक आवेग के अभाव में कृति मात्र कारीगरी होगी और कला के अभाव में नितान्त वैयक्तिक विलास, जो समाज के लिए व्यर्थ होगा।

कविता के उपरिकथित दोनों तत्त्वों का उल्लेख प्रकारान्तर से अरस्तू ने भी किया है। जान केबल John Keble) ने कहा है 'कविता अपने छन्द रूप तथा विषय-वस्तु में मानव-प्रवृत्ति की दो सहजात आवश्यकताओं से नियम्य है।'[1] अतः कविता से सम्बन्धित ये दोनों तत्त्व सुविचारित हैं।

चार्ल्स लैम्ब की मान्यता है कि कवि अपने अभिव्यंग्य विषय से आक्रान्त नहीं होता—उस पर अधिकार रखता है। कवि का स्वाभाविक विवेक उसे विषयन में मार्ग दिखलाता है।[2] कवि को अपने प्रेरणास्पद आवेगों और सामाजिक अपेक्षाओं में समन्वय करना पड़ता है। शेली तथा वाल्ट ह्विटमैन ने एक प्रकार का समन्वय किया था, पारम्परिकता में विश्वास करने वाले पोप और टेनीसन ने दूसरे प्रकार का। हिन्दी के छायावादी कवियों में आवेग और राज्यसत्ताजन्य नियन्त्रण का द्वन्द्व स्पष्ट है।[3] छायावाद का झिलमिल रूप-शिल्प और व्यंजनात्मक भाषा इसी समन्वय का परिणाम है। द्विवेदी युग के घोर नैतिकताजन्य नियन्त्रण ने ही छायावादी नारी के रूप को अमूर्त रूप में अभिव्यक्त होने को बाध्य किया। परम्पराओं को

---

१. प्रेस्काट द पोएटिक माइन्ड, पृ० २३९

२. वही

३. डा० वार्ष्णेय, बीसवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य : नये सन्दर्भ, पृ० १९२

बोधन का पक्षधर होते हुए भी प्रयोगवादी और नया कवि कहीं-न-कहीं समझौता करता है। आवेग और नियन्त्रण का सन्तुलन सर्वत्र दिखलाई पड़ता है।[1] आलोचक इस सन्तुलन की सन्तोषप्रदता पर विचार करते हैं। शेक्सपीअर, शेली अथवा ह्विटमैन मे वे कला की अपेक्षाओं को ढूँढते हैं। ड्राइडन के अनुसार शेक्सपीअर में कला की अपना है। मुक्त छन्द के रचयिताओं के सन्दर्भ म भी यह प्रश्न सदैव रहा है।

कविता मे प्रत्यक्ष आसक्ति को व्यक्त नहीं किया जा सकता अथवा कहना चाहिये कि आसक्ति नियन्त्रित होने के कारण परोक्ष अभिव्यक्ति होती है। इस आसक्ति दमन का कारण सामाजिक नियन्त्रण है। केन्न के अनुसार अभिव्यक्ति अथवा काव्यात्मक अभिव्यक्ति वही है जिसमें वाणी के माध्यम से, संसर्ग अथवा संकेत के चातुर्य से अनुभूति व्यक्त की गई हो। जैसे मुख आकस्मिक और त्वरित भंगिमा द्वारा हृदय के अन्यथा अप्रेषणीय भाव को व्यक्त कर देता है वैसे ही भाषा के किसी विशिष्ट प्रयोग द्वारा अनुभूति व्यक्त हो जाती है। कभी-कभी एक संकेत अथवा एक शब्द पूरे वाक्य की अपेक्षा अधिक अभिव्यक्तिक्षम होता है। इसी प्रकार की अभिव्यक्ति कलात्मक है। इस कलात्मक अभिव्यक्ति का आनन्द-स्रष्टा पक्ष में, आवेगों के निराकरण का आनन्द है।

काव्य के लिए प्रेरक आवेग कवि-कामनाओं से उपलब्ध होता है, सामाजिक सत्ता-जन्य प्रतिरोध के कारण यह कामना आवेगमुक्त अभिव्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकती, नैतिक परम्पराएँ आवेग के मुक्त प्रकटीकरण मे बाधा उत्पन्न करती हैं। परिणामतः कवि आवरणयुक्त अभिव्यक्ति का मार्ग ग्रहण करता है जिसमे कथ्य प्रतीयमान हो जाता है। तल पर रहने वाले अर्थ से भिन्न इसी अर्थ में कवि की अनुभूति व्यक्त होता है—कविता इसी अर्थ म है। इसी अर्थ तक सहृदय को पहुँचना होता है। इसी अभिव्यक्ति को विचारकों ने (elled Expression) कहा है। ईसा की नवम शती मे प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता की स्थापना कर आनन्दवर्धन ने काव्य-सृजन प्रक्रिया के इसी रहस्य का उद्घाटन किया था। आनन्दवर्धन ने कहा है 'ध्वनि अथवा गुणीभूत व्यंग्य के मार्ग का अवलम्बन करने से कवि की सृजनशील प्रतिभा अनन्त हो जाती है।' स्पष्टतः इसका तात्पर्य यही है कि यदि कवि प्रतीयमानता के मार्ग को ग्रहण कर तो वह अपने किसी भी आवेग को अभिव्यक्त दे सकता है। कवि की प्रतिभा बिम्ब, प्रतीक, मिथ, अलङ्कार आदि के अनेक रूपों का प्रयोग कर

---

१ In a general way, we all recognize that a balance between furthering rnd actarding conditions is the desirable state of affairs Jhon Deway The Art as experience p. 60, 1964

सकेगी। इस प्रकार प्रतीयमान रूप में अनुभूति को व्यक्त करने का मार्ग ग्रहण कर वह आवेग को व्यक्त कर सकेगा। अतः 'प्रतिभा के आनन्त्य' और 'वाणी के नवत्व' की चर्चा कर आनन्दवर्धन कवि को मार्ग दिखलाते है कि उसे कहीं रुकना नहीं है। उसके पास आवेग हैं, उस पर सामाजिक सत्ता का नियन्त्रण है, वो उसे अपने आवेग को प्रतीयमान रूप में व्यक्त करना चाहिये। जो सहृदय हैं, उस प्रतीयमान अर्थ तक पहुँच जाएँगे और कवि को भी आवेग की अभिव्यक्ति का सन्तोष मिलेगा।

छन्द-योजना भी आवेग और नियन्त्रण के द्वन्द्व की उपर्युक्त प्रक्रिया का परिणाम है। कालरिज के अनुसार—'कवि-मानस में आवेगों के अवरोधक प्रयत्नों के संघर्ष में ही छन्द का मूल है।'

काव्यात्मक आवेग ऊर्जा का ही एक सहरूप है। यह भी कहा जा सकता है कि यह ऊर्जा-व्यय से उत्पन्न एक प्रकार का मानसिक संघर्ष है। सभी प्राकृतिक ऊर्जाएँ—जैसे ऊष्मा, प्रकाश, विद्युत् आदि तरंगरूप में गमन करती हैं। ये ऊर्जा-तरंगें पुनरावर्तक होती हैं—फलतः लयात्मक भी। शक्तिशाली, निर्बाध आवेग ऊर्जारूप होने के कारण स्वयं को अपरिहार्यतः तरंग रूप में व्यक्त करता है। यह अभिव्यक्ति स्पन्दन की भाँति, ध्वनि के पुनरावर्तन में अथवा इंगितों के पुनरावर्तन में होती है। इस पुनरावर्तन में एक प्राकृतिक लय होती है। भावात्मक अभिव्यक्ति स्वरूप कविता में भी यह लय स्वभावतः रहती है। वाल्ट ह्विटमैन ने इन तरंगों की तुलना जल-सतह पर गतिशील तरंगों से अथवा घास के मैदान में वायु से उत्पन्न तरङ्गों से की है, ये तरंगें पूर्णतः तो नहीं, पर सामान्यतः नियमित होती हैं। कविता का पुनरावर्तन स्वर ऊपर से जोड़ा हुआ तत्त्व नहीं है, वह काव्यात्मक अनुभूति का अनिवार्य सहयोगी अवयव है, कवि की अनुभूति इस लय को उत्पन्न करती है। भावक के कर्ण कुहरों में प्रविष्ट होकर यही लय उसके मानस को समान कम्पनांकों (Frequency) से स्पन्दित करती है, ये स्पन्दन श्रोता में वही अनुभूति जाग्रत करते हैं जिससे लय उत्पन्न हुई थी। इस प्रक्रिया को निम्नांकित भाव-चित्र से समझा जा सकता है।
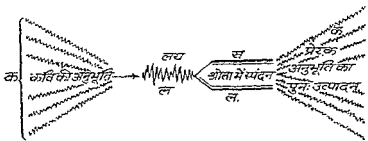
'क' कवि की अनुभूति है जिसने ल, कम्पन वाली लय उत्पादित की। यह लय श्रोता 'स' के मानस में ल, कम्पन वाली लय-तरङ्ग उत्पन्न करती है। श्रोता-

मानस में यह लय तरङ्ग अनुभूति में परिवर्तित हो जाती है। यह अनुभूति वही होती है जिसने ल, कम्पन वाली तरङ्ग उत्पादित की थी। यह वस्तुत एक ऊर्जा के दूसरी ऊर्जा में रूपान्तरण और पुन स्व-रूप ग्रहण का सिद्धान्त है। ऊर्जा कभी नष्ट नहीं होती, वह रूपान्तरित हो सकती है। कवि की अनुभूति की ऊर्जा उसकी कविता में सुरक्षित रहती है यह ऊर्जा का विचारपूर्ण प्रक्रिया में रूपान्तरण है, वह शब्द रूप अथवा भाषिक रूप में परिवर्तित हो जाती है। जब भी, वर्षों के बाद भी, सहृदय उसे पढ़ता है कविता में निहित लय उसमें वही अनुभूति जाग्रत करती है जो कवि मानस में थी, जिसने उस लय को उत्पन्न किया था। प्रसादकृत कामायनी के श्रद्धा सर्ग की ये पंक्तियाँ—

> आह ! वह मुख पश्चिम के व्योम,
> बीच जब घिरता हो घनश्याम,
> अरुण रवि मंडल उनको भेद,
> दिखाई देता हो छवि धाम।

आज भी उसी सौन्दर्यानुभूति को जाग्रत करने में सक्षम है, जिसका भावन कवि ने किया होगा, जिस अनुभूति ने इस लय-छन्द और शब्दों को प्रेरित किया होगा, यह रूपाकार ग्रहण किया होगा। प्रेस्काट ने शेक्सपीअर का उदाहरण देकर लिखा है—'शेक्सपीअर के शब्द उसके अर्थ का व्यक्त करते हैं, उसकी लय उसकी अनुभूति को प्रेषित करती है। यह भाषा का ही चमत्कार है कि आज ३५० वर्ष बाद भी शेक्सपीअर की भावनाएँ पाठकों के समक्ष पुनर्निर्मित होकर आती है। आवेग की मुक्त अभिव्यक्ति सीमाहीन होगी, लय भी आवेग से आक्रान्त होगी। ह्विटमैन में आदिम प्रकार के आवेगों की तीव्रता का अनुभव किया जा सकता है। अनुभूति को छन्दबद्ध करने की इच्छा ही इस बात का प्रमाण है कि कवि वह 'कुछ' कहना चाहता है जो वह गद्य में नहीं कह सकता। एक और तथ्य भी ध्यातव्य है, अनवरुद्ध भावावेश की अभिव्यक्ति, सम्भव है, तीव्रता (Intensity) के कारण भावक में समान भाव उत्पादन में असमर्थ रहे, आवरण में आकर, नियन्त्रित होकर वह कुछ नरम हो जाती है। गेथे (Goethe) ने अपने नाटक फास्ट (Faust) के शायद दृश्यों के सन्दर्भ में शिलर (Schiller) को एक पत्र लिखा था कि 'जब वह दृश्य गद्य में लिखा गया था तो बहुत असह्य था इसलिए अब मैं उसे लय-छन्द में रचने का प्रयत्न कर रहा हूँ।' ऐसा प्रतीत होता है कि एक आवरण से उस आवेगपूर्ण सामग्री का तात्कालिक प्रभाव कुछ कोमल हो जाता है। नीत्शे ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि 'छन्द सत्य के ऊपर एक झीना आवरण डाल देता है।' कला जीवन के परिप्रेक्ष्यों पर अमूर्तता का आवरण निक्षिप्त कर उन्हें सह्य बना देती है—आस्वाद्य बना देती है। यही कारण है कि जिन दृश्यों को हम प्रत्यक्ष जीवन में देख नहीं सकते—

सह नहीं पाते उन्हें ही नाटक में देख लेते हैं, देख ही नहीं लेते, उनका आनन्द लेते हैं, बारम्बार देखने की इच्छा करते हैं। वीभत्स में आनन्दानुभूति के मूल में यही तथ्य है।

कविता की रूप-रचना (Form) दो शक्तियों, लयपूर्ण आवेग (क्योंकि प्रत्येक ऊर्जा लययुक्त होती है) और छन्द, पंक्ति तथा प्रघट्टक आदि के द्वारा क्रियान्वित नियंत्रण का फल है। सम्भव है कला की अपेक्षा करने वाले श्रोता को अनवरुद्ध भाव की प्रकृत लय अरुचिपूर्ण लगे। इसलिए उसे कला के मान्य साँचे में व्यक्त होना ही चाहिये। परन्तु इस प्रक्रिया में मूल आवेग तिरोहित नहीं होना चाहिये। रूप के पीछे रहता हुआ, उसे प्राण व शक्ति से अनुप्राणित करता हुआ वह आवेग सतत प्रतीत होना चाहिये। शेली में प्रकृत आवेग की लय शक्तिशाली है, प्रतीत होता है जैसे वह रूप-रचना के बन्धनों को तोड़कर स्वतन्त्र हो जाना चाहता है। पोप और उसके अनुयायियों में प्रकृत आवेग कमजोर है, रूप ही सब कुछ है। आवेग के शाश्वत संगीत की गूँज की कमी उसमें सदैव खटकती है।

प्रत्येक कलात्मक अभिव्यक्ति मे प्रेरणास्पद तत्त्व के साथ नियन्त्रण तत्त्व भी होता है, कविता में ऐसा सामान्य तत्त्व छन्द है। जिन दो परस्पर प्रतिरोधी तत्त्वों का विवेचन यहाँ किया जा रहा है, वे छन्द का ही नहीं, भाषा का भी निर्धारण करते हैं, वस्तु को भी प्रभावित करते है। सर वाल्टर स्काट ने गद्य के सन्दर्भ में कहा है कि कथा, वक्ता के वास्तविक भावों और श्रोता के बीच एक आवरण की भाँति रहती है। प्रत्येक सृजनधर्मी काव्यात्मक कृति आवृत अभिव्यक्ति ही होती है। पो के अनुसार सर्वाधिक सुन्दरता रहस्यात्मक कविताओं में है जिनमें पारदर्शी ऊपरी सतह के नीचे एक प्रतीयमान अर्थ भी झिलमिलाता है। सम्भवतः यही गहन अर्थ वास्तविक भी होता है। कारलाइल ने प्रतीकों की आश्चर्यजनक व्यंजकता का अनुभव किया है क्योंकि प्रतीक में अभिव्यक्ति के साथ छिपाव भी होता है।

प्रकृतितः कवि व्यक्ति होता है और समाज का विरोधी भी। अँग्रेजी कवि शेली (Shelley) समाज से निरन्तर जूझता रहा। जहाँ तक नैतिक मान्यताओं का प्रश्न था उसने समाज से एकपक्षीय समझौता किया। उसकी रचनाओं में उसने स्वयं शंका व्यक्त की है कि अपनी अभिव्यक्ति काव्यकला की सीमाओं में है या नहीं? अंशतः स्वप्नद्रष्टा होने के कारण भी कवि वैयक्तिक होता है। सामाजिक नियंत्रण की अनुभूति सामान्य और व्यावहारिक जीवन में तो तीव्रता से होती ही है, किन्तु वैचारिक संसार मे, दृष्टि में अथवा स्वप्न में (क्योंकि वह वैयक्तिक होता है।) सामाजिक अपेक्षाएँ आवेग को प्रभावित कर पृष्ठभूमि में चली जाती हैं। इस स्थिति

में भी आवेग और नियंत्रण का संघर्ष क्रियाशील रहता है। काव्य दृष्टि (Poetic Vision) इसी संघर्ष का परिणाम है। इस बिन्दु को स्पष्ट करने के लिए काव्यात्मक इच्छाओं और उनके नियंत्रण पर सावधानी से विचार अपेक्षित है।

बर्न ने 'मानस की कामनाओं' का विश्लेषण किया है। कवि इन्हीं कामनाओं की पूर्ति हेतु क्रियाशील होता है। काव्य की सृजन प्रक्रिया में यही मानस-कामनाएं प्रेरणा का कार्य करती है। सामान्य जन की अपेक्षा कवि की मानस-कामनाएं उदात्त और परिष्कृत होती हैं। प्रत्येक मनुष्य कामनाओं का पुंज है—यही कामनाएं उसके चारित्र्य का निर्माण करती हैं। नीत्शे के अनुसार ये कामनाएँ मानव अस्तित्व की महत्त्वपूर्ण घटक हैं। ये कामनाएं अनेक प्रकार की हो सकती हैं पर मूल भावना आत्मरक्षा तथा काम अथवा संतानोत्पत्ति द्वारा स्वयं को चिरकाल तक अस्तित्ववान् रखने की है। ये मूल भावनाएँ अन्य रूपों में रूपान्तरित होती हैं। शेष भावनाएँ भी इन्हीं के चतुर्दिक् घिरी रहती हैं मानव की कामनाएँ उसके क्रियाकलापों का निर्देशन करती हैं। कामनाओं के विशाल पुंज में से कुछ पूर्ण हो पाती हैं, शेष संतुष्टि के प्रयत्न में दमित होती हैं, अस्वीकृति पाती हैं।

अस्वीकृति अनेकविध हो सकती है, परन्तु दो प्रकारों का यहाँ परिगणन किया जा सकता है। बाह्य अस्वीकृति बाधा के रूप में, जैसे एक मनुष्य कुछ प्राप्त करना चाहे और दूसरा उसे छीन ले। मानसिक—जिसमें मनुष्य यह सोचे कि जो कुछ वह चाह रहा है वह असम्भव है, पूर्ण हो ही नहीं सकता। प्रथम स्थिति में कामना मानसिक और बाधा भौतिक है, द्वितीय में दोनों ही मानसिक हैं। इस प्रक्रिया में पुनः दो स्थितियाँ सम्भव हैं। प्रथम यह कि मनुष्य यह सोचे कि उसकी कामना भौतिक रूप में पूर्ण होने में असमर्थ है, जैसे किसी मृतक को पुनः सशरीर पाने की कामना। द्वितीय यह विचार कि उसकी कामना सामाजिक-कर्तव्य-भावना के अन्तर्गत वे सभी विधि-निषेध समाहित हैं जिन्हें मानव-मानस मान्यता देता है। यह कर्तव्य—अकर्तव्य भावना मनुष्य के विचारों को प्रभावित करती है। इस प्रकार सामाजिक सत्ता और कामनाजनित आवेग में संघर्ष होता है। उपर्युक्त सभी स्थितियों में जहाँ जहाँ भी कामनाओं को अस्वीकृति मिलती है वहाँ-वहाँ काल्पनिक पूर्णता में वे संतुष्ट होती हैं। इस दृष्टि से वह स्थिति अधिक महत्त्वपूर्ण है जिसमें कामना और अस्वीकृति दोनों ही मानसिक हैं। जिस क्षण सामाजिक विधि निषेध का अनुभव होता है, स्थिति जटिल हो जाती है। मानव की प्रथम अथवा मूल और अर्जित प्रकृति में द्वन्द्व होता है। जहाँ अर्जित प्रकृति द्वारा मूल आवेग का दमन होता है, वहीं से कल्पना का कार्य प्रारम्भ होता है। यह कल्पना की प्रक्रिया मूल और अर्जित दोनों भावनाओं को संतोष प्रदान करती है। छिपाव अथवा अर्थ के प्रतीयमान होने की यही व्याख्या है। जब मूल इच्छा मुक्त होती है तो कल्पना उसके

संतोष हेतु प्रत्यक्ष चित्र-विधान करती है। जब मूल इच्छा नियंत्रित होती है तो कल्पना एक प्रत्यक्ष चित्र उपस्थित न कर समतुल्य, अनुषंग (Assoc ate) चित्र उपस्थित करती है,—जिसके साथ वही भावनाएँ जुड़ी होती हैं और वह चित्र पूर्ण संतोष देता है। कल्पना द्वारा प्रस्तुत इस बिम्ब में कवि का मूल अर्थ तल पर नहीं रहता, वह प्रतीयमान बनकर सहृदयगम्य हो जाता है। आनन्दवर्धन कवि की अनुभूति को ही प्रधानता देते हैं। काव्य की कलात्मकता इसी में है कि कवि की प्रतीयमान अनुभूति प्रधानतः प्रतीत हो। काव्य की सफलता, कवि की सफलता इसी में है, यही ध्वनि है। इस स्थानापन्न बिम्ब द्वारा गौण अथवा अर्जित प्रकृति भी संतुष्ट होती है। इस स्थिति मे अर्थ न एकदम उजागर होता न अत्यन्त गूढ़ वह झिलमिलाता है। संस्कृत मे इसके लिए बहुत सुन्दर उक्ति है—

> नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशो,
> नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढः।
> अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित्,
> सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः॥[१]

मानस के एक और वैशिष्ट्य पर यहाँ विचार कर लेना संगत होगा। अवचेतन मानस का अस्तित्व अब विवादास्पद नहीं है। दमित इच्छाएँ मानस के इसी भाग में निक्षिप्त कर दी जाती हैं। इस निक्षिप्तीकरण के दो कारण हो सकते हैं। (१) चेतन मानस में सामान्यतः उपयोगी कामनाएँ ही रहती हैं, बलवती किन्तु अनुपयोगी प्रतीत होने वाली कामनाएँ ऐसी स्थिति में अचेतन में चली जाती हैं। (२) द्वितीय कारण यह हो सकता है कि ये कामनाएँ दमित होकर पीड़ादायक हों और तब इस पीड़ा से मुक्ति पाने के लिए चेतन मानस इन्हें अपने क्षेत्र से बाहर कर देना चाहे, इस स्थिति में भी ये अचेतन मानस में निक्षिप्त हो जाती हैं। यह फ्रायड की स्थापना है और वर्गसाँ भी इससे अनुमत है। असंतुष्ट तथा अव्यावहारिक इच्छा पीड़ादायक होती है इसमें सन्देह नहीं है। पीड़ा चाहे भौतिक हो अथवा मानसिक मानव प्राकृतितः पीड़ा से बचना चाहता है अत इस प्र ार की कामनाओं की यदि बहिर्निर्गति नहीं होतं। तो वह अचेतन की ओर उन्मुख हो जाती है। यह ज्ञातव्य है कि मूल और अर्जित दोनों ही भावनाएँ चेतन अथवा अचेतन का अंग बन सकती है। ऐसा भी हो सकता है कि एक चेतन का अंग बने दूसरी अचेतन का। ऐसी स्थिति, जब एक अथवा दोनों अचेतन का अंग हो कविता के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण मानी गई है।

---

१ काव्य प्रकाश, (आ० वि०) पृ० १६६

अचेतन मे निहित आवेग काल्पनिक स्थापनाओ को उत्पन्न करते हैं। यहाँ दमन का कारण अव्यावहारिकता तथा सामाजिक नियंत्रण है, प्रबल नियंत्रण के कारण संघर्ष भी उग्र होता है। फलत अभिव्यक्ति भी कठिनाई से पूर्ण होती है, छिपाव अधिक होता है स्थानापन्नता भी अधिक होती है, रूप-परिवर्तन होता है। यह स्थानापन्नता समान भावनाओ को जाग्रत कर सकती है, समान सतोष दे सकती है।

उपर्युक्त जटिल प्रक्रिया की सटीक व्याख्या सम्भव नहीं है सम्भवत. वह भ्रामक भी हो। तब भी इसे निम्नलिखित विधि मे सूत्रबद्ध करने का प्रयास किया जा सकता है।[1]

सामान्यत मनुष्य की ऐसी इच्छा जो अनुभूतियो स युक्त है, विचारो को जाग्रत करने वाली है, यदि सुचिंतित क्रिया मे परिणत होती है तो पूर्ण हो जाती है। परन्तु यदि यह इच्छा अवरुद्ध होती है तो यही क्रम कल्पना मे घटित होता है। चेतन मानस मे उपस्थित एक इच्छा 'इ' अवरुद्ध होने पर कतिपय बिम्ब $व_1$ बनाती है, इसके साथ 'अ' अनुभूति जुडी है तथा इससे 'स' सतोष मिलता है। यदि यह इच्छा नियंत्रण द्वारा अवरुद्ध होती है तो इच्छा 'इ', $व_1$ बिम्ब नही $व_2$ बिम्ब बनाती है। अनुभूति $व_2$ के साथ भी वही होती है जो $व_1$ के साथ थी और सतोष भी 'स' ही होता है किन्तु जब तक आसगो (associations) का ज्ञान नही होता $व_2$ बिम्ब 'इ' अथवा 'अ' के अनुरूप प्रतीत नही होता। इस प्रकार $व_2$ आवरणयुक्त अभिव्यक्ति होती है जिसके मूल मे इच्छा 'इ' रहती है। यह स्थिति तब है जब इच्छा 'इ' चेतन मानस मे उपस्थित है। यदि इच्छा 'इ' अचेतन मानस मे है तो वह और भी विचित्र स्थानापन्न बिम्ब $व_3$ रचती है। इसकी व्याख्या और भी कठिन है क्योकि इच्छा तो अचेतन मे रहती है, बिम्ब ही चेतन मानस मे आते हैं।

कविता इन तीनो स्थितियो मे होती है। प्रथम मे यह इसलिए काल्पनिक है कि प्रत्यक्षत असतुष्ट इच्छा को सतुष्ट रूप मे उपस्थित करती है। द्वितीय स्थिति मे द्विगुणित काल्पनिक है, तृतीय मे और भी अधिक, क्योकि वह एक प्रकार से रूपक तथा प्रतीकों का आश्रय लेती है। परोक्ष अभिव्यक्ति इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि एक ओर वह व्यक्ति को मुक्ति देती है दूसरी ओर उसे समाज से भी जोडती है। अत प्रतीयमान अभिव्यक्ति ही वास्तव मे काव्यात्मक है। अचेतन मानस का यही एक अभिव्यक्ति मार्ग है जहाँ कविता का जन्म होता है। शेली (Shelley) के अनुसार कविता अचेतन मानस को पीडित करने वाली भावना को अपने मे निहित रखती है तथा भाषा अथवा रूप के सहारे पुन मानव के समक्ष प्रस्तुत करती है।[2] यह कविता श्रोता मे भी स्वसदृश भावना उत्पन्न करती है।

---

१ प्रेस्काट, द पोएटिक माइन्ड, पृ० २४६

२ Cook, Defence of Poetry Ed p 41

फ्रायड ने काव्य-सृष्टि और स्वप्न-सृष्टि को समानान्तर माना है, यहाँ इस पर भी विचार कर लेना उचित होगा। काव्यात्मक दृष्टि कामनाओं, विशेषतः मूल आवेगों और अचेतन ग्रन्थियों को व्यक्त करती है। फ्रायड के मतानुसार स्वप्न-सृष्टि में भी दो शक्तियाँ काम करती हैं, प्रथम शक्ति स्वप्न-इच्छा का निर्माण करती है, द्वितीय उस पर नियंत्रण करती है, परिणामतः रूपांतरण होता है।[१] चेतना के द्वार पर स्थित नियंत्रण कतिपय विचारों का अवरोध करता है। परन्तु नैश शैथिल्य की स्थिति में कुछ विचार स्वप्न के विचित्र छिपाव में निकल जाते हैं, इस प्रकार वे इच्छाएँ जो वास्तविक जीवन में सन्तुष्ट थीं, संतोष का अनुभव करती हैं।[२] स्वप्न रचना का उद्देश्य कतिपय भावनाओं को तुष्टि देकर निद्रा में बाधा पहुँचाने वाले आवेग से मुक्ति पाना है।[३] विरूपित (distorted) स्वप्न में इच्छापूर्ति प्रत्यक्षतः व्यक्त नहीं होती, उसे ढूँढ़ना होता है। स्वप्न की व्याख्या करने पर ही उसे जाना जा सकता है। यह स्पष्ट है कि विरूपित स्वप्नों के मूल में स्थित भावनाएँ वे हैं जो नियंत्रण द्वारा अस्वीकृत हैं—अवरुद्ध हैं।[४] यह नियंत्रण भी वही है जिसका विवेचन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। फ्रायड के मनोवैज्ञानिक नियंत्रण का आधार भी यही सामाजिक नियंत्रण है, इसे समाज मनोवैज्ञानिक नियंत्रण कहा जाना चाहिए। इसके अभाव में फ्रायड सम्मत नियंत्रण निराधार और कृत्रिम लगता है। मनोवैज्ञानिक नियंत्रण और आवेगों का संघर्ष इस वृहत् संघर्ष का एक आयाम मात्र है। काव्य के संदर्भ में जिसे छिपाव कहा है स्वप्न के संदर्भ में वही विस्थापन (Displacement) है। विस्थापन में इच्छा प्रत्यक्ष व्यक्त नहीं होती, वरन् उसका प्रतिनिधित्व कोई प्रतीक, कोई बिम्ब करता है। इच्छा और प्रतीक में संसर्ग सम्बन्ध होता है। मूल भावना प्रतीक पर स्थानान्तरित हो जाती है। अतः विस्थापन (Displacement) एक प्रकार से आवरण में अभिव्यक्त है। आनन्दवर्धन की शब्दावली में कहना होगा कि प्रतीक वाच्यार्थ है जिसमें मूल भावना प्रतीयमान है।

कारलाइल का (revelation with concealment) सिद्धान्त कविता तथा अन्य समानधर्मी अभिव्यक्तियों के लिये समानतः संगत है।

---

१ A Brill, Psychanalysis p. 37

२. Substitute gratifications for desires which are unsatisfied in life. Introductory Lectures on Joan Psycho—analysis, Riviere, Freud, 1961.

३. Ibid, p. 180

४. Ibid, p. 181

अन्योक्तियों में भी वाच्यार्थ के द्वारा प्रतीयमान अर्थ व्यक्त होता है तथा प्रतीयमान अर्थ के उद्घाटन से चमत्कृतिजन्य आनन्द का अनुभव होता है।

कविता में जहाँ दोहरे अथवा वाच्य-व्यतिरिक्त अन्य अर्थ होते हैं, वहाँ वाच्य- यतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। सामान्यत जितनी तीव्र अनुभूति होती है, जितना प्रबल दमन होता है, द्वन्द्व भी उतना ही शक्तिशाली होता है—विस्थापन भी उतना ही अधिक होता है। इस विस्थापन के अनुपात मे ही आवरण भारी होता है तथा इसी अनुपात मे प्रभाव भी काव्यात्मक होता है।

प्रेस्काट ने काव्यात्मक प्रक्रिया मे सामाजिक नियत्रण के अभाव को व्यक्त करने वाले एक और महत्वपूर्ण अनुगुण का विवेचन किया है। स्वप्न मे 'गौण-विस्तार' (Secondary elaboration) की प्रक्रिया होती है। यह चेतन-मानस की क्रिया है। जब जागने के बाद स्वप्न का पुन स्मरण किया जाता है तो स्मरण-कर्ता इसे वैसे ही देखता है जैसे वह किसी अन्य प्रत्यक्ष वस्तु को देखता है। द्रष्टा इस स्वप्न को यथावत् स्वीकार नही करता वरन् पूर्व धारणाओ के अनुसार पुनः निर्मित रूप मे ग्रहण करता है। इस प्रकार किसी सीमा तक इसे चेतन मानस की अन्य प्रक्रियाओ से सगत बनाकर उपस्थित किया जाता है। इसी प्रकार जब कवि अपनी दृष्टि को प्रेरणा-क्षेत्र के बाहर ससार मे लाता है तो वह चेतन होकर पुन स्मरण करता है और जब लिखता है तो उसे पुन सयोजित करता है तथा जाग्रत विचारो से सगति देता है। अत लिखित कविता तृतीय बार सयोजित रूप मे हमारे समक्ष आती है।

ट्रिलानी (Trelawny) ने शेली के एक प्रसग का सन्दर्भ दिया है। 'शेली (Shelley) को पीसा के निकट के वन मे देखा उसके गीतो की पाडुलिपि उसके पास थी, यह अत्यन्त घसीट मे लिखी गई थी, शब्द उसकी उँगलियो से बिना क्रम के, एक-पर-एक, फिसल रह थे। पूछने पर शेली (Shelley) ने कहा था 'जब मेरा मानस उत्तप्त होता है तो बिम्ब शब्द फेंकता है, मैं उन्हे उतार नही पाता, प्रात कुछ शीतल होने पर मैं उससे चित्र बनाता हूँ।' शेली जब लिखता था तो इस प्रक्रिया मे कुछ रह जाता था। पुन लिखने की स्थिति मे भाषा, छन्द आदि के कारण फिर कुछ परिवर्तन होत होगा।

ध्वनि-सिद्धान्त वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ की श्रेष्ठता मे कविता मानता है। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि आवेग और नियत्रण के द्वन्द्व के परिणाम-स्वरूप कवि की अनुभूति प्रतीयमान तो होगी ही, पर उसे प्रधान भी होना चाहिये। यदि बाह्य तल पर प्रतीत होने वाला अर्थ ही प्रधान लगता है तो इसका अर्थ होगा कि कवि अपने शिल्प मे अपूर्ण रह गया है। कवि का कथ्य (प्रतीयमान अर्थ रूप मे),

यदि प्रधान न हुआ, वाच्यार्थ की अपेक्षा अतिशय न लगा तो कवि और सहृदय दोनों की ही दृष्टि से काव्य समुचित न कहा जा सकेगा। परन्तु यह सम्भव है कि कवि की अशक्ति अथवा अव्युत्पत्तिकृत दोष के कारण वाच्यार्थ और प्रतीयमान अर्थ समानतः प्रतीत हों या प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से हीन लगें, तब उस स्थिति में गुणीभूत व्यंग्य काव्य होता है। परन्तु कविता की वास्तविक स्थिति तो वही है जिसमें कवि का अनुभूति रूप आवेग प्रतीयमान रूप में प्रधानतः प्रतीत हो।

अत समाज-मनोवैज्ञानिक व्याख्या के आधार पर कवि की अनुभूति का प्रतीयमान होना ही प्रमाणित नहीं होता उसका प्रधान होना भी अनिवार्य लगता है।

उपर्युक्त विवेचन का सार यह है कि प्रेरणात्मक आवेग—जो कवि की इच्छाओं-कामनाओं पर निर्भर करता है--कविता के लिए आधारभूमि प्रस्तुत करता है तथा सामाजिक नियंत्रण उसे शिल्प प्रदान करता है। यदि बाधित कामना चेतन मानस में है तो कल्पना द्वारा साधित बिम्ब सरल होंगे तथा असंतुष्ट कामना को संतुष्ट रूप में प्रस्तुत कर रचयिता को तनाव से मुक्त करेंगे। यदि दमित कामना अथवा इच्छा अवचेतन में स्थित हैं तो बिम्ब जटिल होंगे, यद्यपि रचयिता को उनसे वही सुख मिलेगा जो चेतन-स्थित दमित भावनाजन्य बिम्बों से मिला था। इस विवेचन से यह प्रमाणित होता है कि तल पर दिखलाई पड़ने वाला अर्थ कवि की अनुभूति को प्रकट नहीं करता, उसे जानने का प्रयत्न करना होगा, वह आवरण में होता है। आवरण में अर्थ कैसे रह सकता है? इसका एकमात्र समाधान है 'प्रतीयमानता'। अर्थात् वह अर्थ व्यंग्यार्थ बनकर रहेगा। आनन्दवर्धन ने इसीलिए इतने विस्तार से व्यंग्यार्थ का प्रतिपादन किया है।

परन्तु ऐसी भी कविता है जिसमें बिम्ब नहीं है और जो व्यंग्योक्ति भी नहीं है, जिनमें वक्ता का अर्थ वाच्यार्थ से निष्पन्न नहीं होता, वह अर्थ परिवेश के विमर्श से प्रतीत होता है। इस स्थिति का परिगणन आधुनिक मनोवैज्ञानिक काव्यशास्त्रीय चिन्तक भी नहीं कर पाए हैं। नियंत्रण (control) इन कविताओं में भी बहुत स्पष्ट है। ध्वन्यालोक से उद्धृत एक बहुचर्चित श्लोक लें—

भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदावरीनदीकूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन॥[1]

यह कथन किसी कुलटा का है। वह अपने प्रियतम से मिलने के लिए एक निश्चित स्थान पर जाती है। वहाँ एक पुजारी पुष्पचयन हेतु नित्य आता है। इससे उस स्त्री के प्रियमिलन में बाधा पहुँचती है। वह किसी प्रकार पुजारी को वहाँ आने

---

१. ध्वन्यालोकः (सं० पाठक) पृ० ५२

से रोकना चाहती है। इस स्थिति का विश्लेषण उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निम्नलिखित विधि से किया जा सकता है।

उपपति से सम्भोगजन्य सुख की कामना नायिका में उत्पन्न होती है। इस सुख को प्राप्त करने में सामाजिक नियन्त्रण बाधा उत्पन्न करता है। बाधा भौतिक है, अतः वह एकान्त स्थान ढूँढ़ कर इस बाधा से मुक्ति पा लेती है। ध्यातव्य है कि नियन्त्रण नैतिक नहीं है, शुद्ध सामाजिक है। परन्तु, उस एकान्त स्थान में भी समाज का प्रतिनिधिस्वरूप पुजारी आ जाता है, अतः पुनः सामाजिक सत्ता का नियन्त्रण प्रभावी होता है। वह स्पष्टतः पुजारी रूप नियन्त्रण को हटा नहीं सकती। क्योंकि यहाँ भौतिक बाधा हटानी है, अतः वह विशेष कथन के द्वारा यह कार्य सिद्ध करती है। इस स्थिति में इच्छा और नियन्त्रण का संघर्ष है, नियन्त्रण के कारण ही वह विधिपरक वचन कहती है। परन्तु, मूल इच्छा अथवा आवेग (यहाँ वस्तुतः आवेग ही है, कामातुरा नारी की इच्छा में बाधा उसमें दोहरे आवेग को उत्पन्न करती है—एक तीव्र इच्छा का आवेग द्वितीय उसके बाधित होने का आवेग) इस कथन में तल पर नहीं है, वह प्रत्यक्ष कथन के आवरण में निहित है—प्रतीयमान है। नायिका कहती है—'पुजारी आराम से भ्रमण करो, जिस कुत्ते से तुम डरते थे, उसे गोदावरी नदी के गहन कुञ्जों में निवास करने वाला मदमस्त सिंह ने मार डाला है।'

यहाँ मूल आवेग (काम) एकान्त में पूर्ति चाहता है—इसका दूसरा रूप है अन्य की उपस्थिति का निषेध। अतः पुजारी के भ्रमण का निषेध ही मूल आवेग है। इस तक सहृदय पहुँचता है 'मारिख' 'दरियसीहेन' आदि पदों के विमर्श से। नायिका कहती है पहले तो कुत्ता ही था, अब मदमस्त सिंह है, अतः मूर्ख यहाँ भ्रमण मत करो। परन्तु भ्रमण मत करो यह अर्थ वाच्यार्थ नहीं है, गहरे में है, यही इस कविता का सौन्दर्य है। अभिव्यक्ति की इस विधि का कारण स्पष्टतः सामाजिक नियन्त्रण ही है, आवेग और नियन्त्रण दोनों की प्रभावी उपस्थिति यहाँ प्रमाणित है। अतः यह सिद्ध होता है कि नियन्त्रण से बाधित अभिव्यक्ति से मूल कथ्य व्यंग्य बनकर ही रह सकता है। वह प्रतीयमान (suggested) ही होता है।

> दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमपि इहास्मद्गृहे दास्यसि,
> प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसा कौपीरपः पास्यति।
> एकाकिन्यपि यामि सत्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलं,
> नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदानलग्रन्थयः ॥

यह कथन भी कुलटा का है, वह अपनी पड़ोसिन से कहती है—'हे पड़ोसिन क्षणभर के लिए मेरे घर का ध्यान रखना, इस बच्चे का पिता (मेरा पति) कुएँ का

खारा जल नहीं पीता, इसलिए दूर स्थित झरने तक में अकेली भी जाऊँगी, यद्यपि वहाँ पुराने झाड़ हैं, मेरे अङ्गों में खरोंचें पड़ जाएँगी फिर भी मैं जाऊँगी। इस प्रसंग में भी इच्छा कामजन्य है, तज्जनित आवेग है, बाधा भौतिक है (सामाजिक है)। इस नियन्त्रण के कारण नायिका छिपकर अपनी आवेगजन्य इच्छा को पूर्ण करती हैं। परन्तु जाने पर सम्भोगानन्तर जो उसकी स्थिति होगी उसे वह छिपाना चाहती है, जाना भी अकेले है। अत पहले से ही उस बाद की स्थिति की कल्पना कर कह देती है—'दूर है तेजी से जाऊँगी, पुनः तेजी से लौटना होगा अतः श्वास भर आयेगी, पसीने से लथपथ हो जाऊँगी, वहाँ पुराने झाड़ हैं, कपड़े फट सकते हैं, बदन पर खरोंचें आ सकती हैं 'आदि', स्पष्ट है कि ये सभी बातें सम्भोगजन्य भी हो सकती हैं—यहाँ होंगी ही। परन्तु नायिका की यह मूल इच्छा उपर्युक्त श्लोक का विश्लेषण करने पर ही ज्ञात हो सकती है, यह अर्थ तल पर नहीं है, वाच्य से पृथक् ही है।

इस प्रसंग में एक और दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया जा सकता है। यह नायिका अतृप्ता है, परपुरुष-भोग में सामाजिक नियन्त्रण बाधा उत्पन्न करता है। अतः वह झरने के नीचे झाड़ियों में परपुरुष से पूर्ण सम्भोग की कल्पना करती है और कल्पना में ही असन्तुष्ट इच्छा को पूर्ण होता देखती है। इच्छा-पूर्ति के बाद की अपनी स्थिति की भी कल्पना कर लेती है। सामाजिक नियन्त्रण यहाँ भी कार्य कर रहा है अतः कल्पना में ही उस नियन्त्रण को तुष्ट करने के लिए ऐसा कथन सोचती है कि किसी के पूछने पर ऐसा कह देगी। यहाँ इच्छा और नियन्त्रण में समझौते की प्रवृत्ति अत्यन्त स्पष्ट है। अतः यह विवादास्पद नहीं है कि यह अर्थ भी व्यंग्यार्थ के रूप में स्थित होगा – वाच्य हो नहीं सकता, प्रतीयमानता इसकी नियति है। उपर्युक्त श्लोक में नियन्त्रण नैतिक नहीं है शुद्ध सामाजिक है। सामाजिक नियन्त्रण और आवेग के संघर्ष के परिणामस्वरूप कथित एक और उक्ति का विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत है, यह श्लोक भी ध्वन्यालोक में विवेचित है

> श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसकं एव प्रलोकय।
> मा पथिक रात्र्यंधशय्यायां मम निमंक्ष्यसि॥

यह एक प्रोषितपतिका का कथन है। पति विदेश गया हुआ है और नायिका बहुत समय से विरहविधुरा है। तभी एक पथिक उसके यहाँ रात्रियापन हेतु ठहरता है। स्त्री का आवेग तीव्र हो जाता है, पर सास के भय से वह स्पष्टतः उस पथिक को अपने सोने का स्थान कैसे बतलाये? यहाँ भी बाधा सामाजिक है, नैतिक नहीं। एक ओर तीव्र कामावेग है दूसरी ओर नियन्त्रण है, परिणामतः उक्ति इस रूप में प्रकट हुई है। 'सास यहाँ सोती है, मैं यहाँ, दिन में ही देख लो, कहीं रतौंधी के

कारण रात्रि में मेरी शय्या पर मत गिर जाना। वस्तुत वह चाहती है कि पथिक रात्रि मे उसकी शय्या पर आये। इस प्रकार ऐसी अभिव्यक्ति जिसमें निषेध के द्वारा विधि का प्रतिपादन हो—सामाजिक अथवा नैतिक नियन्त्रण के अवरोध के कारण होती है। इनमें वक्ता का तात्पर्य वाच्यार्थ के रूप में उपस्थित नहीं रहता, वह प्रतीयमान हो रहता है। 'वस्य वा न भवति आदि' श्लोकों के कथन-शिल्प का कारण भी यही नियन्त्रणजन्य अवरोध है। यह स्थिति तब होती है जब आवेग और नियन्त्रण दोनों ही चेतन मानस में स्थित हों। चेतन मानस में स्थित अवरुद्ध आवेग बिम्ब के रूप में भी अभिव्यक्त हो सकता है, वह बिम्ब वक्ता के मूल भाव से सम्बन्धित होगा, पर उसे ढूँढना होगा। एक उदाहरण लें—

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सर ।
अहो दैवगतिः कीदृक्तथापि न समागम ॥[1]

'अर्थात् प्रेम से पूर्ण सन्ध्या है, दिवस भी उसके सामने बढ़ रहा है फिर भी भाग्य की गति कैसी है कि दोनों का समागम नहीं हो रहा है।'

यह नायक का कथन है। वह अपनी प्रिया से मिल नहीं पा रहा है। मिलन का आवेग तीव्र है परन्तु नियन्त्रण भी उतना ही प्रबल है। अत प्रतीक के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति करता है। सन्ध्या भी सामने है, अनुरागवती भी है। वैसे ही नायिका भी अनुरागवती है, पर फिर भी नायक अपनी कामना को सन्तुष्ट नहीं कर पाता। नियन्त्रण यहाँ बाधक है। प्रतीक कथन से वह अपनी भावना को प्रकट करता है। परन्तु प्रसग के निमर्श से नायक की मूल भावना तक पहुँचा जा सकता है। यह भावना भी यहाँ प्रतीयमान है। नायक इस प्रकार की अभिव्यक्ति से सन्तोष प्राप्त करता है, *आवेग से मुक्ति पाता है, उसकी निराशा व्यक्त होकर कोमल हो* जाती है। यह कथन भी श्रोता के लिए सह्य हो जाता है। नियन्त्रण अवहेलना नहीं सह सकता है, इस प्रकार की आवरणयुक्त अभिव्यक्ति मे नियन्त्रण को मान्यता मिलती है, अभिव्यक्ति कलात्मक हो जाती है। इसे मूल रूप मे इस प्रकार कहा जा सकता है। नायक की इच्छा 'इ' अवरुद्ध हुई, उसको कल्पना न भावचित्र 'ब' प्रस्तुत किया कि सब कुछ होते हुए भी दो प्रेमी मिल नहीं पा रहे हैं, प्राकृतिक प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्ति हुई। अभिव्यक्ति मे सन्ध्या स्त्रीलिंग है, रागपूरित है—लालिमा-युक्त है, उसका राग उच्छलित है, प्रेमी दिवस सामने है, आगे भी बढ़ रहा है तब भी मिलन सम्पन्न नहीं हो पा रहा। इस प्रसग मे नियन्त्रण का प्रतीक दैव गति है। इसका कारण तत्कालीन भारतीय संस्कृति की नियति विषयक धारणा है। यहाँ कामना और अवरोध दोनों चेतन मानस मे है अत प्रतीक योजना भी सरल है। आसग (associ-

---

१ ध्वन्यालोक, (पाठक), पृ० ११४

ations) के द्वारा यह सहृदय को नायक की मूल भावना तक पहुँचा देता है। यहाँ आसंग है—अनुकूल परिस्थितियाँ होने पर भी मिलन का सम्पन्न न होना। यह प्रसंग राजा से सम्बन्धित है, राजा, रत्नावली से मिलना चाहता है, रत्नावली भी उसे चाहती है। राजा की नैतिकता यहाँ नियन्त्रण है, वह वासवदत्ता के हृदय को दुखाना नहीं चाहता, अतः गुप्त रूप से ही मनोकामना पूर्ण करना चाहता है।

पूर्व पृष्ठों में मनुष्य की जिस गौण अथवा अर्जित प्रकृति की चर्चा की जा चुकी है, वह यद्यपि मनुष्य में ही होती है—परन्तु नियन्त्रण के सन्दर्भ में वह मनुष्य की प्रथम अथवा मूल प्रकृति के समक्ष इस प्रकार व्यवहार करती है जैसे वह पृथक् अस्तित्व हो। मानव दो व्यक्तियों में विभाजित हो जाता है—मूल और गौण। सामाजिक, नैतिक अथवा अन्य भी कोई नियन्त्रण इस द्वितीय प्रकृति के द्वारा ही प्रभावी होता है, अतः नियन्त्रण की सफलता इस द्वितीय प्रकृति को सन्तोष देती है जो प्रकारान्तर से मानव को सुख देती है। त्याग इत्यादि महत् समझी जाने वाली भावनाएँ इस गौण प्रकृति द्वारा आरोपित की जाकर इसे ही सन्तोष देती है, व्यक्ति स्वयं को महान् समझकर, अपनी ही दृष्टि में ऊँचा होकर आनन्द का अनुभव करता है। अतः नियन्त्रण का माध्यम यह गौण प्रकृति है।

कभी ऐसी भी स्थिति होती है कि आवेग प्रतीक का आश्रय लेकर व्यक्त हो, परन्तु कवि के व्यक्तित्व की प्रबलता के कारण, उसकी लीकों को तोड़ने की प्रकृति के कारण, वह स्थल-स्थल पर स्पष्ट प्रकट हो जाए। हिन्दी के छायावादी कवि निराला में काव्यात्मक आवेग का प्रबलता उनकी कविता में सर्वत्र उद्वेलित होती दिखलाई पड़ती है। 'राम की शक्ति पूजा' हो या 'जुही की कली' शिल्प के, छन्द के बन्धनों में आबद्ध भी उनकी अनुभूति छलक-छलक जाती है। नियन्त्रण को झेलते हुए भी निराला का प्रबल व्यक्तित्व जैसे उसे झाड़ फेंकता है। प्रतीकों का आश्रय ग्रहण करती हुई भी उनकी अभिव्यक्ति, प्रतीकों से व्यंजित भाव से कुछ अधिक कह देने को व्यग्र प्रतीत होती है। 'जुही की कली'[1] का प्रारम्भ 'विजन-वन-वल्लरी

---

१. विजन-वन-वल्लरी पर
   सोती थी सुहाग भरी-स्नेह स्वप्न मग्न-
   अमल कोमल-तनु तरुणी जुही की कली,
   दृग बन्द किए, शिथिल पत्रांक में।
   वासन्ती निशा थी,
   विरह-विधुर प्रिया संग छोड़
   किसी दूर देश में था पवन
   जिसे कहते हैं मलयानिल।

पर सोती थी सुहाग भरी' पंक्ति से हुआ है, पर द्वितीय-तृतीय पंक्ति तक पहुँचते-पहुँचते कवि का मूल आवेग उफन कर प्रत्यक्ष होने लगता है। प्रणय की क्रीड़ा का यह दृश्य, कली और पवन के प्रतीकों से व्यक्त होकर आवेग को कलात्मक बना देता है, 'सुहाग भरी' आदि शब्द व्यंजना को पूर्णता देते हैं, परन्तु भावावेग की उग्रता का आभास स्पष्टतः हो जाता है। 'जुही की कली' की छन्दात्मक लय, सहृदय में कवि की अनुभूति को साकार करने में सहायक है। 'निराला' में आवेग और नियन्त्रण का द्वन्द्व जितना प्रबल है, नियन्त्रण के प्रति जैसा आक्रोश का भाव है, अन्य छायावादी कवि में नहीं। द्वन्द्व की यह तीव्रता ही निराला के काव्य की अदम्य प्राणवत्ता का कारण है। कभी-कभी अपनी भावना को सन्तुष्ट न कर पाने की निराशा में कवि ऐसे प्रतीक चुनता है जिनमें उसकी निराशा का प्रतिबिम्ब हो। 'राम की शक्ति पूजा' इसी प्रक्रिया का परिणाम है, इस प्रकार भी कवि अपने आवेग को शमित कर पाता है।

पन्त की स्थिति निराला से भिन्न है। पन्त में नियन्त्रण अधिक है, उनका आवेग मन्थर गति से प्रवाहित सरिता के सदृश है। 'चाँदनी रात में नौका विहार' कविता में गंगा को 'तापस बाला' कहा है, जो शान्त,, 'क्लान्त' और 'निश्चल' लेटी है, उसे अपने केशों का ध्यान नहीं है, स्वयं का ही ध्यान नहीं है, अत्यधिक 'थकान' के कारण वह श्रमशलथ है, 'गोरे अंगों' पर 'तार तरल सुन्दर' 'वस्त्र' वायु से आन्दोलित है। जिस प्रकार की शब्दावली इस कविता में प्रयुक्त है उससे लगता है जैसे चिर कुमार कविमानस में नारी को इस रूप में भोग पाने की इच्छा ही रह गई

आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात,
आई याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात,
आई याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात,
फिर क्या ?—पवन
उपवन सर-सरित गहन-गिरि कानन
कुञ्ज-लता-पुञ्जों को पार कर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि खिली-कली साथ।
सोती थी, जाने कहो, कैसे प्रिय आगमन वह ?
नायक ने चूमे कपोल,
डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल।
इस पर भी जागी नहीं, चूक क्षमा माँगी नहीं,
निद्रालस बंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही
किंवा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिए, कौन कहे '

हो। वह किसी नारी को इस स्थिति तक कभी न पहुँचा पाया, फलतः कल्पना में इस बिम्ब का सृजन करता है और अतृप्त कामना को तृप्त करता है, सन्तोष पाता है। परन्तु, तभी नियन्त्रण प्रबल हो जाता है और वह इस नारी रूप को 'तापस बाला' कह उठता है, जैसे उसका नैतिक मन नारी को इस रूप में प्रस्तुत करने की कल्पना भी सह नहीं सकता। यहाँ अतृप्ति अवचेतन में सुप्त कामना है, जो यह रूप-बिम्ब रचने की प्रेरणा देती है, 'तापसबाला' प्रयोग चेतन मन में स्थित नैतिकता की प्रेरणा है। अतः अतृप्ति और कामना पर अंकुश रहता है, पन्त में यह स्थिति बहुत स्पष्ट है—वे स्पष्ट कह नहीं सकते। जीवन में सदैव परिष्कृति की कामना करने वाले, धरती पर स्वर्ग की इच्छा करने वाले पन्त में सांस्कृतिक और नैतिक नियन्त्रण इतना प्रबल है कि उनकी कविता कभी-कभी प्राणहीन-सी लगती है। आवेग का अभाव उसमें खटकता है। पन्त ने 'मन' को बहुत प्रशिक्षित किया है पर वह कभी-कभी प्रकट हो ही जाता है इसी कविता में 'एक पक्षी' के उड़ने की बात है। कवि कहता है—'क्या विकल कोक, उड़ता छाया की कोकी को विलोक'। कवि की भावना इस सम्पूर्ण कविता में 'छाया की कोकी' की तरह ही प्रतीयमान है। यह प्रतीक भी कवि के अवचेतन-स्थित अनुभूति का प्रतीक है।

यह सिद्धान्त अन्यत्र भी उतना ही संगत है। पिछले पृष्ठों में जिन कविता प्रसंगों का विश्लेषण किया गया उन सब में आवेग मूल भावना कामजन्य था। प्रेरक आवेग किसी भी प्रकार का हो सकता है, इसी प्रकार नियन्त्रण के भी अन्य रूप हो सकते हैं। एक उदाहरण प्रसाद की कामायनी के श्रद्धा सर्ग से लें—

कौन तुम संसृति-जलनिधि तीर,
तरंगों से फेंकी मणि एक।
कर रहे निर्जन का चुपचाप,
प्रभा की धारा से अभिषेक।।

निर्दय उस नायक ने निपट निठुराई की
कि झोकों की झाड़ियों से सुन्दर सुकुमार
देह सारी झकझोर डाली
मसल दिये गोरे कपोल गोल।
चौंक पड़ी युवती,
चकित चितवन निज चारों ओर फेर,
हेर प्यारे को सेज पास
नम्र मुखी, हँसी खिली,
खेल रंग, प्यारे संग

—सूर्य कान्त त्रिपाठी 'निराला'

उपर्युक्त कविता का शिल्प भी आवेग और नियंत्रण के द्वन्द्व का परिणाम है। श्रद्धा—प्रलय के पश्चात्—यह मानकर कि सब कुछ नष्ट हो गया है, फिर भी, आशा की एक किरण हृदय में संजोए कि जैसे वह बच गई है सम्भव है कोई और भी बचा हो, एकाकी घूमती-फिरती है। और आगे बढ़कर जब सागर तट पर पहुँचती है तो एक स्थान पर बलि अन्न देखती है, सोचती है शायद कोई हो? उसे एक पुरुष दिखलाई पड़ता है जिसका मुख सागर की ओर था तथा पीठ श्रद्धा की ओर। अकस्मात् दिखलाई पड़े इस स्वेतर मानव को देखकर आशा, उल्लास और जिज्ञासा का भाव श्रद्धा के मानस में उद्वेलित होने लगता है। वह एकाएक पूछ बैठना चाहती है, किन्तु वह मनु की संतान है, गन्धर्व देश की कन्या है, संस्कार-सम्पन्ना है, नारी-सुलभ लज्जा से युक्त है। यह संस्कार-सम्पन्नता, लज्जा आदि यहाँ जिज्ञासा और उल्लास के आवेग का नियंत्रण करते हैं, परिणामतः अभिव्यक्ति प्रतीकमयी हो जाती है। अन्यथा बलि अन्न को देखकर जाग्रत हुई आशा के अनुरूप पुरुष को देखकर जो अचिंतित आवेग जागा होगा वह सपाट रूप में व्यक्त होना चाहिये था। इतना अलंकारपूर्ण, गम्भीर कथन सोच-समझकर कहा हुआ है, यह भावावेगपूर्ण कथन नहीं, नियंत्रित उक्ति है। इसमें वातावरण की निर्जनता, मनु के पुरुषोचित दीप्त सौन्दर्य और उस सौन्दर्य का परिवेश पर प्रभाव, सब कुछ कह दिया गया है। अतः काव्यशिल्प युक्त यह उक्ति आवेग और नियंत्रण का ही परिणाम है।

नियंत्रण की एक और स्थिति का परीक्षण भी यहाँ प्रासंगिक है।

कवि अपने आवेग को प्रकट करना चाहता है, परन्तु उसे सफल नहीं होता, तब वह प्रतीक आदि का आश्रय लेता है, इस स्थिति में यह अवरोध ही सपाट बयानी का नियंत्रण करता है। यदि अनुभूति सरल और अविरुद्ध है तो वह कविता के लिए प्रेरणा भी न दे सकेगी। ऊर्जा जैसे दबाव पाकर शक्तिशाली हो जाती है वैसे ही आवेग की ऊर्जा भी नियंत्रण के दबाव से फूट पड़ने को मचल उठती है।[1] परन्तु आवेग का मात्र प्रकटीकरण अभिव्यक्ति (Expression) नहीं है। यदि कोई व्यक्ति अपने आवेग को प्रकट कर रहा है तो जान डेवे (John Deway) के शब्दों में 'वह अपने आवेश (Passion) को व्यक्त कर रहा है'[2] और इस प्रकार आदिम अथवा आत्यंतिक आवेश को प्रकट करना अभिव्यक्ति नहीं है। कला की मूल्यवत्ता इस प्रकार के प्रकटीकरण में सम्भव नहीं है? वह तो आवेग के मार्ग में

१. 'Unless there is compression nothing is expressed. John Deway, Art as an experience, p. 66

२. "He is only giving way to a fit of Passion" Ibid 61

बाधा उत्पन्न करने वाले, पर्यावरण—जन्य प्रतिरोध से ही उत्पन्न होती है।[1] जान डेवे ने इस प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। अभिव्यक्ति के लिए भावावेग का प्रवाह अन्तः से बहिर्मुखी होना आवश्यक है। तदनन्तर भावनाओं के ऊर्ध्वगामी प्रबल स्रोत को पूर्वानुभूत अनुभवों की मूल्यवत्ता से क्रमबद्ध तथा बोधगम्य बनाना होता है। यह चेतन मानस की प्रक्रिया है।[2] प्रतिरोध का महत्त्व एक दृष्टि ने और भी है। इसके अभाव में 'अहं' को अपने अस्तित्व का बोध ही नहीं होगा। अतः यही वह शक्ति है जो व्यक्ति को उसके अस्तित्व से परिचित कराती है। यही वह कारण है जिससे अभिव्यक्ति ठोस रूप में रूपायित होती है—आकृति ग्रहण करती है। इस प्रकार अपने आवेग को अभिव्यक्ति देकर कलाकार नियंत्रणात्मक शक्ति को निरस्त करता है। इस अभिव्यक्ति द्वारा वह सहृदय के अचेतन आनन्द स्रोतों को उन्मुक्त कर देता है—उन्हें संतोष और आनन्द प्रदान करता है। सहृदय इस आनन्दानुभव से कृतज्ञ होकर कवि की प्रशंसा करता है, उसे यश देता है। सम्भवतः इसी अर्थ में संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्यप्रयोजनों के अंतर्गत 'काव्यं यशसे' कहकर 'यश' को एक प्रयोजन माना है। कवि अपने भावावेश को ऐसा रूपाकार देता है कि उनका वैयक्तिक दंश आवृत हो जाता है।

इसीलिए कहा गया है कि पारिवेशिक सत्ताजन्य नियन्त्रण आवेग को कलात्मक रूप देता है। इससे यह निष्कर्ष भी निःसृत होता है कि कला प्रत्येक दशा में सामाजिक तत्त्व है।

स्वभावतः विद्रोही होते हुए भी कवि गाण वृत्ति की पूर्ण उपेक्षा नहीं कर सकता, इसलिए वह अपने आवेग और पारिवेशिक सत्ताजन्य नियन्त्रण में समन्वय का प्रयत्न करता है। 'समन्वय के प्रयत्न' में ही काव्य-दृष्टि (Poetic vision) विकसित होती है। और कवि अपने कथ्य को प्रत्यक्ष न कहकर संकेतित (suggest) करता है। जब गिन्सबर्ग की प्रेरणा से उत्तेजित समीरराय चौधरी 'कौलेप्सिबल जांघों पर गुलाब' की बात कहते हैं तो उघेड़ने का दावा करते हुए भी, प्रतीक का ही आश्रय लेते हैं। अतः काव्यदृष्टि कवि की भावना को व्यंग्यत्व की ओर अनुप्रेरित करती है। इसी अभिप्राय से जान केब्ल (John Keble) ने कविता को शब्दों के माध्यम से परोक्ष अभिव्यक्ति कहा है। अतः कविता में आवेग की सीधी (direct) अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। व्यंग्य होना ही काव्य की नियति है। कथ्य व्यंग्य बनकर पूर्णतया व्यक्त

---

१. John Deway, Art as an Experience, p. 61

२. Ibid

३. Herbert Read, Arts and Society, p. 85

हो सके, इसी मे काव्यदृष्टि की सफलता है।[१] 'पो' (Poe) भी वाच्यार्थ की बाह्य पारदर्शी धारा मे निहित व्यग्यार्थ में ही काव्य का सौन्दर्य प्रतिपादित करता है। अर्थस्थितियो के अनेक भेद दिखलाकर एम्पसन (Empson) भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है। एबरक्रोम्बी की वैचारिक परिणति भी इसी धारणा का प्रतिपादन है। 'कथ्य' को 'व्यग्यत्व' प्रदान कर एक ओर कवि अपने व्यक्ति को सतोष देता है, दूसरी ओर सामाजिक अपेक्षाओ को भी पूर्ण करता है। कथ्याभिव्यक्ति की यह प्रक्रिया उसके 'अह' की सन्तुष्टि का आनन्द देती है। यदि भावक की दृष्टि से विचार करें तो भी यह सिद्ध होगा कि कवि की व्यग्यपरक कृति को ग्रहण कर, वाच्यार्थ के माध्यम से, मूल आवेग की निहिति जिसमे हैं, (उस) व्यग्यार्थ तक पहुँच कर भावक की बुद्धि को तोष होता है।

ग० मा० मुक्तिबोध[३] ने कवि की दृष्टि मे कला की रचना-प्रक्रिया के तीन क्षण माने हैं। कला के प्रथम क्षण मे जीवन का उत्कृष्ट तीव्र अनुभव निहित होता हैं, इसे अनुभव क्षण कहा जा सकता है। द्वितीय क्षण मे यह अनुभव अपने कसकते-दुखते मूल से पृथक् होता है और एक ऐसी फैण्टेसी का रूप धारण कर लेता है मानो वह फैण्टेसी आँखो के सामने खडी है, तृतीय और अन्तिम क्षण है इस फैण्टेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की पूर्णावस्था तक की गतिमानता। इस गतिमानता मे फैण्टेसी अनवरत रूप में विकसित और परिवर्तित होती हुई आगे बढती जाती है। फैण्टेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया मे मूलरूप मे जो विकास होता है, वही कला-सृजन का तृतीय क्षण है।

---

१ "Similarly in Poetry a direct expression is improper or impossible, a veiled or poetical one is recourse The motive impulse in poetry is supplied by the poetic desires. But these can not give themselves free expression They are met by the repressive forces of authority regard for appearance, convention morality which conflict with and control them The result is an indirect or veiled expression, which we call poetry "The poetic mind, p 241

२ In which there lies beneath the transparent upper current of meaning an under or suggestive one The Poetic mind, p 244

३. ग० मा० मुक्तिबोध, एक साहित्यिक की डायरी, पृ० १६

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कला सृजन के द्वितीय क्षण में ही कवि की अनुभूति व्यंग्य बनने लगती है, क्योंकि ज्यों ही अनुभूति फैन्टेसी का रूप ग्रहण करती है, वह भोक्ता कवि से पृथक् हो जाती है और कवि उसका स्वतन्त्र द्रष्टा हो जाता है। प्रतीक, बिम्ब आदि का संयोजन इसी स्थिति में होता है। इस फैन्टेसी को शब्द देने की प्रक्रिया में कविता मूर्त होती है। कला-रचना के इस द्वितीय क्षण का विश्लेषण यह सिद्ध करता है कि यह प्रक्रिया चेतन मानस की है, इसमें समय की अपेक्षा है, कला तात्कालिक सृजन नहीं है।[1] इससे यह भी सिद्ध होता है कि कविता-कला का सौन्दर्य व्यंग्यत्वजन्य ही होता है, वाच्यत्व में नहीं।

अतः कवि यदि अपने परिवेशजन्य अनुस्थितियों में स्थित है, उनसे कटा नहीं है, कटने का आकांक्षी भी नहीं है और उसने आवेग के उच्छलन और परिवेशजन्य नियन्त्रण को झेला है, अभिव्यक्ति की छटपटाहट को अनुभव किया है तो वह अपनी अनुभूति को व्यंग्य रूप में ही प्रस्तुत करेगा।

आनन्दवर्धन ने कविता के इसी चिन्तन का उद्घाटन किया था। शब्द और अर्थ की समन्विति का प्रतिपादन भामह भी कर चुके थे। 'रीति' को काव्य की आत्मा कहकर वामन ने विस्तारपूर्वक दस शब्दगुण और दस अर्थगुणों का व्याख्यान किया, यद्यपि वामनकृत यह आख्यान भौतिक शरीर को आत्मा कहने के समान था। भरत का रससंदर्भीय सूत्र भी विद्यमान था। इस पूर्व प्राप्त के परिवेश में आनन्दवर्धन का यह सिद्धान्त सृजन की रचना--क्रिया से सम्बद्ध है। कविता का प्रथम भौतिक आधार शब्द और अर्थ है। ध्वनिसिद्धान्त में शब्द और अर्थ विषयक समस्याओं के सभी आयामों का तर्कसम्मत विवेचन है। जैसा कि कहा जा चुका है, रचना-प्रक्रिया में ही कवि की अनुभूति व्यंग्य बनने लगती है, अतः कविता में वाच्यरूप में उपस्थित अर्थ कवि की अनुभूति को प्रकट नहीं करता। इसलिए कविता की प्रेरक अनुभूति तक पहुँचने के लिए वाच्यार्थ के द्वारा निहित व्यंग्यार्थ तक पहुँचना होगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कवि की सृजन सामर्थ्य इतनी प्रबल होनी चाहिए कि वह अपनी अनुभूति को व्यंग्यत्व की पूर्णता तक पहुँचा सके। इसके लिए उसे शब्द-चयन में इतना सायास होना चाहिए कि प्रयुक्त शब्द और वाच्यार्थ व्यंग्यनिष्ठ हों। इसी समस्या के समाधान हेतु आनन्दवर्धन ने कहा कि महाकवि को उस अर्थ (जिसमें अनुभूति साकार होती है, और जो व्यंग्य ही होता है।) और उस अर्थ को व्यक्त करने वाले शब्द को पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि शब्द मात्र उस अर्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ नहीं होता।[2] कविता के मर्म तक प्रत्येक व्यक्ति नहीं पहुँच पाता। शब्द,

---

१. Join Dewey, Art as an experience, p. 65.

२. सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयो तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥ ध्व० (आ० दि०) पृ० ४७

कोषगत अर्थ और वाक्य रचना के व्याकरणिक नियम भले ही सब जान लें, परन्तु व्यंग्यार्थ तक पहुँचने के लिए जिस सहृदयत्व की आवश्यकता है, वह सबके पास नहीं होता। नव कवियों ने बार-बार यह घोषणा की है कि उनकी कविता विशिष्ट पाठकों के लिए है। सच तो यह है कि कविता अभिव्यक्ति की ऐसी विधा है जो विशिष्ट जनों के लिए ही है। कविता जनसामान्य के लिए कभी नहीं रही। भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा ने सदैव सहृदय का विधान किया है, वही व्यक्ति काव्य के मर्म को जान सकता है जो काव्यार्थ तत्त्व को जानता है।[1] जिसके पास कविता को समझने में सहायक सहृदयत्व के संस्कार हैं।

भारतीय विचार-परम्परा भौतिक शरीर के साथ आत्मा को महत्त्व देती है। अपनी अभिव्यक्ति के लिए शरीर पर निर्भर रहते हुए भी, आत्मा का प्राधान्य निर्विवाद है। अभी हम जिस काव्य रचना-प्रक्रिया का विवेचन कर आये हैं, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि की अनुभूति, कविता में व्यंग्य रूप में निहित होती है। शब्द और वाच्यार्थ इसे व्यक्त करने के साधन हैं। जैसे आत्मा को व्यक्त करने का साधन शरीर है उसी प्रकार व्यंग्यार्थ के सन्दर्भ में, शब्द और वाच्यार्थ, दोनों ही शरीर धर्म का पालन करते हैं। स्पष्ट है कि इस स्थिति में व्यंग्यार्थ का ही प्राधान्य होगा। इसी सन्दर्भ में आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ अथवा व्यंग्यार्थ को काव्य की आत्मा कहा है, वही प्रतिपाद्य भी है। यही कारण है कि शब्द और वाच्यार्थ का प्रतीयमान अर्थ के प्रति 'तत्परत्व' भाव प्रतिपादित किया गया है।[2]

शब्द और वाच्यार्थ के व्यंग्यनिष्ठ होने पर ही कविता, रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से पूर्ण कही जायगी और ऐसी ही कविता को आनन्दवर्धन श्रेष्ठ काव्य प्रतिपादित करते हैं, उत्तम काव्य ही ध्वनि काव्य भी है। आनन्दवर्धन ने 'ध्वनि' पद का प्रयोग विशेष मन्तव्य से किया है। काव्य, जिसमें शब्द और अर्थ व्यंग्यनिष्ठ भाव से स्थित हों, व्यंग्यार्थ की प्रधान सत्ता के कारण प्राणवान भी होगा और ध्वनि तो प्राणवत्ता का प्रमाण है। इसीलिये आचार्य ने 'ध्वनि' पद का प्रयोग किया है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि शक्त एवं प्राणवान काव्य वही होगा जिसमें कवि की

१ शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥ ध्व० (आ० वि०) पृ० ४६

२ 'तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ' ध्व० (आ० वि०) पृ० ७३

३. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥

—वही पृ० ६३

अनुभूति व्यंग्य रूप में स्थित है। इसलिए जब आनन्दवर्धन काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति' कहते हैं तो कविता की प्रभावी सामर्थ्य एवं सप्राणता पर बल देते हैं। कविता की आत्मास्वरूप यह अर्थ काव्यतत्त्व को समझ सकने में समर्थ व्यक्तियों को तुरन्त अवभासित हो जाता।[1]

ध्वनिसिद्धान्त अपने समय का विवादास्पद सिद्धान्त रहा है। आनन्दवर्धन ने अपने से पूर्व के सभी सिद्धान्तों को काव्य के अर्थ से जोड़कर ध्वनिसिद्धान्त में समाहित कर दिया था। आनन्दवर्धन की क्रांतिकारी स्थापना थी वस्तु और अलंकार रूप अर्थों की भी प्रतीयमानता। सायास 'शब्दयोग की साधना' पर बल देकर आनन्दवर्धन कविता की रचना-प्रक्रिया में बुद्धितत्त्व का महत्त्व स्थापित करते हैं और वस्तु की प्रतीयमानता सिद्ध करते हुए कविता के भावन में बुद्धि की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं। वाच्यार्थ से भिन्न व्यंग्यार्थ रूप वस्तु तक पहुँचने का क्रम अलौकिक आनन्द-अनुभूति का मार्ग नहीं वरन् बुद्धि और तर्क का मार्ग है। वस्तुतः मुक्तक कविता में अर्थ प्रतीति की यही तर्कसंगत व्याख्या है।

कतिपय ऐसी भी रचनाएँ होती हैं जिनमें वाच्यार्थ प्रतीति के साथ ही कोई भाव तत्काल ही भासित हो उठता है, पर यह स्थिति कविता के लिए अनिवार्य नहीं है। इसलिये आनन्दवर्धन ने रस को भी व्यंग्य माना है, मात्र रस को ही नहीं। अतः यह आरोप लगाकर कि भारतीय काव्यशास्त्र परम्परा रसवादी है और नयी कविता का रस से कोई सम्बन्ध नहीं इसलिए पारम्परिक काव्यशास्त्र को अग्राह्य कहना, अपने अज्ञान को प्रकट करना है। आनन्दवर्धन तो रचना-प्रक्रिया और काव्य-शिल्प की दृष्टि से कथ्य की व्यग्यता पर बल देते हैं। उनके वस्तु व्यंग्य में तो जगत् के सभी तथ्य-कथ्य आ जाते हैं, लघु-से-लघु और महान्-से-महान् भी।

आनन्दवर्धन ने गुणीभूत व्यंग्य काव्य वहाँ माना है जहाँ प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता न हो। इस स्थिति का रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि यह अपूर्ण अथवा त्रुटिपूर्ण रचना स्थिति है। इससे कवि की अक्षमता प्रकट होती है। यह स्थिति अनेक प्रकार से हो सकती है। व्यंग्यार्थ भी वाच्यार्थ का ही उपकारक बन जाये, अथवा व्यंग्यार्थ इतना गूढ़ हो कि सहृदयों के लिए भी अगम्य हो अथवा व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ जितना ही स्पष्ट हो तो उसका वैशिष्ट्य ही समाप्त हो जायेगा। व्यंग्य का संस्पर्श होने से इस प्रकार की रचना भी कविता तो है ही। गुणीभूत व्यंग्य रचना जैसा कि हम कह चुके हैं कवि की अक्षमता की द्योतक है। क्योंकि कोई कवि यह नहीं चाहेगा कि उसकी मूल अनुभूति की अपेक्षा वाच्यरूप

---

१. बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते, ध्व० (आ० वि०) पृ० ५३

से अनस्थित अर्थ प्रधानतया प्रतीत हो। यह तभी होगा जब कवि अपनी फैण्टेसी को उपयुक्त शब्द देने मे असमर्थ हुआ हो, या फिर कल्पना शक्ति मे सामर्थ्य न होने से फैण्टेसी ही पूर्ण न बना हो।

किन्तु कभी-कभा एक भाव दूसरे का अग बन जाता है, ऐसी स्थिति सर्वदा दोषपूर्ण नही होती। शिल्प के रूप मे भा इस प्रकार के प्रयोग किये जाते हैं। वहाँ वस्तुत एक भाव प्रधान होता है, उस भावजन्य अनुभूति से उत्पन्न फैण्टेसी के रूप मे द्वितीय भाव उभरता है, किन्तु उस मूल भाव का ही पोषण करता है। आचार्य मम्मट ने इस स्थिति का एक अच्छा उदाहरण दिया है। भाव है—

'चतुर्दिक् ऊँचे-ऊँचे पर्वत और विस्तीर्ण सागर दृष्टिगोचर होते हैं, पृथ्वी इन्हें धारण करती हुई भा तुम विचलित नही होना, तुमको मेरा प्रणाम है। इस प्रकार जब मैं पृथ्वी की आश्चर्याभिभूत होकर वन्दना कर रहा था कि हे राजा! इस पृथ्वी को भी अविचलित रूप से धारण करने वाली तुम्हारी भुजा मुझे स्मरण हो आई और मेरी वाणी मुद्रित हा गई।[१]

निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि राजा के प्रति श्रद्धा भावजन्य अनुभूति को कवि ने फैण्टेसी का रूप देकर व्यक्त किया है, अत यह कोई त्रुटि नही है, यह शिल्प का एक प्रकार है। परन्तु जहाँ कवि कुछ कहना चाहे और उसमे असमर्थ हो? भावक अर्थ निर्णय ही न कर पाये, यह स्थिति काव्य-दृष्टि की असफलता की सूचक है। यदि वाच्यार्थ ही प्रमुख लगे तो इसका तात्पर्य यह होगा कि फैण्टेसी को उपयुक्त शब्द ही न मिले। इसीलिए आनन्दवर्धन प्रयत्नपूर्वक शब्द-प्रयोग का निर्देश किया है।

जिसमे व्यग्य का स्पर्श भी न हो उसे ध्वन्यालोककार ने चित्र काव्य कहा है—स्वनिमो (Phonemes) के वैचित्र्यपूर्ण प्रयोग से रचा हुआ काव्य। योंकि इसमें काव्य का आत्मतत्त्व स्वरूप प्रतीयमान अर्थ होता ही नही अत यह प्राणवान प्राणी के समान नही उसके निर्जीव चित्रवत् होता है। व्यग्य प्रधान काव्य प्राणवान सजीव कविता है, उससे रहित काव्य कविता नही, उसका निर्जीव चित्र है। इसमें व्यग्यार्थ विशेष प्रकाशन की शक्ति नहीं होती यह वाचक-वाच्य के वैचित्र्य के आधार पर

---

१ अत्युच्चा परित स्फुरन्ति गिरय स्फारास्तथाम्भोधय
स्तानेतानपि बिभ्रती किमपि न क्लान्तासि तुभ्य नम।
आश्चर्येण मुहुर्मुहु स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद् भुव
स्तावद्बिभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिता॥

का० प्र० (आ० वि०) पृ० २०१

निर्मित होता है। लिखने के लिए लिखी गई, अनुभूति और उसके आवेग से शून्य कविताएँ इसी कोटि की होंगी। पाठक पर इनका प्रभाव भी नहीं पड़ेगा। इस प्रकार की रचना करने वाला कवि काव्य की रचना-प्रक्रिया से ही अपरिचित होगा, वह सुनी हुई अथवा बलात् ओढ़ी हुई, पराई अनुभूति के अनुकरण में निर्जीव शब्द-जाल रचेगा। प्रयोगवादियों और अकविता लिखने वालों ने भाषा के शब्दों के असामर्थ्य की बात अनेक बार दुहराई है, शब्दों में नए अर्थ भरने का दम्भ प्रकट किया है। निस्सन्देह, शब्दों को नए सन्दर्भ में प्रयुक्त किया जा सकता है और तब व्यंजना के चमत्कार से शब्द नूतन चमत्कारपूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति दे सकता है, परन्तु शब्दों में नया अर्थ नहीं भरा जा सकता। आनन्दवर्धन ने इस समस्या पर विचार किया है। कोई कवि नया शब्द गढ़ सकता है, किन्तु, तब उसे बतलाना होगा कि शब्द किस अर्थ का वाचक है। प्रसिद्ध वाच्यार्थ वाला शब्द सन्दर्भ विशेष में, व्यंजना के आश्रय से नूतन अर्थ ध्वनित करेगा। किन्तु उस सन्दर्भ से हट जाने पर वह रूढ़ अभिधार्थ का ही वाचक रहेगा।

आनन्दवर्धन ने कवि की पूर्ण अभिव्यक्ति की आकांक्षाजनित पीड़ा को समझा था। इसी से उन्होंने कहा है, कवि व्यंजना का मार्ग ग्रहण कर नवत्व को प्राप्त कर सकता है।[1] कवि की प्रतिभा, कल्पना-शक्ति का ही एक रूप है, यही अनुभूति के समतुल्य फैण्टेसी रचती है। फैण्टेसी जितनी स्पष्ट होगी, काव्य उतना ही सशक्त होगा। व्यंजना के आश्रय से कवि की कल्पना-शक्ति भी उन्मेष प्राप्त करती है।

व्यंजना का आश्रय लेकर कवि की वाणी प्राचीन अर्थों से युक्त होने पर भी नवत्व को प्राप्त करती है।[2] परिमित काव्य-मार्ग भी अनन्त हो जाता है।[3] शुद्ध वाच्य अर्थ भी अवस्था देशकालादि के वैशिष्ट्य से, स्वभावतः, अनन्त हो जाता है।[4] पौराणिक कथाओं का नए कवियों ने इस प्रकार प्रयोग किया ही है और आनन्दवर्धन को बिना पढ़े ही किया है। वस्तुतः यह काव्य का शाश्वत भाग है—इसमें प्राचीनता नवीनता का प्रश्न नहीं उठता।

ध्वन्यालोककार अपने समय का निश्चित ही प्रगतिशील विचारक रहा होगा। वह परम्परामुक्तता में विश्वास नहीं करता, कहता है—[5]

१. 'अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः' ध्व० (आ० वि०), पृ० ४५४
२. 'वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि' ध्व० वही ४५५
३. 'मितोऽप्यनन्ततां प्राप्तः काव्यमार्गो यदाश्रयात्' ध्व० वही ४५६
४. 'आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावतः' ध्व० वही ४७४
५. यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किंचित्,
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते ॥ ध्व० (आ० वि०) पृ० ४८८

'जिस वस्तु के विषय में सहृदयो को ऐसा प्रतीत हो कि यह वस्तु नई लगती है, यह उचित नई सूझ है वह वस्तु नई या पुरान जो भी हो, रम्य है।'

इस मान्यता को प्रश्रय देने वाले ध्वनिसिद्धान्त को परम्परावादी कौन कह सकता है? कविता को प्रेरणा देने वाली अनुभूति का आधार जगत् की कोई भी वस्तु बन सकती है। नई कविता मे सामान्य के प्रति, लघु के प्रति रुचि जागी है, वह अनुचित नही है। नित्य दृष्टि में जाने वाली सामान्य और घृणित-से-घृणित वस्तु के सम्बन्ध मे यदि कवि की काई अनुभूति है और उसे वह इस रूप मे प्रस्तुत कर सके कि नूतन लगे, तो वह भी रम्य है। किन्तु कविता घृणा उत्पन्न कर वमन कराने का साधन नही हो सकती इस स्थिति का कोई भी सविवेक व्यक्ति कविता न कह सकेगा।

कवि, स्वभावत विद्रोही होने के कारण, लीकों को तोडता है, किसी अश तक समझौता करता है। नई कविता में दो स्थितियाँ स्पष्ट दिखलाई पडती थी। ऐसे कवि थे जिन्होने आवेग झेला था, नियन्त्रण सहा था, अभिव्यक्ति की छटपटाहट जिनमे शिल्प बनकर उभरी थी। और ऐसे भी थे जिन्होंने सब कुछ अस्वीकारने का मार्ग चुना था। इनमें भी दो कोटियाँ थी। एक वे जिनमें काव्योचित आवेग तो था पर जो किसी भी नियन्त्रण को स्वीकार नहीं करते थे। आवेग की तीव्रता के कारण ये जैसे तैसे उसे कह जाते थे। आवेग की तीव्रता ही इसमे प्रभावी तत्त्व होता था। दूसरे वे थे जिनका दद ओढा हुआ था, जो अनुकरण पर जी रहे थे। न इनके पास अनुभूतिजन्य आवेग था और न कविता का शिल्प। चौंकाने वाले, कुरुचिपूर्ण कथनो को ये तथाकथित कवि जस्टीफाई करते रहे। अकविता के हामियो ने कहा, अकविता नगी है', 'उसे कोई सकोच नही है', सेक्स उनके लिये आश्चर्य की, डर की चीज नही है।' वस्तुत यह नयी पीढी को, कुछ भी न कर—सब अस्वीकार करने का नाटक कर—अपना अस्तित्व स्वीकृत कराने की विधि भी है। इस विधि की भी परम्परा रही है।

ध्वनिसिद्धान्त ने कविता के सभी सम्भव प्रकारो को समेटा है। इसका तात्पर्य यह है कि यह प्रवृत्ति जो नई कही जा रही है आज को नही है, आनन्दवर्धन के समय मे भी रही होगी तभी न आचार्य ने इसे भी परिगणित किया है।

अत जहाँ तक शाश्वत काव्यतत्त्व चिन्तन का प्रश्न है, वह नया-पुराना नही होता। आनन्दवर्धन का ध्वनिसिद्धान्त काव्यतत्त्व-चिन्तन की दृष्टि से आज भी महत्त्वपूर्ण है।

———

अध्याय नवम

प्रतीक, बिम्ब और मिथ का व्यञ्जकत्व

प्रतीक और अर्थव्यंजना

प्रतीक-प्रयोग की प्रेरणा दो वस्तुओं में साम्य की अनुभूति में निहित है। यदि दो वस्तुएँ इतनी समान प्रतीत होती है कि प्रत्येक दृष्टि से एक दूसरी के समतुल्य लगें तो एक को दूसरी का स्थानापन्न कर दिया जाता है। यदि क और ख, दो वस्तुओं में सादृश्य है तो 'क', 'ख' का अथवा 'ख', 'क' का प्रतीक बन सकती है। इस प्रकार साम्य रखने वाली वस्तुओं में से एक अधिक परिचित होगी, दूसरी कम। एक स्थूल हो सकती है, दूसरी सूक्ष्म। ऐसी स्थिति में सुपरिचित वस्तु अल्पपरिचित का और स्थूल वस्तु सूक्ष्म का प्रतीक बनेगी। डब्ल्यू० एम० अरबन ने सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से उस वस्तु को प्रतीक माना है जो अपने तात्कालिक अभिप्राय से भिन्न, विषय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण किसी अन्य अभिप्राय को सुझाती है।[1] प्रतीक-प्रयोग और तज्जनित अर्थभावन में सहृदय की भावनशक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके अतिरिक्त प्रतीक की अर्थ-विवृति में संदर्भ-विमर्श भी अनिवार्य है।[2] प्रतीक के सम्बन्ध में लैंगर का कथन सत्य है कि प्रतीक जिस वस्तु का प्रतीक है, उस वस्तु को नहीं, उसके भाव को, धारणा को, व्यक्त करता है।[3]

कविता में प्रतीक-प्रयोग की परम्परा संभवतः स्वयं कविता जितनी ही प्राचीन है। कविता शब्दार्थमय है अतः शब्द और अर्थ के समुच्चय-स्वरूप भाषा से प्रतीक का सम्बन्ध-अवधारण उचित होगा।

'क' और 'ख' दो वस्तुएँ हैं, दोनों में सादृश्य है, तब ये दोनों ही एक दूसरे की प्रतीक बन सकती हैं। यदि दोनों वस्तुओं के भाषा में 'क' और 'ख' नाम भी है तो 'क' के स्थान पर उसके प्रतीक 'ख' के नाम ख का प्रयोग भी किया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि वस्तुओं की भाँति उनके नाम भी परस्पर परिवर्तनीय

---

१. लैंग्वेज एण्ड रिअलिटी, पृ० ४६६

२. सी० के० आगडेन तथा आई० ए० रिचर्ड, द मीनिंग आव मीनिंग, पृ० २०६

३. सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व, पृ० २३७

हैं। इस प्रकार के प्रयोग, जब नाम स्वय से वाच्य वस्तु की अपेक्षा अन्य वस्तु को अथवा उसके भाव को व्यक्त करें, प्रतीक प्रयोग कहलाते हैं। बहुधा ऐसा भी सभव है कि साम्य रखने वाली दो वस्तुओ मे से एक के लिये भाषा मे कोई वाचक शब्द नहीं होता तब यह वस्तु आलकारिक विधि अथवा लाक्षणिक प्रयोग से जानी जाती है। नई वस्तु के लिये नया शब्द गढने की अपेक्षा मानव-प्रवृत्ति के यह अधिक अनुकूल है कि वह पुराने शब्द के अर्थ में प्रतीकात्मक अर्थविस्तार कर ले। निश्चय ही, इस प्रक्रिया से भाषा की अभिव्यक्ति-क्षमता मे वृद्धि होती है। कवि का ससार इस स्थूल-भौतिक जग से अधिक व्यापक है, वह अनेक ऐसे विचारो से, घटनाओ से, ऐसे सत्यो से साक्षात्कार करता है जिनके लिए भाषा में सम्यक् शब्द नही होते, परि-णामत उसे प्रतीकात्मक प्रयोगो का आश्रय ग्रहण करना पडता है। इस प्रकार कवि अन्यथा-असप्रेषित विचारों को भी अभिव्यक्ति देता है। इसी अर्थ मे कवि भाषा का निर्माता कहा जाता है।[1]

प्रतीक-प्रयोग मे दो वस्तुएँ सादृश्य के कारण एक दूसरे के निकट रख दी गई हों, ऐसा नही है। कवि की कल्पना-दृष्टि दो सदृश वस्तुओ को परस्पर निकट नहीं रखती, वह दोनों का समेकन करती है। यदि दो सदृश वस्तुएँ—'अ' और 'ब' हैं तो कल्पना द्वारा रचित वस्तु 'अ ब' द्वारा व्यक्त की जा सकती है। 'अ' और 'ब' के कतिपय गुण प्रच्छन्न हो जाते हैं, अत नूतन यौगिक—(अ×ब की अपेक्षा (अ—स) (ब—द) होता है, स 'अ' का दमित अश है और द 'ब' का दमित अश। नई वस्तु को 'अ' अथवा 'ब' नाम से अथवा दोनो के सयुक्त नाम से भी पुकारा जा सकता है। इस दृष्टि से प्रतीक दो वस्तुओ का परस्पर सहप्रक्षेपण भी कहा जा सकता है।

प्रतीक-अर्थ प्रतीति के हेतु

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि काव्य मे प्रयुक्त शब्द-प्रतीक दो अर्थों को सन्निहित रखता है। जिस वस्तु का वह प्रतीक है, उसके अर्थ को और स्वय के वाच्यार्थ को। दो अर्थों की इस प्रवृत्ति के कारण विद्वानों ने प्रतीक को लाक्षणिक प्रयोग तथा अर्थ प्रतीति में शुद्धा साध्यवसाना या गौणी साध्यवसाना लक्षणा मानी है।

साध्यवसाना लक्षणा वहाँ होती है जहाँ उपमान के द्वारा उपमेय का अन्तर्भाव कर लिया जाता है—

'विषय्यन्त कृते अन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका।' इसका उदाहरण *'गौरयम्' दिया गया है।* इसमें उपमेय वाहीक का शब्दश कथन नहीं है, वह 'गौ' के द्वारा निगीर्ण हो गया है। इस प्रतीति में—कुछ बाते ध्यान देने की हैं—(१) यह

---

१ प्रेस्काट, द पोएटिक माइन्ड, पृ० २२५

(गौरयम्) प्रत्यक्ष कथन होगा, अर्थात् जब सामने वाहीक होगा तभी वक्ता 'यह बैल है' कहेगा, उसके अभाव में 'यह बैल है' कहा ही नहीं जा सकता। वाहीक की अनुपस्थिति में तो 'वाहीक बैल होता है' कहना पड़ेगा। वाहीक की उपस्थिति में वाक्य के कहे जाने पर 'अयम्' उसका वाचक हो गया, तब बैल, अयम् का प्रतीक नहीं हो सकता। प्रतीक प्रयोग में तो प्रतीक का ही प्रयोग होता है। अथवा कविता के एकाध ऐसे उदाहरण भी देखने में आते हैं जिनमें स्पष्टतः यह कहा गया है कि अमुक, अमुक का प्रतीक है।

शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा वहाँ होती है जहाँ उपमेय और उपमान में सादृश्येतर सम्बन्ध होता है। परन्तु प्रतीक-योजना में सादृश्येतर सम्बन्ध का अवसर नहीं है, वह तो सादृश्य पर ही निर्भर है। अतः शुद्धा साध्यवसाना अथवा गौणी साध्यवसाना लक्षणा के अन्तर्गत 'प्रतीक' का अन्तर्भाव युक्तिसंगत नहीं है।

कविता में प्रतीकार्थ तक कैसे पहुँचा जाता है, यह प्रश्न विचारणीय है। पन्त जी की निम्नलिखित पंक्तियों का परीक्षण करें—

उषा का था उर में आवास,
मुकुल का मुख में मृदुल विकास।
चाँदनी का स्वभाव में वास,
विचारों में बच्चों की साँस।[1]

'उर' में उषा का आवास कैसे सम्भव है ? अतः यहाँ वाच्यार्थ अव्युत्पन्न है, तब उषा से सम्बन्धित अर्थ, प्रकाश, प्रसन्नता, औज्ज्वल्य आदि ग्रहण करने होंगे। इस प्रकार उषा प्रकाश आदि का प्रतीक है, परन्तु इस प्रतीक—प्रयोग का प्रयोजन क्या है ? 'उर' की सहृदयता, प्रेरणात्मकता आदि प्रकट करना। प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन की प्रतीति में व्यंजना का व्यापार ही रहता है, यह सिद्ध बात है। आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के द्वितीय और पञ्चम उल्लास में इस सम्बन्ध में विस्तार से शास्त्रार्थ दिया है। अतः प्रतीकार्थ तक पहुँचने में एक हेतु मुख्यार्थ का अव्युत्पन्न होना है। इसमें लक्षणा की प्रवृत्ति मानी जा सकती है, परन्तु प्रयोजन की प्रतीति में व्यंजना को हेतु मानना होगा। इस प्रकार प्रयोजन रूप प्रतीकार्थ और प्रतीक में व्यंग्य-व्यंजक भाव सम्बन्ध है।

प्रतीक-प्रयोग में वाच्यार्थ सदैव अव्युत्पन्न नहीं होता। निराला की 'कुकुरमुत्ता' कविता की ये पंक्तियाँ विचारणीय हैं—

---

१. पन्त, पल्लव, पृ० १६

अबे सुन बे गुलाब,
भूल मत पाई गर खुशबू रंगो आब,
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा कैपिटलिस्ट ।[1]

इन पंक्तियों का वाच्यार्थ पूर्णतः निष्पन्न है । परन्तु चतुर्थ पंक्ति में 'कैपिटलिस्ट' पद प्रथम पंक्ति के 'गुलाब' को प्रतीक बना देता है । अब सहृदय इसे दूसरे अर्थ में देखता है । गुलाब-कैपिटलिस्ट, शोषक, निम्नवर्ग के रक्त पर फूलने-फलने वाले व्यक्तियों का प्रतीक है । स्पष्टतः यहाँ 'सन्दर्भ' ही प्रतीकार्थ तक पहुँचने का हेतु है । 'गुलाब' के प्रतीकार्थ की प्रतीति यहाँ व्यंजना-गम्य ही है । क्योंकि कैपिटलिस्ट गुलाब का वाच्यार्थ नहीं है । लक्षणा के हेतु न होने से यहाँ लक्षणा का अवसर भी नहीं है अतः प्रतीकार्थ की प्रतीति व्यंजना द्वारा ही हो रही है ।

काव्य-प्रतीक में कुछ गुण उस वस्तु के होते हैं, जिसका वह वाचक होता है और कुछ गुण उस वस्तु के होते हैं जिसका प्रतीक होता है । अतः प्रतीक, उस वस्तु के भाव को, जिसका वह प्रतीक है, व्यंजित करता है । प्रतीक अपना वाच्यार्थ रखते हुए भी अन्य अर्थ—जिसे प्रतीकार्थ कहा जाता है—व्यक्त करता है इसलिए प्रतीक और प्रतीकार्थ में व्यंग्य-व्यंजकमात्र सम्बन्ध ही होता है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रतीक को विशेष प्रकार का उपमान कहा है । शुक्ल जी प्रतीक की विशेषता को तो हृदयगम कर चुके थे परन्तु सम्भवतः व्यञ्जना के प्रति पूर्वाग्रह के कारण वे इसे व्यञ्जक कहना न चाहते हों ? जो भी हो,'विशेष' स्वयं इस बात की घोषणा करता है कि प्रतीक में सामान्य उपमानोपमेय भाव से अधिक वैशिष्ट्य है । यह वैशिष्ट्य इसके व्यञ्जकत्व के कारण ही है ।

प्रतीक अन्योक्ति नहीं है—

काव्य-प्रतीक जिस सरचना में प्रयुक्त होता है, उस सरचना में उसकी स्थिति केन्द्रीय होती है । अन्योक्ति में एक पूर्ण वाच्यार्थ होता है, यह वाच्यार्थ सन्दर्भ के विमर्श से अन्य अर्थ भी देता है । पर अन्योक्ति कथन की यह विशेषता है कि वाच्यार्थ-रूप कथन भी उतना ही सुन्दर लगता है, यदि किसी को सन्दर्भ का ज्ञान न हो और वह अन्य अर्थ न भी प्राप्त कर सके, तो भी कथन पूर्ण लगेगा । उसमें अन्तर यह होगा कि सन्दर्भ के ज्ञान से अन्योक्तिरूप कथन के वाच्यार्थ से विशेष व्यंग्यार्थ की प्रतीति होगी और सन्दर्भ के ज्ञान के अभाव में सामान्य अर्थ की प्रतीति होगी । बिहारी की प्रसिद्ध अन्योक्ति का परीक्षण करें—

---

१ निराला, कविश्री

स्वारथु सुकृत न श्रम वृथा देख विहंग विचारि।
बाज पराये पानि परि तू पच्छीन न मारि ।।

(१) यदि श्रोता को राजा, उसके कर्मचारी आदि का सन्दर्भ ज्ञात नहीं है तो भी वह 'बाज पक्षी' रूप वाच्यार्थ से इस अर्थ तक पहुँच जाएगा कि मनुष्य को व्यर्थ, किसी अन्य के संकेत से, किसी को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिए। वह सामान्य व्यंग्यार्थ होगा।

(२) यदि राजा जयसिंह और उनके कर्मचारियों का सन्दर्भ ज्ञात हैं तो राजा से सम्बन्धित विशेष अर्थ की प्रतीति हो सकेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि अन्योक्ति में अर्थ निष्पत्ति के लिए भाषेतर सन्दर्भ-विमर्श की अपेक्षा अनिवार्य है। प्रतीक का सन्दर्भ उस संरचना में ही होता है।

अन्योक्ति व्यक्ति विशेष के लिए ही होती है, जब कोई व्यक्ति किसी दूसरे को प्रत्यक्ष न कहकर, व्याज से कहना चाहता है तो वह अन्योक्ति प्रणाली का आश्रय लेता है।

अन्योक्ति में प्रतीक का प्रयोग किया जा सकता है पर प्रत्येक प्रतीक-प्रयुक्ति अन्योक्ति नहीं होती। अन्योक्ति और प्रतीक-प्रयुक्ति के उद्देश्य में स्पष्ट अन्तर है। अन्योक्ति की शैली में श्रोता की सन्निधि अपेक्षित है, प्रतीकशैली में यह आवश्यक नहीं है। एक वस्तु भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में प्रयुक्त होकर भिन्न-भिन्न वस्तुओं का प्रतीक बन सकती है, पर अन्योक्ति विशेष सन्दर्भ में ही सीमित रहती है।

गणपति चन्द्रगुप्त ने अरबानकृत प्रतीक वर्गीकरण को उद्धृत कर उससे सहमति प्रकट की है। यह वर्गीकरण निम्नलिखित है—

१—संकेतात्मक

इनमें प्रतीकात्मक शब्द का विशेष महत्त्व नहीं रहता, केवल सम्बन्धित पदार्थ का ही महत्त्व रहता है। उदाहरण के लिए हम अपने कुत्ते का नाम कमल रख देते हैं। यहाँ कमल विशेष कुत्ते का पर्यायवाची है।

इसे श्री गुप्त ने अभिधा पर आधृत प्रतीक माना है। प्रतीक विधान के वैशिष्ट्य पर ध्यान देने से स्पष्ट होगा कि उपर्युक्त प्रयोग प्रतीक के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। यद्यपि ऐसे मत भी हैं जो भाषा के प्रत्येक शब्द को, उस शब्द से ज्ञात वस्तु का प्रतीक मानते हैं। उस दृष्टि से भी 'कमल' कुत्ते का प्रतीक नहीं कहा जा सकता। यहाँ दो वस्तुएँ हैं कुत्ता और कमल। 'कुत्ते' के स्थान पर कमल का प्रयोग किसी भी सादृश्य पर आधृत नहीं है। एक वस्तु के स्थान दूसरी वस्तु का अथवा उसके नाम का प्रयोग करने से ही वह वस्तु प्रतीक नहीं बन जाती, सादृश्य

की प्रतीति ही प्रतीकार्थ तक पहुँचाती है। कुत्ते को कमल कहना, अभिधा पर आधृत तो एकदम नही है। कुत्ते और कमल के वाच्यार्थ रूढ़ हैं। यह वाक्य—'यहाँ कमल विशेष कुत्ते का पर्यायवाची है', निरर्थक है। पर्यायवाची प्रसिद्ध होते हैं, जब तक प्रयोक्ता स्पष्टत न कहे कि कमल का अर्थ उसका विशेष कुत्ता समझा जाय तब तक कोई भी वैसा समझने की मूर्खता नहीं करेगा। अतः ऐसे प्रयोगो को प्रतीक नहीं कहा जा सकता।

२—अभिव्यंजनात्मक

इनमें प्रतीकात्मक शब्द का प्रयोग विशेष प्रयोजन से होता है। 'मेरा नोकर बिल्कुल गधा है, उसे कुछ भी समझ में नहीं आता' यहाँ गधा मूर्खता का प्रतीक है। वस्तुतः इसे भी प्रतीक प्रयोग नही कहा जा सकता, यह लक्षणा का उदाहरण है। लक्षणा के प्रत्येक प्रयोग में प्रतीक नहीं होता। काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध उदाहरण 'गंगायां घोष' में लक्षणा का चमत्कार स्पष्ट है, पर वहाँ प्रतीक प्रयोग नही है।

३—आरोपमूलक

'इसमे जानबूझ कर एक अर्थ पर दूसरे अर्थ का आरोपण होता है।' उदाहरण दिये गये हैं—

(१) 'ठाढा सिंह चरावै गाई'—कबीर

(२) 'मधुर-मधुर मेरे दीपक जल'—महादेवी

परन्तु ये दोनो उदाहरण भिन्न प्रकृति के हैं। कबीर की पंक्ति में वाच्यार्थ अव्युत्पन्न है —'सिंह गायों को खड़ा रहकर नहीं चराता।' कबीर के पदों के विमर्श से ही इस उलटबाँसी का रूपक स्पष्ट होता है। सिंह यहाँ मन है, गाई का अर्थ इन्द्रियाँ है। यह अर्थ किसी सादृश्य से व्यक्त नहीं होता। यह रूढ़ लक्षणा का ही नहीं, सीमित, अत्यन्त रूढ़ कोई लक्षणा हो तो उसका उदाहरण कहा जा सकता है।

इसके विपरीत महादेवी की पंक्ति प्रतीक-प्रयोग का श्रेष्ठ उदाहरण है। इसमे वाच्यार्थ अव्युत्पन्न नही है। 'दीपक के मधुर-मधुर जलने' में माधुर्य की अभिव्यक्ति हो रही है। साथ ही 'दीपक' प्रतीक से अन्य अर्थ भी प्रतीत हो सकते हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है—

(१) प्रतीक प्रयोग के मूल में दो वस्तुओं के सादृश्य की प्रतीति है।

(२) प्रतीक का अन्तर्भाव लक्षणा प्रयोगों से नहीं होता। लक्षणा प्रयोगों में सर्वत्र प्रतीक योजना नही दिखलाई पड़ती। कहीं-कहीं प्रतीकार्थ की प्रतीति मे लक्षणा-प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है। सामान्यतः प्रतीक अपना अर्थ रखते हुए ही प्रतीकार्थ व्यक्त करता है।

(३) प्रतीक-प्रयुक्ति के मूल में कम-से-कम शब्दों के द्वारा वांछित कुछ एक मूर्तियों के उद्भाव की आकांक्षा है।

(४) प्रतीक और उसके अर्थ में व्यंग्य-व्यञ्जक भाव सम्बन्ध है।

कविता में प्रतीक-प्रयोग, कविता की जटिल सृजन-प्रक्रिया से सम्बद्ध है। कवि जब अपने आवेग (Poetic impulse) को स्पष्टतः अभिव्यक्ति देना नहीं चाहता तब वह प्रतीक का प्रयोग कर सकता है। कवि-मानस में जो अनेक वस्तुएँ, घटनाएँ निक्षिप्त रहती हैं उनमें से जिससे भी कवि की तात्कालिक वस्तु, भाव अथवा घटना का सादृश्य होगा, वही प्रतीक रूप में प्रयुक्त की जा सकेगी। परन्तु प्रतीक-प्रयोग की यह प्रक्रिया इतनी सरल भी नहीं है। कभी-कभी अनेक पूर्वदृष्ट वस्तुएँ, पूर्वानुभूत घटनाएँ मिलकर एक नई वस्तु, नई घटना को रूपायित कर देते हैं—ऐसी वस्तु जब प्रतीक रूप में प्रयुक्त होती है तो प्रतीकार्थ-ज्ञान करना जटिल हो जाता है। तब भी, प्रतीक, काव्य में प्रयुक्त किया जाने वाला सहज उपादान है। प्रतीक काव्यात्मक आवेग और नियन्त्रण के द्वन्द्व की कलात्मक परिणति है। इस प्रकार के प्रयोग का दोहरा उद्देश्य रहता है—(१) नियन्त्रण से सामंजस्य और (२) आवेग की अभिव्यक्ति। इसका एक निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रतीक-युक्त रचना में अर्थ तल पर नहीं होता, उसे संरचना के गहन तल से प्राप्त करना होता है। तल पर एक अर्थ ज्ञात होता है, इस अर्थ से दूसरे अर्थ तक पहुँचना होता है। यह दूसरा अर्थ ही कवि का अभिप्रेत होता है। यदि ऊपर से प्रतीत होने वाला वाच्यार्थ अव्युत्पन्न रहा तो प्रतीक प्रयोग का प्रथम उद्देश्य-नियन्त्रण से सामंजस्य-पूर्ण नहीं होगा। अतः प्रतीक प्रयोग में प्रतीक के लिए आवश्यक है कि स्वयं का अर्थ देते हुए ही अन्य अर्थ की प्रतीति कराये।

ध्वनिसिद्धान्त ऐसे सभी प्रयोगों को संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अन्तर्गत रखता है। स्पष्ट है कि प्रतीक-प्रयोग में प्रथमतः वाच्यार्थ की प्रतीति होती है तदनन्तर विमर्श-पूर्वक अन्य अर्थ तक पहुँचा जाता है। यह अन्य अर्थ, पाठक के समक्ष, विचार रूप में उपस्थित हो सकता है, भाव रूप में भी हो सकता है। कविता के ऐसे शतशः उदाहरण हैं, इन सब का विचार करके ही, सृजन और भावन को दृष्टि में रखते हुए आनन्दवर्धन ने असंलक्ष्यक्रम कोटि की कल्पना की है। काव्य की आत्मा रस कहकर, आनन्दाभिभूत होकर झूमना बहुत सरल है, पर कविता की इस कोटि की रससिद्धान्त के आधार पर व्याख्या करना कठिन है। तब रसवादियों को रस को व्यापक करने का प्रपंच रचना पड़ता है।

संसार के सभी क्षेत्रों के काव्य में— सभी कालों में प्रतीक का प्रयोग हुआ है और आज भी हो रहा है। यह स्थिति प्रतीक को सृजन की प्रक्रिया में सहज उत्पन्न काव्योपादान सिद्ध करती है।

हिन्दी के आधुनिक काव्य में भी प्रतीक, बिम्ब आदि को अपरिहार्य कहकर, इन्हें नये हिन्दी-काव्य के वैशिष्ट्य के रूप में विवेचित किया जा रहा है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि प्रतीक काव्य का ऐसा उपादान है जो कवि के अभिप्रेत अर्थ को व्यञ्जना करता है, प्रतीक स्वयं व्यञ्जक है। काव्य रचना के इसी शाश्वत सत्य से साक्षात् कर आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ के संलक्ष्य-क्रम प्रकार का विधान किया था। काव्य वाक्य में कवि का अभिप्रेत अर्थ ही तात्पर्य-विषयीभूत अर्थ होता है—अतः वही प्रधान है। प्रतीक के द्वारा वह अर्थ प्रतीयमानतः व्यक्त होता है। इसलिए प्रतीक-प्रयोग ध्वनि के स्थल होते हैं।

आधुनिक हिन्दी काव्य के कुछ प्रतीक प्रयोगों का विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) कितनी द्रुपदा के बाल खुले,
कितनी कलियों का अन्त हुआ,
कह हृदय खोल चित्तौड़ यहाँ,
कितने दिन ज्वाल वसन्त हुआ। (दिनकर-हुङ्कार, हिमालय)

उपर्युक्त उद्धरण में 'द्रुपदा', 'कलियों' आदि पद प्रतीक हैं। दोनों का वाच्यार्थ सगत है परन्तु द्रुपदा के पूर्व प्रयुक्त 'कितनी' पद उसे प्रतीक बना देता है। द्रौपदी महाभारत का ऐसा पात्र है जो पवित्र माना जाकर भी लाञ्छित हुआ। अपने बलवान् प्रियजनों की उपस्थिति में उसके केश खींचे गये। इस प्रकार द्रौपदी विवशता का, नारी की अवमानना का प्रतीक था है और पंचकन्याओं में परिगणित द्रौपदी पवित्रता का प्रतीक भी। यहाँ द्रौपदी पवित्र और निरीह नारियों का प्रतीक है। प्रतीकार्थ होगा—'कितनी द्रौपदियों-कितनी पवित्र, किन्तु विवश स्त्रियों का उनके स्वजनों के देखते-देखते अपमान हुआ, उन्हें केश पकड़ कर खींचा गया। इस प्रसंग के विमर्श से कलियों का अर्थ होगा कली जैसी कच्ची उम्र की बालिकाएँ, जिन्हें कुचल दिया गया। निश्चय ही ये प्रतीक न तो लक्षणा में अन्तर्भावित हो सकते, न अन्योक्ति में। ये प्रतीक अपने वाच्यार्थ को रखते हुए ही सन्दर्भ से अन्य (वाक्यार्थीभूत) अर्थ की प्रतीति करा रहे हैं, इसीलिए प्रतीक को व्यञ्जक कहा गया है।

(२) मैं वही शम्बूक हूँ,
तू ने दिया था रोक उस दिन,
स्वर्गपथ पर मुझे जाते देख।
मैं वही एकलव्य हूँ,
कि धनुर्धारी वीर अर्जुन

डर गया था,
और तूने ले लिया था अँगूठा ।
याद रख मैं हूँ
वही अभिभूत ढाका का जुलाहा,
काट ली थी उँगलियाँ जिसकी,
किसी दिन क्रुद्ध तूने ।

(रांगेय राघव, पिघले पत्थर, आततायी)

शम्बूक, एकलव्य और ढाका का जुलाहा क्रमशः रामायण, महाभारत और आधुनिक युग के तीन पात्र हैं। तीनों मिलकर शोषण की उस परम्परा को व्यक्त करते हैं जिसका एक छोर महाभारत काल मे है, और दूसरा आधुनिक युग में। शम्बूक शूद्र था, अपनी तपस्या के बल पर मोक्ष चाहता था। ऋषि-ब्राह्मण, जो शूद्र को तपस्या का अधिकारी नहीं मानते थे, उसकी तपस्या को न सह सके, परिणामतः स्वयं राम ने शम्बूक का वध किया, क्योंकि उसने तपस्या की थी। प्रस्तुत कविता में शम्बूक उन सब शोषितों का प्रतीक है जो अपने परिश्रम के फल से (शोषकों-आततायियों के द्वारा) वंचित कर दिये जाते हैं। एकलव्य भी शोषित पात्र है। उसने स्वयं के परिश्रम से धनुर्विद्या अर्जित की और राजकुमारों के गुरु द्रोणाचार्य ने केवल इसलिए कि एकलव्य अर्जुन से श्रेष्ठ धनुर्धर न बन जाय, उसका अँगूठा गुरु-दक्षिणा में ले लिया, जबकि उन्होंने कभी उसे शिक्षा न दी थी और ढाका की मलमल, जिसका पूरा थान अँगूठी से निकल जाता था, ढाका के जुलाहों को अँगुलियों की कला थी। अँग्रेजों ने उन अँगुलियों को इसलिए कटवा दिया था कि वैसी मलमल न बने और भारत अँग्रेजी कपड़े का बाजार बन सके। उन तीन प्रतीकों का व्यंग्यार्थ शोषण की यह दीर्घ परम्परा है, इनके साथ ही, इन तीनों से सम्बद्ध प्रसंग भी स्मृति में उतर आते हैं। कवि ने केवल प्रतीक कहे हैं, अपना वाच्यार्थ प्रकट कर, उसके द्वारा ये प्रतीक व्यंग्य रूप में (प्रधान अर्थ) शोषण की परम्परा के प्रति आक्रोश व्यञ्जित करते हैं। इस कविता का प्रेरक आवेग शोषण की पीड़ा की अनुभूति से उत्पन्न है। परन्तु राज्य का, शासन का अंकुश इस आवेग को नियन्त्रित करता है, परिणामतः अभिव्यक्ति प्रतीकमयी होती है। हिन्दी की प्रगतिशील कविता में दिनकर, रांगेय राघव सोहनलाल द्विवेदी, आदि ने रोम के सम्राट् नीरो, रूस के जार, जर्मन के हिटलर को भी अत्याचारी के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया है।

(३) युग की गंगा,
गुहागर्त से,
आगे जाकर,
सूर्योदय से खेलेगी हो।

युग की गंगा
सूखी खेती सींचेगी ही । (केदारनाथ अग्रवाल - युग की गंगा)

उपर्युक्त कविता में 'गंगा' शब्द 'युग की' पद के सान्निध्य से प्रतीक बन जाता है । गङ्गा यहाँ पवित्र प्रवाह का प्रतीक है । जन-जन की शक्तिशाली चेतना का पवित्र प्रवाह जो सूर्योदय से, प्रकाश से, ज्ञान से खेलेगा, जो सूखे मानस को भी अपने प्रवाह से सींचेगा, हरा भरा कर देगा । चेतना का जो प्रवाह सुप्त था, अब जागेगा । यह अर्थ द्वितीय पंक्ति मे प्रयुक्त 'गुहागर्त' और चतुर्थ पंक्ति मे प्रयुक्त 'सूर्योदय से खेलेगी' से व्यंजित होता है । इस अर्थ की प्रतीति के चमत्कार में ही कविता का आनन्द है ।

(४) अबे सुन बे गुलाब,
भूल मत पाई गर खुशबू रंगोआब,
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट,
डाल पर इतरा रहा कैपिटलिस्ट ।

यह कहा जा चुका है कि निराला में काव्यात्मक आवेग अत्यन्त प्रबल है । निराला का परिवेश भी विचित्र था, हृदय मे मुक्तिभावना की ज्वालामुखी, ऊपर से अंग्रेजी शासन का अंकुश । निराला के व्यवहार मे भी 'कैपिटलिस्टो' के प्रति धिक्कारत का भाव प्रकट होता था । इस कविता म गुलाब कैपिटलिस्ट का प्रतीक है । निराला ने स्वय ही सादृश्य भी प्रकट कर दिया है । खाद शोषितो का प्रतीक है । शोषितो के बल पर, श्रम पर, 'रंग आब' प्राप्त कर कैपिटलिस्ट इतराता है, यह प्रतीक और कथ्य का साम्य है । परन्तु निराला का व्यक्तित्व अधिक आड-ओट सह नहीं पाता । गुलाब को कैपिटलिस्ट कह कर 'अब', 'तू', 'अशिष्ट' आदि प्रयोग कर निराला न शोषको के प्रति हृदयगत आक्रोश को व्यक्त कर दिया है । गुलाब मुख्य प्रतीक होत हुए भी प्रधान नही रह जाता, कैपिटलिस्ट पद का प्रयोग उसे स्पष्ट कर देता है । कवि का आवेश ही यहाँ प्रधान व्यंग्यार्थ है । प्रतीक वस्तुत वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ तक पहुँचने का क्रमिक माध्यम है । परन्तु इस कविता को पढत ही कवि का अनुभूति से सीधा साक्षात्कार होता है । कवि की अनुभूति की शिल्पसमन्वित यह अभिव्यक्ति सहृदय को चमत्कृत करती है, यही इसकी उपलब्धि है ।

(५) दानव है वह चाह रहा एकाकी जो सोना बटोरना
गीधों को ही आता है लाशें अगोरना,
हमें नहीं कांटें पसन्द हैं,
सड़े घाव मे चीर फाड करना ही होगा
(नागार्जुन, शांति का मोची, हंस, अक्तू, ५०) ।

'सड़े घाव' 'काँटे', 'गीध', 'दानव', आदि प्रतीकों के रहते हुए भी नागार्जुन की इस कविता में, कवि का मूल भाव शोषण के प्रति दृढ़ प्रतिक्रिया, पूँजीपतियों की स्वर्ण एकत्रित करने की प्रवृत्ति के प्रति उद्दाम आक्रोश उछले पड़ते हैं। भाषा का प्रयोग भी इसी उद्दाम आवेग से संचालित है। तृतीय पंक्ति में काँटे के पूर्व 'नहीं' का प्रयोग तथा अन्त में 'हैं' का प्रयोग निश्चयात्मकता के व्यंजक हैं। चतुर्थ पंक्ति में निपात 'ही' का प्रयोग इस प्रभाव को सघन करता है।

प्रतीक का स्वरूप कवि के आवेग पर निर्भर करता है। एक ही भाव के अनेक प्रतीक हो सकते हैं, पर कवि किसी विशेष प्रतीक का ही चयन करता है। उपर्युक्त कविता में 'दानव' और 'गीधों' के स्थान पर अन्य प्रतीकों का प्रयोग भी किया जा सकता था, पर, संभवतः 'दानव' और 'गीध' कवि की सोना बटोरने वालों के प्रति घृणा और तिरस्कार के अधिक निकट हैं। कविता की अन्तिम पंक्ति कवि के निश्चित और दृढ़ प्रतिरोधात्मक भाव की व्यंजक है।

(६ धू-धू जल रही है
स्वर्ण की लंका
विजय की वैजयन्ती
फरफराती चढ़ रही है
लाल सेना आज। (शिवमंगलसिंह 'सुमन')

इन पंक्तियों में – 'स्वर्ण की लंका' पद ही केन्द्रीय प्रयोग है। लंका सोने की थी, सोना वहाँ बन्दी था। यहाँ यह प्रयोग पूँजीपतियों के लिये है, जिनके पास पूँजी (सोना) बन्द है। 'स्वर्ण की लंका' का यह अर्थ लक्षणागम्य नहीं है, यहाँ वाच्यार्थबाध का अवसर नहीं है। वस्तुतः 'लाल सेना' पद के संदर्भ से 'स्वर्ण की लंका' का 'पूँजीवादी व्यवस्था' अर्थ निष्पन्न होता है। कतिपय शोध ग्रंथों में 'लाल सेना' को भी प्रतीक कहा गया है, पर यह प्रतीक नहीं है। 'लाल सेना' रूसी सेना का वाचक है। 'लाल सेना' में यह अर्थ रूढ़ हो चुका है। ऐसा नहीं है कि लाल सेना का वाच्यार्थ कुछ और हो तथा साहश्य से यह अन्य अर्थ व्यक्त करता हो। ऐसे प्रयोग वाच्य ही होते हैं। ऐसे प्रयोगों को ही ध्यान में रखकर आनन्दवर्धन ने कहा है —

रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः॥

अर्थात् लावण्य आदि शब्द जो अपने विषय (लवणयुक्त) से भिन्न सौन्दर्यादि अर्थ में रूढ़ हो चुके हैं, वे भी प्रयुक्त होने पर ध्वनि का विषय नहीं होते। 'लाल सेना' का वाच्यार्थ ही रूसी सेना है। इस पद के संसर्ग से ही 'स्वर्ण की लंका' प्रतीक बन सका है।

पौराणिक पात्र, वस्तुएँ और घटनाएँ भी कालांतर में प्रतीक बन जाते हैं। व्यक्ति से सम्बद्ध उपादान व्यक्ति निरपेक्ष होकर भाव को प्रतीक बन जाते हैं। उनका वाच्यार्थ लुप्त नहीं होता, वाच्यार्थ के द्वारा ही वे भाव की व्यंजना करते हैं। 'दधीची ऋषि' ने जनकल्याण के लिए आत्म त्याग किया था। कालान्तर में 'दधीची की हड्डियाँ' पदवन्य दृढ़ता के, वज्रता के भाव का प्रतीक बन गया। पहले दधीची व्यक्ति विशेष था, अब आत्मत्याग के भाव का प्रतीक है। दधीचि की हड्डियाँ दृढ़ता के वज्रता के भाव का प्रतीक हैं। इस प्रकार के प्रतीक में सहृदय का ध्यान सर्वप्रथम वाच्यार्थ पर ही जाता है। जो व्यक्ति दधीचि के त्याग की कथा को नहीं जानता वह इस प्रयोग के प्रयोजन तक पहुँच ही नहीं सकता।

आधुनिक काव्य में 'सलीब' भी बहुप्रयुक्त प्रतीक है। सलीब वह क्रास था जिस पर टाँग कर ईसा को मृत्युदण्ड दिया गया था। उस युग की परम्परा के अनुसार मृत्युदण्ड भागी स्वयं सलीब को ढोकर वध-स्थान तक ले जाया करता था। अब सलीब कष्टों का, कष्टकर मृत्यु का, हँसते हँसते कष्ट सहकर मरने का प्रतीक है। ईसा के कारण 'सलीब' ईसाइयों का धर्म चिह्न बन गया बलिदान का प्रतीक हो गया। अर्थविस्तृति के क्रम में धर्म और मानवता के लिए लड़ी जाने वाली लड़ाई का प्रतीक हो गया। 'सलीब का वाहकत्व' गौरव की व्यंजना करता है—

'मैं अपने ही नहीं तुम्हारे भी सलीब का वाहक हूँ' (अज्ञेय)

कभी-कभी पूरी कविता ही किसी घटना का, किसी विशेष अर्थ का प्रतीक बन जाती है।

(७) **सो रहा है झोंप अँधियाला नदी की जाँघ पर,**
डाह से सिहरी हुई यह चाँदनी
चोर पैरों से उझककर झाँक जाती है। (अज्ञेय)

यद्यपि इन पंक्तियों में जो वाच्यार्थ प्रकट हो रहा है, अपने आप में पूर्ण है तथापि 'चोर पैरों से उझककर', 'सिहरी हुई' आदि पद एक अन्य अर्थ की भी प्रतीति कराते हैं, तब अँधियाला पुरुष का, नदी प्रिया का, और चाँदनी (जो चुपके से आती है और अँधियाले को नदी की जाँघ पर सोते देख ईर्ष्या से सिहर उठती है।) सपत्नी के अर्थ को व्यंजित करने वाले प्रतीक बन जाते हैं। पूरी कविता ही इस अन्य अर्थ को व्यक्त करती है। यहाँ भी व्यंजना अन्य पदों के सन्दर्भ से सम्भव हुई है। 'डाह' 'चोर पैरों' आदि प्रयोग भाषा के सामान्य प्रतिमान (norm) से विपथन हैं। ये विशेष प्रभावी प्रयोग ही सहृदय को व्यंग्य अर्थ तक पहुँचने को बाध्य करते हैं।

इस उदाहरण में प्रतीकों से बना बिम्ब भी स्पष्ट है—प्रेयसी की जाँघ पर सिर रखकर सोया प्रेमी, पत्नी का चुपके से, हल्के-हल्के पैर रखकर आना, उझककर देखना, सभी कुछ चित्रवत् साकार हो गया है। 'चोर पैरों' व्यंजक है, इसका अर्थ है चोर की भाँति हल्के कदम रख कर आना। 'उझककर' में पंजों के बल उठी, गर्दन उठाकर देखने का प्रयत्न करती हुई, स्त्री का चित्र उभरता है। 'झाँक' क्रिया इस चित्र को पूर्णता देती है।

(८) साँप तुम सभ्य तो हुए नहीं,
नगर में चलना
भी तुम्हें नहीं आया
एक बात पूछूं उत्तर दोगे ?
तब कैसे सीखा डसना,
विष कहाँ पाया। (अज्ञेय .....)

उपर्युक्त कविता का केन्द्र-बिन्दु (प्रभावी पद)—'साँप' है। इस कविता का व्यंग्य शहरी सभ्यता पर कटाक्ष है। शहरी सभ्यता विषैली है, जन-जन को स्वार्थी बनाती है। कवि कहता है कि सर्प सभ्य नहीं है कि नगर में रहे (नागरिक सभ्यता में जीने वाले ही सभ्य होते हैं ?) जब नगर में नहीं रहा तो डँसना उसे कैसे आया ? उसने विष कहाँ पाया। क्योंकि डसना और विष पालना तो आज नागरिक सभ्यता के अनिवार्य धर्म बन गये हैं। यहाँ 'डँसना' और 'विष' प्रतीक हैं, साँप प्रतीक नहीं है जैसा कि कुछ विद्वानों ने माना है। सादृश्य शहरी जनों के विद्वेष और विष में, धोखे भरे व्यवहार और डँसने में है। इस प्रकार की कविताओं का सौन्दर्य इनके वाक्यार्थी-भूत प्रतीयमान अर्थ में ही होता है।

कविता के इस सौन्दर्य की व्याख्या संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के आधार पर ही सम्भव है, ब्रह्मानन्दसहोदररस विषयक सिद्धान्त के आधार पर नहीं। इसमें वाच्य वस्तु से प्रतीयमान विचार रूप वस्तु की प्रतीति होती है। इसमें 'भाव फुहार' नहीं है, कवि के कथ्य तक पहुँचने की, उसे उन्मीलित करने की चमत्कृति है।

अतः प्रतीक और उसके अर्थ में व्यंग्य-व्यंजक भाव सम्बन्ध होता है, जिन प्रतीकों में वाच्यार्थ बाधित प्रतीत होता है, उनमें भी प्रयोजन की प्रतीति में व्यंजना-व्यापार मानना होगा। आधुनिक कविता का प्रमुख शिल्प-उपादान माना जाने वाला प्रतीक प्रतीयमान अर्थ के सौंदर्य की अभिव्यक्ति का साधन है। क्योंकि प्रतीयमान अर्थ कवि की अनुभूति रूप होता है, अतः प्रतीक उससे स्वतः संबद्ध हो जाता है।

(९) प्रात होते
सबल पखों की अकेली एक मीठी चोट से
अनुगता मुझको बनाकर बावली को—
जानकर मैं अनुगता हूँ—
उस विदा के, विरह के विच्छेद के तीखे निमिष में भी
युता हूँ—
उड़ गया वह बावला
पंछी सुनहला
कर प्रहर्षित देह की रोमावली को (अज्ञेय)

उपर्युक्त कविता में सुनहला पंछी प्रिय का प्रतीक है। ऐसा प्रिय जो रात भर साथ रहा और प्रात काल होते ही अपनी प्रिया को सबल अगों से आलिंगन कर, प्रहर्षित बनाकर चला गया। यह जानकर भी कि प्रिया अनुगता है, त्याग कर जाने में सम्भवत उसकी आदिम पुरुष भावना को तृप्ति मिली हो? 'बावला विशेषण प्रेम' और विश्वास का व्यजक है कि भले ही वह चला गया है, पर लौट कर आएगा। 'बावली' पद मुग्धा व प्रेयसी की प्रेम-अनुनता को व्यंजित करता है। व्यजकत्व की दृष्टि से इस कविता के अन्य पद भी महत्त्वपूर्ण हैं।

(१०) सागर भी रग बदलता है।
गिरगिट भी रग बदलता है,
सागर को पूजा मिलती है
गिरगिट कुत्सा पर पलता है।
सागर है बली
बिचारा गिरगिट (अज्ञेय)

इस कविता में सागर और गिरगिट क्रमश शक्तिशाली और निरीह लोगो के प्रतीक हैं। जिन बातो को निरीह लोगो मे दुर्गुण माना जाता है, वही बाते शक्तिशाली में गुण बन जाती हैं। इतना ही नहीं उन बातो के रहते शक्तिशाली की पूजा भी की जाती है, निरीह जन घृणा पाता है।

(११) हम निहारते रूप
कांच के पीछे हाँप रही है मछली।
रूप तृषा भी
(और कांच के पीछे) है जिजीविषा' (अज्ञेय)

इन पंक्तियों में मछली 'जिजीविषा' (जीने की प्रबल इच्छा) का प्रतीक है।

जिजीविषा का यह प्रतीक अज्ञेय के 'आँगन के पार द्वार' कविता-संग्रह की कविता में भी प्रयुक्त हुआ है।

अतः यह सिद्ध होता है कि प्रतीक व्यंजक उपादान है। आधुनिक काव्य, विशेषतः नए हिन्दी काव्य में एक स्वर से कवियों और आलोचकों ने प्रतीक-प्रयुक्ति के महत्व को स्वीकारा है तब प्रतीकार्थ तक पहुँचने की प्रक्रिया और प्रतीक को कवि की अनुभूति से सम्बद्ध करने वाले ध्वनिसिद्धान्त की संलक्ष्यक्रम व्यवस्था को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है। और कैसे ध्वनिसिद्धान्त के रहते भारतीय काव्यशास्त्र को नए काव्य के लिए अनुपयुक्त कहा जा सकता है।

बिम्ब

बिम्ब काव्य की सृजन-प्रक्रिया में ही उद्भूत होने वाली निर्मिति है। इस प्रकार बिम्ब काव्य-शिल्प का महत्त्वपूर्ण उपादान है। बिम्ब के द्वारा कवि अपनी अनुभूति को गुणवैशिष्ट्ययुक्त साकार अस्तित्व के रूप में उपस्थित करता है। बिम्ब का निर्माण ऐसी चयनधर्मी प्रक्रिया है जो ध्वनि, गति और प्रकृति के प्रभावों से जीवन्त होकर भावक की विचार और संवेदन तंत्रियों को झंकृत कर देती है, मनोवेगों को उद्वेलित कर देती है। बिम्ब शिल्प की वह विधि है जिससे कवि के अमूर्त और नियंत्रित आवेग अभिव्यक्ति का संतोष प्राप्त करते हैं। बिम्ब वह आधार है जिसे पाकर अनुभूति दृश्य, श्रव्य अथवा स्पृश्य हो जाती है। काण्ट ने कवि की बिम्ब-विधायिनी कल्पना को इसीलिए पुनरुत्पादक कल्पना कहा है। टी० एस० इलियट का 'आब्जेक्टिव कोरिलेटिव' का सिद्धान्त भी बिम्ब-प्रक्रिया का आख्यान करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में कवि कुछ ऐसी वस्तुओं को खोजता है जिनमें उसकी अनुभूति साकार हो सके।

काव्यात्मक विचार कल्पना के द्वारा बिम्ब रूप ग्रहण करता है। इस बिम्ब में अनुभूति की ऊष्मा होती है। बाह्य यथार्थ के अनुरूप होता हुआ भी, बिम्ब कवि मानस की अपेक्षाओं को पूर्णता का संतोष देता है। यह स्थिति काव्य-सृजन को स्वप्न-प्रक्रिया के समानान्तर बना देती है। स्वप्न-क्रिया में, स्वप्न द्रष्टा की असंतुष्ट कामनाओं की तुष्टि मिलती है। फ्रायड ने यह उपपादित किया है कि हमारे बहुत से स्वप्न जिन्हें स्पष्टतः नहीं पहचाना जा सकता—कामनाओं की तुष्टिरूप ही होते हैं। कामना, किसी प्रतीक में अथवा कल्पनात्मक प्रस्तुतीकरण में निहित होकर व्यक्त होती हैं। फ्रायड की धारणा है कि प्रत्येक स्वप्न के मूल में कोई न-कोई असंतुष्ट कामना होती है। स्वप्न में चेतनमानस की यह भावना कि 'काश, ऐसा होता' मुक्त हो जाती है और इच्छा पूर्ण रूप में व्यक्त होती है। प्रतीक के मूल में भी ऐसी इच्छाएँ रहती हैं।

कवि-मानस में निहित अनेक अवयवों से पूर्ण बिम्ब बनने की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल है। फ्रायड और उसके अनुयायिओं ने स्वप्न के सम्बन्ध में अनेक व्याख्याएँ

प्रस्तुत की हैं, ये व्याख्याएँ स्वप्न मे उभरने वाले बिम्बों की निर्माण-विधि पर प्रकाश डालती हैं। क्योंकि काव्य-रचना-प्रक्रिया को स्वप्न प्रक्रिया के समानान्तर कहा गया है अत यह विवेचनीय है कि स्वप्न-प्रक्रिया काव्यसृजन मे निर्मित बिम्ब की व्याख्या हेतु कितनी उपयोगी है। स्वप्न-द्रष्टा के विचारो और अनुभूतियो से स्वप्न बनने की विधि को स्वप्न-प्रक्रिया (dream work) कहा गया है, इस प्रक्रिया के कुछ निश्चित नियम हैं। यदि स्वप्न-प्रक्रिया के सदृश प्रक्रिया काव्यात्मक बिम्बो के निर्माण में भी मानी जाय तो इसे काव्य-प्रक्रिया (Poetic work) कहा जा सकता है।

स्वप्न-चित्र की भाँति काव्य-बिम्ब भी मानस मे निहित अनेक पूर्वघटनाओं से सम्बद्ध होता है। स्वप्न का एक व्यक्ति यथार्थ जगत् के एकाधिक व्यक्तियो से मिलकर बन सकता है। इस प्रकार स्वप्न मे देखा हुआ व्यक्ति अनेक व्यक्तियो का सग्रथन होता है। स्वप्न का यह सग्रथित व्यक्ति जिन-जिन अवयवभूत व्यक्तियो से बना है उन सबके कुछ-कुछ गुणो से युक्त हो सकता है। इसीलिए वह अनेक अर्थों से भरा होता है। इस प्रक्रिया मे अपविस्तृत और सिकोणित विचार सृष्टि का सघनन होता है।

स्वप्न एव समेकन (Fusion) प्रक्रम है। सघनन और समेकन की जैसी प्रक्रिया स्वप्न-निर्माण मे घटती है वैसी ही काव्य-सृजन मे भी घटती है। कवि द्वारा प्रस्तुत बिम्ब यौगिक होता है। अनेक मूलो से सबद्ध होने के कारण, उन मूलो के वैशिष्ट्य भी बिम्ब में होते हैं। न केवल बिम्ब वरन् कविता का प्रत्येक शब्द, कविता को प्रेरित करने वाली कल्पना के गुण से समन्वित होता है। यही कारण है कि काव्यात्मक भाषा कल्पना प्रेरित विषयवस्तु को अभिव्यक्त करने मे सक्षम होती है। बिम्बविधान बहुविध आसगों से सम्बद्ध होता है अत एक, दो या अनेक अर्थों को व्यक्त करता है। इसीलिए यह कहा गया है कि काव्य-सृजन मे भी स्वप्न की भाँति सघनन होता है। बिम्ब के अर्थों मे से कोई तल पर ही रह सकता है, अन्य निहित हो सकते हैं। बहुधा निहित अर्थ तलीय अर्थ की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण होते है। वस्तुत भावात्मक तथा काव्यात्मक मूल्यवत्ता रखने वाला विचार वाच्यार्थत नहीं व्यक्त किया जा सकता, वह प्रतीयमान ही होता है। कविता उतनी ही काव्यात्मक होगी, जितनी उसकी भाषा अर्थगर्भित होगी। कविता का वैशिष्ट्य उसके सक्षिप्त तथा मर्ममय होने में ही है। इसीलिए इन दोनो गुणो का प्रतिपादन करने वाला ध्वनिसिद्धान्त नई कविता के लिए विशेषत प्रयोगार्ह है।

कविता अनेक मानस बिम्बो का प्रतिफलन होती है, इसका तात्पर्य सभी बिम्बों के आसगो का योग होना नही है। समग्ररूप मे कविता अनेक प्रभाव उत्पन्न कर सकती है। इसमें अर्थ मे अर्थ रह सकते हैं, जैसे नीतिकथा (Fable) अथवा अन्योक्ति (Allegory) में होते हैं।

पो (Poe) ने 'सौन्दर्य के लयात्मक सृजन' को कविता कहा है तथा रहस्यात्मक (Myst'cal) कविताओं को इस वैशिष्ट्य से युक्त माना है। पो के अनुसार रहस्यात्मक कविताओं में पारदर्शी तल के भीतर अन्य अर्थ रहता है — जिसे व्यंग्य अर्थ कहा जा सकता है। नीतिपरक कविताओं में नीति तत्त्व व्यंग्य होता है।

कविता में कुछ अर्थ समझे जाते हैं, कुछ केवल अनुभूति के विषय होते हैं। अनुभूति का विषय बनने वाले अर्थ अधिक काव्यात्मक होते हैं। कुछ अर्थों की उत्पत्ति चेतन मानस से होती हैं, कुछ का स्रोत अचेतन मानस से होता है। अचेतन-मानस से उद्भूत अर्थों में कल्पना का वैभव चरम उत्कर्ष पर होता है। कुछ अर्थ सरलता से अभिव्यक्त किए जा सकते हैं, कुछ नियंत्रण में व्यक्त-होते हैं परिणामतः आवरण में होते हैं, कविता का विषय यही अर्थ होते हैं।[१]

भावावेग की तीव्र स्थिति में कल्पना की बिम्ब-निर्माण-प्रक्रिया संभव नहीं है। तात्कालिक तीव्र अनुभूति मानस में तनाव उत्पन्न करती है। यह तनाव प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया को प्रेरणा देता है, स्वप्न अथवा कल्पना आदि का अवसर इसमें नहीं रहता। किसी मित्र की तत्काल मृत्यु को कविता में निबद्ध नहीं किया जा सकता। जब घटनाओं का समंजन हो जाता है, व्यक्ति उनका स्मरण करता है तब कल्पना की क्रिया प्रारम्भ होती है। इस कथन के अपवाद हो सकते हैं परन्तु सामान्यतः यह सच है कि 'कविता शान्ति के क्षणों में स्मृत भावनाओं से रची जाती है।'

कल्पना और बिम्ब निर्माण की प्रक्रिया पर विचार करने से स्पष्ट होगा कि ताजा लघु अथवा दीर्घ अनुभव भी कल्पना द्वारा बिम्ब-निर्माण में प्रयुक्त किये जा सकते हैं। यह सम्भव है कि ताजा अनुभवों की प्राचीन अनुभवों की तुलना में सापेक्षिक मूल्यवत्ता कम हो। प्राचीन का तात्पर्य किसी निश्चित समय-सीमा से नहीं है। यह अनुभव दो-चार दिन पुराना भी हो सकता है, वर्षों पुराना भी, बाल्यकाल का अथवा मानव ने जब बुद्धि-प्रयोग प्रारम्भ किया होगा, तब का भी। विभिन्न स्रोतों से उपलब्ध अवयव एक बिम्ब में संगलित (Fuse) होते हैं। इस प्रकार बिम्ब दुर्बोध आसंगों द्वारा दूरवर्ती घटनाओं से संबद्ध हो जाते हैं।

कवि-मानस अनुभवों का कोश होता है।[२] इस कोश में प्राचीन और ताजा सभी प्रकार के अनुभव निहित रहते हैं। इन अनुभवों में से कुछ चेतन मानस में रहते हैं, अधिकांश अचेतन मानस में। ये अनुभव आसंगों द्वारा एक दूसरे से संबद्ध रहते हैं। जब मानस गतिशील होता है, इन बिम्बों का समूह उमड़ता है और प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। किसी भी काल्पनिक-निर्माण-प्रक्रिया में ताजा और

१. प्रेस्काट, पोएटिक माइण्ड, पृ० १८३
२. बोल्डिंग केनथ, द इमेज, पृ० ६-७

प्राचीन दोनों ही प्रकार के अनुभवों का सहयोग होता है। वर्तमान घटना अथवा अनुभव प्राचीन बिम्बों को अनेक प्रकार से आकर्षित करते हैं। यदि प्राचीन दृश्य में वर्तमान घटना से किंचित् भी सादृश्य है तो प्राचीन दृश्य खिचा चला आएगा। बिम्ब के लिए आवश्यक नहीं है कि वास्तविक पदार्थ के सर्वथा अनुरूप हो, उसमें बाह्य पदार्थों की छवियाँ अस्तव्यस्त, अतिरंजित या मिश्रित होती है। बिम्ब व्यक्ति की इच्छा के अनुरूप होते हैं।[1]

मान लें 'व'$_1$ एक विम्ब है इसके साथ 'अ' और 'स' बिम्ब जुड़े हैं तथा अ$_1$, अ$_2$ अनुभूतियाँ सलग्न हैं। व$_2$ दूसरा विम्ब है, इसके साथ भी अन्य बिम्ब और अनुभूतियाँ सलग्न हैं। बिम्ब व$_1$ और व$_2$ सदृश हैं। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि व$_1$ और व$_2$ मे पूर्ण समानता हो, थोड़ा भी सादृश्य पर्याप्त है। व$_1$, व$_2$ से कितना भी भिन्न हो, पर यदि उसमें और व$_2$ में रंग, स्वाद आदि का जरा भी सादृश्य है तो व$_1$ और व$_2$ मे शृङ्खला स्थापित हो जायगी। यह भी संभव है कि मानसकोश मे निहित प्राचीन विम्ब विस्मृत हो जाएँ, केवल उनसे संबद्ध अनुभूतियाँ ही जीवित रहें। उपर्युक्त उदाहरण मे अ और स विस्मृत हो जायें तथा अ$_1$ और अ$_2$ ही शेष रहे तब व$_1$ बिम्ब अ$_1$ और अ$_2$ को ही आकर्षित कर पाये। इस स्थिति में बिम्ब के पूर्ण संयोजन की व्याख्या नहीं की जा सकेगी।

किसी बिम्ब विशेष के निर्माण के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसके मूल मे अनेक बिम्ब होते हैं—भावात्मक अस्थिर होते हैं। परिणामतः बिम्ब की रचना अत्यन्त जटिल होती है। बिम्ब-निर्माण की प्रक्रिया कवि की सहजात प्रतिभा-सापेक्ष्य और क्षणसापेक्ष्य भी होती है। ऐसी स्थिति में बिम्ब जैसे कल्पनात्मक सृजन के प्रयत्न स्रोत को ढूंढने का प्रयत्न व्यर्थ ही होगा।

बिम्ब की जटिल रचना के बावजूद भी उसका लक्ष्य स्पष्ट है। स्रोतों की विविधता रहते हुए भी बिम्ब में—किसी भी बाह्य चित्र मे जितनी संगतता और ऐक्य रहते हैं। अवयवभूत विम्ब घुलमिल कर एक प्रभाव उत्पन्न करने वाले बिम्ब का रूप धारण कर लेते हैं।

कविता मे बिम्बविधान शब्दों के द्वारा इन्द्रियों पर प्रभाव उत्पन्न करने का विधान है। इन्द्रियो पर प्रभाव के कारण भावक के भाव तथा बुद्धि तीव्र गति से उद्वेलित होते हैं। बिम्ब के रूप मे कवि अपनी विषय-वस्तु को धारण करता है अत: बिम्ब जितना व्यंग्यार्थ-गर्भित होगा उतना ही प्रभावक्षम

---

१ विनाके, द साईकोलोजी आव थिंकिंग, पृ० १६७

होगा।[1] बर्टन ने बिम्ब के अर्थ से सम्बन्धित एक चित्र[2] दिया है जिसे यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—
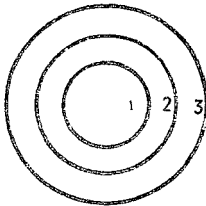
उपर्युक्त चित्र का प्रथम वृत्त शब्दों के प्रति हमारी तात्कालिक प्रतिक्रिया दिखलाता है, द्वितीय वृत्त इन शब्दों से प्रतीत होने वाले व्यंग्यार्थ का द्योतक है। जितने भी आसंग (associations) प्रत्येक शब्द से जुड़े हैं, वे परस्पर सम्बद्ध भी हैं। अतः पूर्ण बिम्ब अनेक अवयवों का योग होते हुए भी अवयवों के भावात्मक समेकन के कारण अधिक प्रभावक्षम होता है।

बर्टन 'कविता की तुरन्त अपील' को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। आनन्दवर्धन ने भी असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य रस को इसीलिए महत्त्व दिया था। उस स्थिति में वाच्यार्थ के साथ-साथ ही रस रूप अर्थ प्रकाशित होता है, कविता की अपील में विलम्ब नहीं होता।

'बिम्ब का प्रभाव वाच्य नहीं होता। एक अनुभूति अनेक तात्कालिक और पूर्वदृष्ट बिम्बावयवों से विमिश्रित होती है। इन सब अवयवों का रंग और अर्थ-छटा इस बिम्ब में होगी। प्रेरक अनुभूति तक पहुँचने में इन सब रंगों के भीतर जाना होगा। वह अनुभूति तल पर नहीं होगी, पारदर्शी तल के भीतर झिलमिलायेगी, प्रतीयमान होगी। अतः जो लोग बिम्ब में अभिधा द्वारा सौन्दर्यविधान की स्थापना मानते हैं—भ्रम में हैं। बिम्ब और प्रेरक अनुभूति में व्यंग्य-व्यंजक भाव सम्बन्ध है।'

बिम्ब के विषय में डॉ० नगेन्द्र की ताजा पुस्तक 'काव्यबिम्ब' प्रकाशित हुई है। बिम्ब की मूल्यवत्ता के विषय में पृ० ५८, ५९, ६१ और ६२ पर चर्चा की गई है। इस विचार-चर्चा में दो प्रकार के दृष्टिकोण प्रकट किए गए हैं—

---

१. एस० एच० बर्टन, द क्रीटीसिजम आव पोएट्री, पृ० १०४
२. वही, पृ० १०६

(१) 'अत राग से निर्लिप्त स्वच्छ-स्फुट बिम्ब अपना साध्य आप ही है, कला के वृत्त मे उसका अपना स्वतन्त्र और केन्द्रीय अस्तित्व है। विचार के सप्रेषण का माध्यम या अनुभूति की व्यजना का साधन मानकर उसकी गौणता प्रतिपादित करना कला क प्रति गलत दृष्टिकोण का परिचायक है।'

(२) 'अनुभूति और विचार से असम्बद्ध हो जाने पर बिम्ब के सौन्दर्य आदि गुणो की कल्पना भी अप्रासगिक हो जाती है क्योकि इन गुणो का आधार भी तो अनुभूति ही है, माधुर्य का सम्बन्ध चित्त क द्रवीभाव और औदात्य का मन का ऊर्जा के साथ है। किसी बिम्ब का मूल्य इसलिये नही है कि वह चित्त को द्रवीभूत या ऊर्जस्वित करता है अथवा उसके द्वारा प्रमाता मे किसी भाव-विशेष का उद्रेक होता है। इस प्रकार का भावपरक या आत्मपरक दृष्टिकोण बिम्ब क वास्तविक मूल्य का आकलन नही कर सकता। बिम्ब का मूल्य तो उसकी अपनी सजीवता एव प्रखरता के कारण ही होता है। बिम्ब का सार्थकता प्रसग क अनुरूप होने मे नही है। प्रसग से कटकर भी उसकी सार्थकता हो सकती है। रत्न की मूल्यवत्ता सिद्ध करने के लिए मुद्रिका का परिवेश आवश्यक नही है।

उपर्युक्त कथनो म बिम्ब को अन्य अपेक्षाओं से मुक्त, स्वय मे साध्य माना गया है, जैसे रत्न की मूल्यवत्ता मुद्रिका-निरपेक्ष है वैसे ही बिम्ब की मूल्यवत्ता भी है। अनुभूति और बिम्ब का डॉ० नगेन्द्र व्यवहार मे पृथक् करना भी आवश्यक मानते है—

'अनुभूति और बिम्ब का एक दूसरे स पृथक् नहीं किया जा सकता। फिर भी व्यवहार में इनको पृथक् मानकर चलना अनिवार्य हो जाता है। स्वय शकर के अद्वैत दर्शन अथवा बौद्धा के शून्यवाद मे अहम् और इदम् का भेद करना ही पड जाता है।'[1]

परन्तु फिर डॉ० नगेन्द्र न बिम्ब का साधन रूप माना है—

'सामान्य व्यवहार म हम अनुभूति के कतिपय गुणो की चर्चा करते हैं। जैसे सूक्ष्मता, तीव्रता, प्राबल्य, विस्तार या व्यापकता आदि। इनमे कल्पना का योग हो जाने स अनुभूति में समृद्धि का समावेश हो जाता है और उधर नैतिक आदर्शों से सयुक्त होकर अनुभूति शुद्ध और सात्त्विक बन जाती है। सर्जना के क्षणो मे अनुभूति के ये नाना रूप कवि की कल्पना पर आरूढ होकर जब शब्द अर्थ के माध्यम म व्यक्त होने का उपक्रम करते हैं तो इस

---

१ डॉ० नगेन्द्र, काव्य बिम्ब, पृ० ६१

संक्रियता के फलस्वरूप अनेक मानस-छवियाँ आकार धारण करने लगती हैं—आलोचना की शब्दावली में इन्हें ही काव्य-बिम्ब कहते हैं। इस प्रकार बिम्ब अमूर्त अनुभूति को शब्दमूर्त करने के अत्यन्त प्रभावी माध्यम-उपकरण या दूसरे शब्दों मे मूर्त-प्रक्रिया के महत्त्वपूर्ण अंग है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इनका स्वतन्त्र महत्त्व नहीं है—काव्य-बिंब में जो काव्य-तत्त्व है, उसका आधार अनुभूति या भावानुभूति ही है। अतः अनुभूति के उत्कर्ष से बिंब का उत्कर्ष होता है, यही सत्य है।[1]

वस्तुतः बिंब साधन है, डॉ० नगेन्द्र की यह द्वितीय धारणा ही ठीक है। रस के सदृश बिंब की निरपेक्ष मूल्यवत्ता नहीं है। बिंब इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि वह व्यंग्यार्थ के रूप में कवि की अनुभूति से प्रमाता का साक्षात् कराता है। अनुभूति बिंब के माध्यम से संप्रेषणीय हो जाती है।

जीवनानुभवों मे परिपक्व, जग के रहस्यों को अपनी सूक्ष्म दृष्टि से उन्मीलित करने वाला कवि अपनी अनुभूति को वाह्य वस्तु जगत् के उपादानों के माध्यम से व्यक्त करता है। वह ऐसी वस्तुओं का, ऐसी दृश्यावली का चयन करता है कि अनुभूति साकार हो सके, पाठक के मानस में उसका बिंब बन सके।

'बिंब निर्माण में भाषा सम्पदा का समुचित उपयोग अपेक्षित है। बिंबविधान की सफलता भाषासामर्थ्य की कसौटी है। बिंब की व्यंजकता उसकी मूर्तता और संक्षिप्तता पर निर्भर करती है। एक सफल बिंब पाठक की कल्पना को स्पष्ट और मूर्त विवरण द्वारा प्रेरणा देता है, आवेग देता है। तब पाठक की कल्पना स्वयं इन विवरणों से संबद्ध आसंगों को उसके मानस में जाग्रत कर देती है।'

यहाँ आधुनिक हिन्दी कविता से कुछ बिम्बों के उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

(१) सुख, केवल सुख का संग्रह,
केन्द्रीभूत हुआ इतना।
छायापथ में नव तुषार का,
सघन मिलन होता जितना। (कामायनी, चिन्ता सर्ग)

कामायनी की उपर्युक्त पंक्तियों में अमूर्त अनुभूति को साकार किया गया है। इन पंक्तियों का कथ्य 'सुख की क्षणिकता की अनुभूति' है। सन्दर्भ के विमर्श से इस उद्धरण का प्रत्येक शब्द व्यंजक बन जाता है। प्रथम पंक्ति में 'सुख' के पश्चात् पुनः 'केवल सुख' यह व्यंजित करता है कि देव जाति में दुःख था ही नहीं। 'केवल'

---

१. डॉ० नगेन्द्र, काव्य बिम्ब, पृ० ६२

पद, सुखेतर अन्य सब का अभाव व्यंजित करता है। 'इतना' पद अन्तिम दो पंक्तियों के सन्दर्भ में काल-व्यंजक हो गया है। आकाश के छायापथ (आकाशगङ्गा) में तुषार का मिलन यद्यपि होता सघन है पर यह स्थिति कुछ समय के लिए ही होती है। उसी प्रकार देवता और सुख परस्पर मिल गए थे, सुख और देवता पर्याय हो गये थे। 'सघन मिलन' इस एकाकारता अथवा पर्याय का व्यंजक है।

जब कवि ने देव-सुखों की क्षणिकता को कहना चाहा होगा तो उसकी कल्पना ने, उसके मानस-कोश में निहित पूर्वानुभूत दृश्यों के बिम्बों को जाग्रत किया होगा और क्षणिकता के सादृश्य ने 'छायापथ और तुषार के सघन मिलन' के बिम्ब को आकृष्ट किया होगा। केन्द्रीभूत पद को भी विशिष्ट व्यंजना है। देवताओं ने सुख का संग्रह किया, फिर वही संगृहीत सुख केन्द्र बन गया, देवता उस सुख के चतुर्दिक् घूमने लगे। 'सुख' की क्षणिकता की अनुभूति इस बिम्ब में वाच्यतः नहीं कही गई है, वह इस बिम्ब में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों के समुच्चय रूप बिम्ब से ही व्यंजित हो रही है।

(२) मेखलाकार पर्वत अपार,
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़।
अवलोक रहा है बार-बार,
नीचे जल में निज महाकार।
जिसके चरणों में पला ताल,
दर्पण सा फैला है विशाल। (पंत)

कवि पंत की उपर्युक्त पंक्तियों में एक बिम्ब है। पाठक के मानस में दर्पण में आँखें गड़ाये, झुके हुये एक दीर्घाकार पुरुष का बिम्ब उभरता है। फिर इसके सादृश्य से पुष्पों से आच्छादित पर्वत, उसके चरणों (नीचे) में फैला विशाल दर्पण जैसा ताल एक-एक कर स्पष्ट होने लगते हैं, एक पूरा चित्र-सा बन जाता है। पाठक पुष्पाच्छादित पर्वत और उजले ताल के सौन्दर्य से अभिभूत होने लगता है। यही सौन्दर्यानुभूति इन पंक्तियों का व्यंग्य है। कवि ने इस प्राकृतिक दृश्य को देखा, मुग्ध हुआ, सौन्दर्य ने उसके मुग्ध मन को आलोड़ित किया। फिर कभी जब उसने शान्त और एकांत क्षण में इसे स्मरण किया होगा, तब उसकी सृजनशील कल्पना ने पूर्वानुभूत (दर्पण पर झुके दीर्घ मनुष्य) दृश्य के सहारे इस सौन्दर्य को बिम्बित किया।

(३) बाग के बाहर थे झोंपड़े,
दूर से जो दिख रहे थे अधगड़े,
जगह गन्दी रुका सड़ता हुआ पानी,

मोरियों में जिन्दगी की लन्तरानी,
बिलबिलाते कीड़े, बिखरी हड्डियाँ,
सेल्हरों के परों की थी गड्डियाँ,
कहीं मुर्गी, कहीं अंडे
धूप खाते गये कंडे। (निराला)

निराला के उपर्युक्त बिम्ब-विधान में, दृश्य का याथातथ्य प्रस्तुतीकरण है। दृश्य की प्रत्येक रेखा को इस प्रकार उकेरा गया है कि पाठक के मानस पर पूर्ण चित्र अंकित हो जाय। इसमें कोई वस्तु-सादृश्य नहीं कहा गया है तब भी शब्दों को व्यंजना के ऐसे प्रक्रम में प्रस्तुत किया गया है कि बिम्ब अनेक भावनाओं को व्यंजित करता है। उपर्युक्त उद्धरण में, प्रथम पंक्ति में प्रयुक्त 'बाग के बाहर' ही केन्द्रीय पद है। इसकी सहायता से बिम्ब 'वैषम्य' की तीव्र प्रतीति को व्यंजित करता है। बाग शब्द में प्रसन्नता का भाव है, यदि इसके स्थान पर 'उपवन' प्रयुक्त किया जाता तो 'वैषम्य' उतनी सफलता से व्यक्त न होता। एक ओर तबीयत को बाग-बाग करने वाला बाग है, दूसरी ओर झोंपड़े, जिनका वर्णन सात पंक्तियों में किया गया है। अधगँ से झोपड़ों की नीचाई व्यंजित है। 'मोरी' गन्दे पानी की ही होती है, 'मोरियों में जिन्दगी' प्रयोग गलीज जिन्दगी को आँखों के सामने उजागर करता है। मोरियों के स्थान पर 'नालियों' प्रयोग इतना सक्षम न होता। गन्दगी पर बल देने के लिए 'मोरियों' प्रयोग अधिक उपयुक्त है। संपूर्ण कविता का कथ्य है, बाग और उसके बाहर स्थित झोंपड़ियों के जीवन का कन्ट्रास्ट। इसमें कोई उपमा नहीं, सादृश्याधारित प्रतीक नहीं, बस व्यंजक शब्दों की प्रयुक्तिकला का चमत्कार है।

(४) एक बीते के बराबर,
यह हरा ठिगना चना,
बाँधे मुरेठा शीश पर,
छोटे गुलाबी फूल का,
सजकर खड़ा है।
पास में मिलकर उगी है,
बीच में अलसी हठीली,
देह की पतली कमर की है लचीली,
नीले फूले फूल को सिर पर चढ़ा कर,
कह रही है जो छुये यह,
दूँ हृदय का दान उसको,
और सरसों की न पूछो
हो गई सबसे सयानी,

हाथ पीले कर लिए हैं
ब्याह मडप मे पधारो,
फाग गाता मास फागुन,
आ गया है आज जैसे,
देखता हूँ मैं स्वयवर हो रहा है। (केदारनाथ, युग की गङ्गा)

उपर्युक्त कविता में खेत में उगे चने, अलसी और सरसों के पौधों के सौन्दर्य को फागुन के सन्दर्भ सहित बिम्ब द्वारा प्रस्तुत किया गया है। कवि की वर्णन शैली के कारण पौधे, मात्र पौधे न रह कर प्राणवान अस्तित्व मे रूपान्तरित हो गए-से लगते हैं। देह का पतली अलसी, सयानी सरसों और गुलाबी फूल का मुरेठा बाँधे हरा बीत भर का चने का पौधा फागुन आदि मानस म साकार होने लगते हैं। जब सहृदय स्वयवर पद तक पहुँचता है तो चने का पौधा छोटे, अक्खड़ दूल्हे म बदला प्रतीत होता है, अलसी तन्वंगी सुकुमारी युवती में परिवर्तित हो जाती है। एक मस्ती, फागुन का सौंदर्य और सुगंध सब जैसे साकार हो उठे है। पाठक स्वयं को उस मस्ती का भागीदार बना सा अनुभव करता है। यह मस्ती या सौन्दय, फागुन की हवा का गान—इस कविता के व्यग्य हैं।

स्पष्ट है कवि ने इस दृश्य को देखा, अनुभव किया और कल्पना ने सादृश्य 'साकार स्वयवर' को उपस्थित कर दिया।

(४) सीपियाँ,
मैं शुभ्र नीलम,
दर्द की आँखें फटी सी,
जो कभी अब नहीं मोती दे सकेंगी।

(अज्ञेय, इ० ध० रौं० थे पृ० ६६)

यह एक सरल बिम्ब है। भाव प्रवण कवि मानस खुली सीप देखकर विचित्र सा अनुभव करता है। कवि ने कभी तीव्र पीडा के आघात स एकाएक विस्फारित आँखों को देखा होगा, यह बिम्ब उसके चेतन अथवा अचेतन मानस-कोश में निहित होगा। खुलेपन, और शुभ्र नीलम वर्ण के सादृश्य ने उस मानस कोश निहित बिम्ब को आकृष्ट किया। तब कवि ने कहा 'सीपियाँ दर्द की आँखें फटी सी'। दर्द स फटी आँखें जड हो जाती हैं—उसमें आँसू नहीं आते। फटी सीप म भी फिर मोती नहीं बनता। खुली सीप को देखकर जो अनुभूति कवि-मानस में कसमसाई, उसी की व्यजना इन पक्तियों मे हुई है। 'दर्द की आँखें' विशेष चमत्कारपूर्ण है। 'दर्द से फटी आँख' कहने मे यह चमत्कार सभव न था। पीडा का अति आवेश 'फटी आँख' प्रयोग से व्यक्त होता है।

(६) किन्तु सुना है
    वज्रकीर्ति ने मन्त्रपूत जिस
    अति प्राचीन किरीटी-तरु से इसे गढ़ा था—

४—उस के कानों में हिम-शिखर रहस्य कहा करते थे अपने
५—कन्धों पर बादल सोते थे
६—उसकी करि-शुण्डों-सी डालें
७—हिम वर्षा से पूरे वन-यूथों का कर लेती थी परित्राण
८—कोटर में भालू बसते थे,
९—केहरि उसके वल्कल से कन्धे खुजलाने आते थे,
१०—और सुना है जड़ उसकी जा पहुँची पाताल-लोक
११—उसकी गन्ध-प्रवण शीतलता से टिका नाग वासुकि सोता था।

उपर्युक्त खण्ड अज्ञेय की असाध्य वीणा कविता से उद्धृत है। वैसे 'असाध्य-वीणा' संपूर्ण कविता बिंबों का कोश है, इस लंबी कविता में शब्द शिल्प का चमत्कार पूर्ण उत्कर्ष पर है। कुछ बिंब ऊपर के उद्धरण में द्रष्टव्य हैं। विशेषता यह है कि एक-एक पंक्ति के साथ चित्र क्रमशः पूरा होता हुआ श्रोता अथवा पाठक के मानस पर छा जाता है। 'असाध्य वीणा' जिस किरीटी तरु से बनी थी उसका वर्णन संपूर्ण वृक्ष को, शिखा से जड़ तक साकार कर देता है। ४ और ५ पंक्ति में 'किरीटी-तरु' की ऊँचाई, ६-७ पंक्ति में विशालता, ८वीं पंक्ति में तने की गहनता, तथा ९वीं और १०वीं पंक्ति उसके पाताल तक विस्तार को व्यंजित करती हैं। कवि ने वृक्ष के इस आकार को व्यंजना द्वारा व्यक्त किया है। कविता की पंक्तियाँ वाक्य-व्यंजकत्व का सुन्दर उदाहरण हैं। इस वृक्ष के आकार को प्रस्तुत करने के उपरान्त कवि अन्य सन्दर्भों के बिंब उपस्थित करता है—

'हाँ, मुझे स्मरण है :
बदली-कौंध-पत्तियों पर वर्षा-बूँदों की पटपट
घनी रात महुए का चुपचाप टपकना
चौंके खग-शावक की चिहुक

उपर्युक्त बिंब का श्रावण प्रभाव व्याख्या की अपेक्षा नहीं करता।

मूर्त दृश्य के लिए अमूर्त उपमान-योजना का कथन भी बिंब विधान में किया जाता है स्थूल दृश्य के सौन्दर्य से अभिभूत कवि अमूर्त उपमानों की शृङ्खला प्रस्तुत करता है। कुँवर नारायण की निम्नलिखित कविता में यही विधि ग्रहण की गई है :

(७) दूर तिरते छिन्न बादल
स्वप्न के ज्यों मिट रहे आकार,
सहसा चेतना मे अर्धमिटे ही थम गए हों।
(चक्रव्यूह . ओस नहाई रात)

'दूर तिरते छिन्न बादल' प्रत्यक्ष दृश्य है, पर 'स्वप्न के मिटते आकार' अनुभूति का विषय है। प्रत्यक्ष दृश्य से कभी-कभी कोई पुरानी घटना, विचार अथवा भाव जाग्रत हो जाता है और कवि उसे उपमान रूप में प्रयुक्त कर लेता है। इस प्रकार के प्रयोगों में अमूर्त अनुभूति ही अधिक प्रभावक्षम प्रतीत होती है।

कुँवर नारायण की ही एक कविता और है--

(८) एक मुट्ठी कौड़ियों से श्वेत बगुले
व्योम पर फिंक कर खिले
फिर खो गये। (कुँवर नारायण चक्रव्यूह, एक दाँव)

उपर्युक्त बिम्ब का केन्द्र 'खिले' पद है। नीले आकाश मे श्वेत बगुले रग-कन्ट्रास्ट के कारण खिल उठे। द्वितीय अर्थ यह होगा कि कौड़ियों जैसे सफेद बगुले खेले गए, फिर जैसे कौड़ियाँ समेट ली जाती हैं, बगुले तिरोहित हो गए। इस बिम्ब-योजना में कवि के पूर्वदृष्ट दृश्य का प्रयोग स्पष्ट है। रग का कन्ट्रास्ट और बगुलों के प्रकट होकर गायब होने का सौन्दर्य इसका व्यग्य है।

(९) ज्योति के पजे बढ़ते रात पर पैने
घेरकर तम को उतरते आग के डैने
चमकता सोनपखी गरुड काले साँप पर (वही)

इस बिम्ब के अवयव 'गरुड' और 'सर्प' हैं। कवि को परम्परा से इस रूढ़ि का ज्ञान है कि गरुड सर्प को खाता है। अपने ज्ञान से उसने 'गरुड' और 'सर्प' का चयन किया। सूर्य के सुनहले रूप को साकार करने के लिए 'सोनपखी' गरुड कहा। इस गरुड के पजे भी ज्योति के हैं, ये पजे पैने हैं, चुभने वाले हैं। किरणों का चुभने वाला गुण व्यग्य है। सूर्य की जलती हुई किरणे अन्धकार को चारों ओर से घेरती हैं जैसे विशाल गरुड सर्प को घेर ले, पजा से पकड़ ले। प्रातःकाल का सुनहला प्रकाश, फूटती किरणें, गायब होता अन्धकार इस कविता का व्यग्य है।

(११) जब फूटा सुनहला सोता
सिंदूरी सवेरा बादलों की सैकड़ों
सलेटी तहों को
चीरकर इस भाँति उग आया

कि जैसे स्नेह से भर जाए मन की हर सतह
हर वासना जैसे सुहागन बन उठे। (जगदीश गुप्त)

उपर्युक्त उद्धरण की प्रथम चार पंक्तियों में वर्णित दृश्य और अन्तिम दो पंक्तियों के कथ्य में सादृश्य है। यद्यपि प्रस्तुत 'फूटा सुनहला सोता' आदि हैं पर अप्रस्तुत अधिक प्रभाव उत्पन्न करता है। प्रतीयमान अर्थ का सौन्दर्य 'हर वासना जैसे सुहागन बन उठे' में है। स्नेह जब मन की प्रत्येक सतह में आपूरित हो जाय, पोर-पोर में बस जाय तो जैसे हर कामना पूर्ण होती प्रतीत होती है। सुख का, पूर्णकाम होने का अहसास होता है। यही इस कविता का व्यंग्य है। कविता का व्यंग्य अन्तिम दो पंक्तियों में निहित है, यह इसलिए भी सत्य है कि प्रथम चार पंक्तियों में उगते सवेरे का बिम्ब स्वयं में पूर्ण है। उसे चित्रित करने के लिए अन्तिम दो पंक्तियों की बहुत आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

(१२) कभी आँगन में अकेले सद्य : जागे मुग्ध शिशु जैसा
स्वतः संपूर्ण
तारा चमक जाता है। (अज्ञेय : बावरा अहेरी)

उपर्युक्त बिम्ब का व्यंग्य, तारे का एकाकीपन, झिलमिलाहट आदि है।

बिम्बों के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बिम्ब में कवि की अनुभूति प्रतीयमान रूप में रहती है। बिम्ब व्यंजक है, अर्थ और बिम्ब में व्यंजक-व्यंग्य भाव सम्बन्ध है।

मिथ (Myth)

काल-प्रवाह में जब मूर्त्त घटना अमूर्त्त प्रतीक बन जाती है, तो उसे मिथ कहा जाता है। मिथ में एक प्रकार का विचार दूसरे प्रकार मे अनूदित होता है। बहुधा मिथ जटिल होता है, उदाहरणार्थ प्रोमिथिअस अथवा ओडीपस मिथ के लिए जा सकते हैं। ये मिथ असंख्य व्यंग्यार्थों से युक्त हैं। मिथ में जितने व्यंग्यार्थ होंगे, वह उतना ही समृद्ध होगा।[1] जैसे एकार्थी होना गद्य का गुण माना जाता है वैसे ही अनेक *अर्थों की व्यंजना करना कविता का गुण है।*

काव्यात्मक मिथ संघनन (Condensation) है। अनेक अर्थों का एकीभूत रूप मिथ में होता है, परिणामतः व्याख्या की प्रक्रिया में वह अनेक अर्थों की व्यंजना करता है, इसीलिए मिथ की व्याख्या सामान्यतः कठिन होती है।

मिथ से संबद्ध घटनाओं, उसके निष्कर्षों का प्रतीकात्मक प्रयोग काव्य में होता है। नई कविता में बहु-प्रयुक्त, 'अभिमन्यु' का मिथ, व्यक्ति से हटकर भावमूलक

---

१. प्रेसकाट, पोएटिक माइण्ड, पृ० ६०

हो गया है। मिथ वस्तुत. पुराण कथाओ से गृहीत प्रतीक है। अभिमन्यु मिथ का अर्थ है – 'छल-कपट से घिर कर मारा जाता हुआ सत्य'। पौराणिक आख्यान अथवा उसका कोई अश वाचक से व्यजक होकर काव्य का उपादान बन जाता है। मिथ की कोशगत परिभाषा भी इस धारणा को ही व्यक्त करती है—'ऐतिहासिक, पौराणिक गाथा जो मानव प्रकृति, प्राकृतिक निष्कर्ष, मानव के उदय, व्यवहार, परपरा आदि को व्यक्त करती है'—मिथ है।[1] कालान्तर मे ऐतिहासिक गाथा, काल की सीमाओ मे मुक्त होकर भाव मात्र रह जाती है, तभी वह काव्य मे प्रयोगार्ह होती है।

आनन्दवर्धन ने प्राचीन और बार-बार प्रयुक्त किए गए आख्याना मे नूतनता-समावेश की चर्चा की है। प्राचीन और बार-बार प्रयुक्त आख्यान का वाच्यार्थ तो वह ही होता है, पर नए सदर्भों म नए-नए व्यग्यार्थों के सस्पर्श से वह नूतन-सा लगता है।[2] प्रतीयमान अर्थ के साधन स्वरूप मिथ, प्रतीक, बिम्बादि के मार्ग का आश्रय ग्रहण कर कवियों की प्रतिभा भी अनन्त हो जाती है।

अतएव यह प्रमाणित तथ्य है कि मिथ प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति कराता है, इसी मे उसकी उपयोगिता है।

यहाँ आधुनिक काव्य म प्रयुक्त कतिपय मिथो के उदाहरण देकर उनकी व्यजकता स्पष्ट की जा रही है।

(१) आज भागीरथ सफल श्रम,
ध्येयपूर्ण बना रहा है।
आज जनगगा प्रवाहित
वेग बढता जा रहा है।
ढह रहे हैं स्वप्न कल के,
चूर्ण हैं चट्टान के कण,
हैं कहाँ शिव की जटाएँ,
रोक लें जो एक भी क्षण। (शिवमगल सिंह सुमन : प्रलय, सृजन)

भगीरथ और गगा का प्रसग भारतीय संस्कृति की महत्त्वपूर्ण कथा है। 'भगीरथ-प्रयत्न' नाम से रूढि बनकर लोक में भी प्रचलित है। अनेक बाधाओं को दूर कर, भागीरथ गगा को धरती पर लाये थे। इस आख्यान का वाच्यार्थ यही है। परन्तु आधुनिक काव्य मे यह मिथ नये सदर्भों मे प्रयुक्त किया जा कर नये

---

१. वेब्स्टर कोश, पृ० ९४२
२ 'वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि', ध्व० (आ० वि०) पृ० ३३६

अर्थों की व्यंजना करता है। भगीरथ जिस गंगा को लाये थे उसे शिव ने अपनी जटाओं में रोक लिया था, पर आज के भागीरथ ने जो जन-गंगा का प्रवाह उठाया है उसे भला कौन से शिव रोक पाएँगे? जन-चेतना के प्रवाह को जाग्रत कर गतिशील करना कठिन कार्य है, इसलिए इस कार्य को करने वाले को भागीरथ कहा है। गंगा ने अनेक पर्वत श्रृङ्ग तोड़े थे, अब चेतना के प्रवाह ने सड़ी-गली परंपराओं के पुराने स्वप्न तोड़ दिए हैं, पर अन्तर यह है कि उस गंगा के प्रवाह को शिव ने रोका था, इस प्रवाह को रोकने वाला कोई नहीं है। जन-चेतना के उद्वेलन रूप कार्य की कठिनता और उद्वेलित होने पर उसकी अप्रतिहतता, 'भागीरथ मिथ' के प्रयोग से व्यंजित हुई है।

(३) रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ,
जाने दे उनको स्वर्ग धीर—
पर, फिर हमें गाण्डीव गदा
लौटा दे अर्जुन भीम वीर। (दिनकर, हुंकार हिमालय)

युधिष्ठिर अपने चारों भाई और द्रौपदी के साथ हिमालय में गलकर प्राण त्यागने गए थे। इसी गाथा को दिनकर ने नवीन संदर्भ में प्रयुक्त किया है। आज भारतवर्ष को युधिष्ठिर जैसे शान्तिप्रिय सत्यवादी की, विशेषतः जोर से असत्य और धीरे से सत्य बोलकर सत्यवादी कहलाने वाले की आवश्यकता नहीं है, वे स्वर्ग जाएँ। आज हमें गाण्डीव धनुष और उसे धारण करने वाले अर्जुन तथा भीम की गदा और भीम की आवश्यकता है। इसलिए कवि हिमालय से कहता है, युधिष्ठिर को स्वर्ग जाने दे, उन्हें यहाँ न रोक, हमें भीम और अर्जुन लौटा दे। देश के युग-धर्म की आवश्यकता शक्ति और शक्ति प्रयोग करने में सक्षम व्यक्ति हैं। मिथ तो केवल इतनी है कि पाण्डव हिमालय में गये थे, कवि ने उसे नए संदर्भ में, नए अर्थ में प्रयुक्त किया है। भारतीयों की तत्कालीन मानसिक स्थिति की गूँज इन पंक्तियों में व्यंजित है। मिथ जब इस प्रकार प्रयुक्त होता है तो प्राचीन होते हुए भी सहृदय-हृदय-रंजन में समर्थ होता है।

प्रगतिवादी कवियों ने पुराख्यानिक पात्रों को नए संदर्भ में प्रस्तुत कर भारतीय समाज की विडंबनापूर्ण स्थिति पर तीखा व्यंग्य किया है—

(३) व्यास मुनि को धूप में रिक्शा चलाते
भीम-अर्जुन को गधे का बोझ ढोते देखता हूँ।
सत्य के हरिश्चन्द्र को अन्यायघर में
झूठ की देते गवाही देखता हूँ
द्रौपदी को और शंब्या को शची को

रूप की दूकान खोले
लाज को दो-दो टके में बेचते मैं देखता हूँ।

(सुमन : विश्वास बढ़ता ही गया)

उपर्युक्त पंक्तियों में व्यास, भीम, अर्जुन, हरिश्चन्द्र, द्रौपदी, दीव्यादि क्रमश ज्ञान, बल, सत्य, सतीत्व और एकनिष्ठा के प्रतीक बन गए हैं। ये पुराख्यानिक पात्र अपने व्यक्तित्व से मुक्त होकर भावों के द्योतक हैं। अपनी सांस्कृतिक परंपराओं पर गर्व करने वाले भारतीय समाज में व्यक्ति का, उसकी योग्यता का कोई मूल्य नहीं है। बलवानों के बल की नियति रिक्शा चलाने में है। सतीत्व को पूज्य मानने वाले भारत की नारियाँ रूप-जीवा बनकर समय काट रही हैं। प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर और आधुनिक स्थिति का कन्ट्रास्ट इस मिथ का व्यंग्य है।

(४) फेनिल आवर्तों के मध्य
अजगरों से घिरा हुआ
विष बुझी फुत्कारें
सुनता सहता
अगम नीलवर्णी
इस जल से कालियादह में
दहता
सुनो, कृष्ण हूँ मैं
भूल से साथियों ने
इधर फेंक दी थी जो गेंद
उसे लेने आया हूँ
आया था
आऊँगा
लेकर ही जाऊँगा।

(दुष्यन्त कुमार सत्यान्वेषी)

उपर्युक्त कविता में श्री कृष्ण की 'कालिया दमन' की घटना को नए संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है। सत्यान्वेषण की तीव्र विश्वासपूर्ण इच्छा की व्यंजना आठवीं पंक्ति के 'सुनो' और अंतिम पंक्ति के 'ही' से व्यक्त होती है। जब तक वह सत्य मिल न जाएगा, तब तक यह प्रयत्न चलेगा, यह भाव 'आऊँगा' से व्यक्त होता है। युग-भ्रम के वातावरण में सत्यान्वेषण के दृढ़ प्रयास की कामना इस पौराणिक मिथ द्वारा व्यंजित हुई है।

आधुनिक काव्य में अभिमन्यु मिथ एकाधिक बार प्रयुक्त हुआ है। वस्तुत: आज के परिस्थितियों में घिरे व्यक्तियों के टूटने का भाव अभिमन्यु मिथ से भली

भाँति व्यक्त होता है। अभिमन्यु की नियति उसके गर्भ में स्थित होने के समय ही निश्चित हो गई थी। अर्जुन ने गर्भभारालसा उत्तरा के मनोरंजन हेतु उसे चक्रव्यूह-रचना और उसके भेदन को विधि बतलाई, इसको सुनने के पश्चात् उत्तरा सो गई अतः अर्जुन निकलने की विधि न बता सका। गर्भस्थित अभिमन्यु भी चक्रव्यूह-भेदन तक ही सीख सका, निकलना नहीं। जब अर्जुन की अनुपस्थिति में चक्रव्यूह-भेदन का प्रसंग आया तो अभिमन्यु ने कहा कि व्यूह को भेद तो वह देगा पर लौटना नहीं जानता, क्योंकि गर्भ में वह उतना ही सीख पाया था। यह स्पष्ट है कि उसका आरब्ध निश्चित था, वह प्रवेश कर लेगा—पर उसके आगे? शत्रु से घिर जाना और फिर मृत्यु उसकी नियति होगी। अभिमन्यु की ही भाँति आज का मानव अपरिचित जीवन के चक्रव्यूहों में नियति द्वारा फेंक दिया जाता है। वह अपने पुरुषार्थ से बँधी-बँधाई लीकों को तोड़ने का प्रयत्न करता है, पर लक्ष्य तक उसका जयनाद ही पहुँचता है, वह स्वयं नहीं।

(५) शान्त हो,
काल को भी समय थोड़ा चाहिये,
जो घड़े कच्चे अपात्र डुबा गये मँझधार
तेरी सोहनी को चन्द्रभागा की उफनती छालियों में
उन्हीं में से उसी का जल अनन्तर तू पी सकेगा।
(अज्ञेय)

सोहनी-महिवाल पंजाब का लौकिक आख्यान है। सोहनी घड़ों की नौका बनाकर अपने प्रिय महिवाल से मिलने जाती थी। एक बार जब उसने घड़ों की नौका पानी में डाली तो बीच धार में जाकर घड़े गल गए, वे कच्ची मिट्टी के थे, सोहनी डूब गई। इस मिथ का प्रयोग अज्ञेय ने समय की प्रबलता, आदर्श की अपेक्षा यथार्थ की सत्यता को व्यंजित करने के लिए किया है। जिस चन्द्रभागा में सोहनी डूब गई, वह महिवाल के लिए करुण भाव का उद्दीपक है, उसे देखकर महिवाल दुःख-सागर में आकण्ठ निमग्न हो सकता है। पर, यथार्थ अधिक शक्तिशाली है, समय बड़े-से-बड़े दुःख के घाव को पूर देता है। इसीलिए कवि कहता है—'कुछ दिन ठहर, काल को भी समय चाहिये, फिर तू उसी चन्द्रभागा का जल पीएगा, उन्हीं घड़ों से पीएगा, जिन्होंने तेरी सोहनी को डुबो दिया था।'

(६) क्रौंच बैठा हो कभी वल्मीक पर
तो मत समझ वह अनुष्टुप् बाँचता है,
संगिनी के स्मरण में,
जान ले वह दीमकों की टोह में है। (अज्ञेय)

क्रौंच की प्रिया-विर'-कातर वाणी से प्रभावित होकर ही वाल्मीकि ने श्लोक रचा था, वह प्रथम छन्द अनुष्टुप था। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जब क्रौंच दिखे तो वह करुणा-कातर ही हो। यदि वल्मीक पर क्रौंच बैठा हो तो वह दीमकों की खोज में होगा। 'अनुष्टुप् बाँचना है' की व्यजना 'शोककातर होना' है, क्योंकि वाल्मीकि का अनुष्टुप् शोक की अभिव्यक्ति था।

'ताजमहल', 'द्रोणाचार्य', 'एकलव्य' 'आदम का निषिद्ध फल' अनेक मिथों का उपयोग आधुनिक काव्य में किया गया है।

मिथ के उपर्युक्त उदाहरण सहित विवेचन से यह प्रमाणित होता है कि मिथ व्यंजक उपादान है।

अब आधुनिक हिन्दी काव्य का विवेचन यदि किसी काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त के आधार पर किया जा सकता है तो वह 'ध्वनिसिद्धान्त हो है। नई कविता की भाषा को कवियों और आलोचकों ने व्यजना की भाषा माना है। प्रतीक, बिम्ब और मिथ को कविता का विशिष्ट उपादान कहा है—ये सब व्यजक ही हैं।

उपसंहार

ध्वन्यालोक भारतीय काव्यशास्त्र का आकर ग्रन्थ है। संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में इसका उल्लेखनीय प्रभाव रहा है। ध्वनिसिद्धान्त वस्तुतः लक्षण ग्रन्थों से प्रमाणित सिद्धान्त है। काव्य का परीक्षण करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि सहृदय को चमत्कृत करने वाला तत्त्व भी प्रतीयमान अर्थ ही है। किसी भी काल की कविता का विश्लेषण प्रतीयमान अर्थ के अस्तित्व और महत्त्व को सिद्ध करता है।

भारतीय काव्यशास्त्र की रस-परंपरा को नकार कर भी आधुनिक कवि और आलोचक भाषा की व्यंजना शक्ति को स्वीकार करते हुये आधुनिक युगबोध जनित संप्रेष्य को काव्य में ध्वनित होना मानते हैं। पाश्चत्य काव्यशास्त्री भी प्रतीयमान अर्थ से गर्भित काव्य को श्रेष्ठ मानते हैं। अतः पूर्व अध्यायों के प्रकाश मे यह निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा में ध्वनिसिद्धान्त महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। यह सिद्धान्त काव्य के मूलभूत प्रश्नों का समाधान करता हुआ उसके शाश्वत सत्य का उद्घाटन करता है।

आनन्दवर्धन के परवर्ती काव्यशास्त्र में मूल तत्त्वों के विवेचन पर ध्वनिसिद्धान्त का प्रभाव स्पष्ट है। अभिनव ने रस की अभिव्यक्ति स्वीकार की, साधारणीकरण की शक्ति ध्वनन व्यापार में प्रतिपादित की। महिम भट्ट, कुन्तक, धनंजय-धनिक आदि ने 'ध्वनि' का विरोध किया। पर महिम भट्ट कृत विरोध 'केवल विरोध' के लिए ही था। कुन्तक के वक्रोक्तिजीवित की पद, प्रत्यय आदि में वक्रता अवधान प्रणाली ध्वन्यालोक से ही ग्रहण की गई है, यहाँ तक कि जिस उदाहरण में आनन्दवर्धन ने निपात ध्वनि मानी है, कुन्तक ने उसी में निपात वक्रता मानी है।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी अपने ग्रन्थ की रूपरेखा का विस्तार ध्वन्यालोक की प्रणाली पर किया है। मम्मट आदि आचार्यों ने अलंकारों और गुणों का विवेचन ध्वन्यालोकसम्मत ही किया है।

हिन्दी के आधुनिक साहित्यशास्त्री 'रससिद्धान्त' पर ग्रन्थ लिखते हुए भी, 'रस' को 'ध्वनि' की अपेक्षा महत्त्व देते हुए भी (क्योंकि उनके ग्रन्थ रस-सिद्धान्त विषयक हैं।) इस सत्य को स्वीकार कर जाते हैं कि 'रस' और 'रसध्वनि' अभिन्न हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भरत के 'विभावानुभाव ··· ' आदि सूत्र— नियंत्रित रससिद्धान्त नाट्य संदर्भीय था। आनन्दवर्धन ने इसे काव्य के लिए प्रयोगार्ह

बनाया था नाट्य संदर्भीय रस सिद्धान्त की दृष्टि से जो महत्व भरत का है, वही काव्यरस के संदर्भ में आनन्दवर्धन का है। आनन्दवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त का सर्वातिशायी महत्व इस तथ्य में है कि वह वस्तु और अलंकार की प्रतीयमानता का भी प्रतिपादन करता है। रसध्वनि का महत्व तो है ही पर वह सर्वत्र ता नहीं होती। तब क्या वस्तु और अलंकाररूप अर्थ को व्यंजित करने वाले काव्य को काव्य न माना जायगा? इस काव्य में सहृदयों को चित्त-चमत्कृति का आनन्द अनुभव होता है। 'रस सिद्धान्त' इस प्रकार के काव्य की व्याख्या में अक्षम है। यह सिद्ध किया जा चुका है कि ध्वनिसिद्धान्त ने काव्य का वस्तु और अलंकार कोटियों का भी तर्कसम्मत विवेचन किया है। संलक्ष्यक्रम के अन्तर्गत बुद्धि का व्यापार और प्रतीयमान अर्थ के उद्घाटन से अभिव्यक्त आनन्द की अनुभूति स्पष्ट है। आधुनिक मुक्तक कविता के आनन्द की व्याख्या का यही आधार हो सकता है।

अतः ध्वनिसिद्धान्त कविता के सभी अभिव्यक्ति-प्रकारों को समेटता है। इस सिद्धान्त के रहते 'रससिद्धान्त' को व्यापक करने की अपेक्षा नहीं रह जाती। मानव हृदय की संपूर्ण भावसंपदा और अनुभूतिवैभव अथवा 'भावकुहार' का समावेश 'रससिद्धान्त' में नहीं हो पाता, उसका समुचित समाधान ध्वनिसिद्धान्त में ही है। ध्वन्यालोक काव्यशिक्षा का ग्रन्थ भी है। अलंकारों का, गुणों का, वृत्तियों का, रस का आयोजन कवि को कैसे करना चाहिए, इस विषय में निश्चित, सकेतसूत्र उदाहरण सहित प्रस्तुत किये गये हैं। पूर्व अध्यायों के विवेचन से यह प्रमाणित किया जा चुका है कि अभिनव के रस विवेचन का दृढ़ आधार तो ध्वन्यालोक है ही, अभिनवपरवर्ती आचार्य भी इस आधार को ग्रहण किए रहे हैं। हिन्दी के आधुनिक काव्यशास्त्रियों ने आनन्दवर्धन और उनके ध्वन्यालोक का सही मूल्यांकन नहीं किया है, इसीलिए आज का कवि और हिन्दी-आलोचक भारतीय काव्यशास्त्र और रससिद्धान्त को पर्यायवाची मानकर रससिद्धान्त का अप्रयोगात् पाकर, काव्यशास्त्र को ही नकारता है।

ध्वनि सिद्धान्त काव्य की मूलभूत इकाइयों शब्द और अर्थ पर आधृत है। नैतिकता अनैतिकता, धर्म दर्शन, ब्रह्मानन्द आत्मानन्द आदि से मुक्त ध्वनिसिद्धान्त काव्य को जीवन्त अस्तित्व मानकर उसका विवेचन करता है।

आधुनिक शैलीशास्त्री और प्रोवरवित जैसे अमेरिकन काव्यशास्त्री जिस आधार पर शैलीशास्त्रीय विवेचन की प्रणाली प्रस्तुत करते हैं वह आनन्दवर्धन ने नवम शती में उपस्थित की थी। ध्वनिसिद्धान्त एक व्यवस्था (System) है जो काव्य के संबंध में सही निष्कर्ष प्रस्तुत करती है।

पूर्व अध्यायों में यह प्रमाणित किया गया है कि ध्वनिसिद्धान्त के दो स्तर हैं। प्रथम वह जहाँ सौन्दर्य का विवेचन है यह सौन्दर्य विवेचन करना मात्र का सौन्दर्य

के लिए संगत है। द्वितीय स्तर वह है जहाँ आनन्दवर्धन इस सौन्दर्य की चर्चा विशेषतः काव्य के प्रसंग में करते हैं।

अतः ध्वनिसिद्धान्त सामान्यतः सौन्दर्य चर्चा में प्रवृत्त हुआ है और विशेषतः काव्य सौन्दर्य चर्चा में। इस दृष्टि से ध्वनिसिद्धान्त का महत्त्व और भी हो जाता है।

पुनः ध्वनिसिद्धान्त ने जिस प्रतीयमान अर्थ की चर्चा की है वह कविता की सृजन-प्रक्रिया का अनिवार्य परिणाम है। कवि की अनुभूति प्रतीयमान होकर ही व्यक्त होती है, यह उसकी नियति है। बिम्ब, पुराख्यान और प्रतीक आदि का प्रयोग कवि इसीलिये करता है। इन आवरणों में उसकी अनुभूति अपने सक्षम रूप में सुरक्षित रहती है।

इसलिये ध्वनिसिद्धान्त एक पूर्ण सिद्धान्त है। मैं इसे 'मानववादी', 'सार्वभौम' आदि का विशेषण नहीं देना चाहता। ये विशेषण घिस गये हैं, वास्तविकता पर आवरण डालते हैं। अनाख्येयता, अस्पष्टता आदि को ध्वनिसिद्धान्त स्वीकार ही नहीं करता, 'रस की अनिर्वचनीयता' जैसी कोई बात यहाँ नहीं है।

वस्तुतः काव्य में रस की धारणा वही संभव है जिसे आनन्दवर्धन ने 'रस-ध्वनि' कहा है। ध्वनिसिद्धान्त प्रतिपादित प्रतीयमान अर्थ की अतिशयता अपने आप में सत्य है, जिसे भारतीय और पाश्चात्य कवि-आचार्यों ने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। अत ध्वनिसिद्धान्त जैसे सिद्धान्त के रहते, आधुनिक काव्य के लिए, भारतीय काव्यशास्त्र को नकारने का प्रयत्न काव्यशास्त्र के प्रति पूर्णज्ञान न होने का ही सूचक है। विश्व की किसी भी काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त-परम्परा के सन्दर्भ में ध्वनि सिद्धान्त की मूल्यवत्ता अखंडित ही रहेगी।

———

परिशिष्ट-१

१. रससिद्धान्त 'शक्ति और सीमा' के अन्तर्गत लिखा गया है—

'आनन्दवर्धन ने ध्वनि की उद्भावना द्वारा शब्दार्थ की निहित शक्तियों का उद्घाटन किया और व्यञ्जना के द्वारा विभावादि को उपस्थित करने वाली नाट्यसामग्री की पूर्ति की।'

'अभिनव ने इस तथ्य को और भी स्पष्ट किया, काव्य के साथ रस का उचित सम्बन्ध स्थापित हुआ और शब्दार्थ के संदर्भ में ही रस सिद्धान्त की पूर्ण प्रतिष्ठा हो गई।'

डॉ० साहब, क्या उपर्युक्त उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकालना ठीक है कि वह मूल (भरत) रससूत्र-नियंत्रित नहीं है।

……………हाँ।

काव्य-संदर्भीय रसप्रक्रिया आनन्दवर्धन-प्रतिपादित है, अभिनव ने उसे केवल 'और भी स्पष्ट' किया है। क्या यह सोचने में मैं ठीक हूँ ?

………नहीं, अभिनव का अभिमत ही मुख्यतः मान्य हुआ है।—उक्त मन्तव्य केवल व्यंजना तक ही सीमित है।

२. ध्वन्यालोक (सं० आ० वि०) की भूमिका में आपने लिखा है—

'ध्वनि और रस दोनों में रस ही अधिक महत्त्वपूर्ण है उसी के कारण ध्वनि में रमणीयता आती है। पर रस को व्यापक अर्थ में ग्रहण करना चाहिये।……रस के अंतर्गत समस्त

भावविभूति अथवा अनुभूति वैभव आ जाता है।' (पृ० ३२)

शंका यह है कि 'रस और ध्वनि' की तुलना करके रस को अधिक महत्त्वपूर्ण क्या कहा गया है, विशेषत उस स्थिति मे जब काव्य मे रस की वही धारणा स्वीकार की जा रही हो जो ध्वनिसिद्धान्त मे कथित है। मुझे लगता है ध्वनि तो कथ्य के प्रतीयमान होने की प्रक्रिया है, यह प्रतीयमानता सलक्ष्यक्रम हो या फिर असलक्ष्यक्रम। ध्वनिसिद्धान्त कवि की अनुभूति क व्यग्य होने का विवेचन करता है। वह रस के व्यग्य होने का ही नही, वस्तु और अलकार रूप अर्थ के व्यग्यत्व अथवा अनुभूति मात्र के व्यग्यत्व का प्रमाण प्रस्तुत करता है। क्या यह विचारणा ठीक है ?

– .... वस्तु और अलकार की रमणीयता मे भी भाव या रागतत्त्व का सस्पर्श अनिवार्यत रहता है।

आपने लिखा है—'रसशास्त्र के अनुसार रागतत्त्व की सीमा के भीतर भी रस स्वरूप अत्यन्त व्यापक है। शास्त्र मे रस की परिधि के अन्तर्गत रस, रसाभास—भावशक्ति का निर्भ्रान्ति रूप से समावेश किया है गया।'

—रस-सिद्धान्त, पृ० ३१६

रसशास्त्र से यहाँ क्या तात्पर्य है ? जिस रस-शास्त्र की परिधि में रसाभासादि का आख्यान है वह भरत का तो है नहीं, भरत ने रसाभास का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। रसाभासादि के विषय में सर्वप्रथम प्रामाणिक विवेचन आनन्दवधन ने ही किया है। आनन्दवर्धन से मम्मट तक का यह रसाभासादि असलक्ष्य-क्रम व्यग्य के प्रकार रूप में ही वर्णित हैं।

तब आपने जिस 'रसशास्त्र' का उल्लेख किया है, वह आनन्दवर्धन का असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य का ही रसशास्त्र है अन्य नहीं, रस को व्यंग्य आप भी मानते हैं। क्या यह विचारणा सही है ?	·········रसशास्त्र यहाँ 'रस-सिद्धान्त, का पर्याय है— किसी ग्रन्थ का वाचक नहीं है।
४. आपने रस में अनुभूति का अतिशय और ध्वनि में कल्पना की प्रधानता मानी है। आनन्दवर्धन तो 'क्रौन्चद्वन्द्वियोगस्य' आदि श्लोक द्वारा मूल में ही अनुभूति मानते हैं। फिर ध्वनि में अनुभूति का निषेध कहीं नहीं किया गया है। ऐसी स्थिति में ध्वनि में कल्पना को अधिक महत्त्व दिया गया है—यह कैसे प्रमाणित हो सकेगा ?	······यह रस-ध्वनि है जो रस से अधिक है। ······प्रश्न प्रधानता का है रस का आधार-तत्त्व है भाव और ध्वनि में कल्पना का आधार रहता है।
५. समस्त भावसम्पदा और अनुभूति वैभव जिसमें समाहित हो ऐसा सिद्धान्त तो फिर 'ध्वनि' ही है। ध्वनिसिद्धान्त-प्रतिपादित रस-प्रकल्पना ही काव्य में संगत है, यह रस अर्थरूप ही है।	······नहीं—ऐसा क्यों ? ध्वनि की स्वतंत्र सत्ता हो इस बात पर आधृत है कि उसमें भाव-सम्पत्ति गौण भी हो सकती है, जबकि रस में यह सम्भव नहीं है।

प्रियवर

आपके प्रश्नों पर मैंने अपनी प्रतिक्रियायें सूचित कर दी हैं। इस समय और अधिक लिखने का अवकाश नहीं है। क्षमा करेंगे।

शुभैषी
डॉ० नगेन्द्र

BIBLIOGRAPHY

Abercrombie (Lascelles)	*Idea of great poetry* 1925
Allport (*Gordon W*)	Personality and Social Encounter 1960
Anandavardhana	Dhvanyaloka 1928
Barflett (*Francis H*)	Sigmund Freud 1938
Barlinge (*Surendra*)	Saundarya tatva aur kavya siddhant
Baudouin (*C*)	Psychoanalysis and Aesthetics tr by Eden and Cedar Paul 1924
Beaty and Matchett	Poetry from statement to meaning
Bergson (*H*)	Introduction to Metaphysics 1912
Bernard (*L L*)	Misuse of intinct in the Social Sciences (Psychological Review Vol 28 1921)
Bhamaha	Bhamahalankara 1909
Bhanu (*Jagnnath Prasad*)	Kavya prabhakar
Bharata	Natya Sastra 1929
Bhatta (*Mahima*)	Vyakti viveka 1909
Bhatta (*Mukul*)	Abidha vritti matrka 1916
Bowra (*C M*)	Background of modern poetry 1946
Bowra (*C. M*)	Creative experiment 1949.
Brill (*A*)	Psychoanalysis
Brown (*Stephen J*)	World of imagery 1927
Browne (*Thomas*)	Theory of beauty quoted by E F Carritt, 1940
Carr (*Harvey A*)	Psychology 1935
Carritt (*E F*)	Theory of beauty
Cary (*Joyce*)	Art and Reality 1958

Chaitanya (Krishna)	:	New history of Sanskrit literature. 1962.
Cook	:	Defence of poetry.
Croce B)	:	Essence of Aesthetic. 1921.
Cuber and Harroff	:	Readings in Sociology. 1962.
Dandin	:	Kavyadarsa. 1910.
De (S. K.)	:	History of Sanskrit Poetics. Rev. Ed. 1960.
De 'S. K.)	:	Sanskrit poetics.
De S. K.)	:	Studies in the history of
	:	Sanskrit poetics. 1925.
Dewey (John)	:	Art as experience. 1934.
Dhananjaya	:	Dasarupaka. 1917.
Dikshita (Appayya)	:	Kuvalayananda·
Dixit (Anand Prakash)	:	Ras siddhant swarup aur vishlesan.
Doby (John T.)	:	Introduction to Social Psychology.
Dunlap (Knight)	:	Are there any instincts. (Journal of abnormal Psychology. Vol. 14. 1919)
Dwivedi (R C.)	:	Principles of Literary Criticism in Sanskrit.
Dwivedi (Reva Prasad)	:	Ananda Vardhan.
Edman Trwin)	:	Art and man.
Eliot (T. S.)	:	Music of poetry. 1942.
Empson (W)	:	Seven types of amleiguity.
	:	Encyclopedia of Philosophy Vol. 1.
Faris (Elsworth)	:	Are instincts data or hypotheses. (American journal of Sociology. Vol. ‥7. 1921)
Freeman	:	Linguistics and Literary style.
Freud (S)	:	Group psychology and the analysis of the ego. 1922.
Freud (S)	:	Introductory lectures on Psychoanalysis.

Fromm (Erich)	.	Psychoanalysis and Religion 1950
Gleason (H A)		An introduction to Descriptive Linguistics
Gnoli (R)	:	Aesthetic experienc according to Abhinava Gupta Ed & 1968
Greene		Arts and art criticism Ed 3 1952
Gupta (Abhinava)		Abhinava bharti 1926
Gupta (Abhinava)		Lochana on dhvanyaloka
Gurrey (P)		Appreciation of poetry 1951
Guthrie		Psychology of human conflict Ed 2 1950
Hall (Robert A Jr)		Introductory Linguistics
Hemachandra		Kavyanusasana 1901
Hiriyanna (M)		Art experience, 1954
Hockett		A Course in modern Linguistics.
Houseman (A E)		Name and nature of poetry 1933
		Introductory Reading on Language
Jagannatha		Rasa gangadhara 1913
Jain (Nirmala)		Ras siddhant aur saudarya shastra
Jain (Nirmala)		Siddha t aur adhyayan
Jain (Vimal Kumar)		Kamayani men shabd shakti chamatkar.
Jain (Vimal Kumar)		Ras siddhant aur saundarya shastra
Jayadeva		Chandraloka ed by Jivanand 1966
Kalelakar (Kaka) and Negandra	.	Bhartiya kavya siddhant
Kane (P V)	:	History of Sanskrit poetics Ed 3 1961
Krishna Chaitanya	:	Indian Poetics
Krishna Moorthy (K)	.	Essays in Sanskrit poetics
Kshemendra	:	Aucityavicharcharcha 1901
Kumar Vimal	.	Sundarya shastra ke tattva
Kuntaka	.	Vakrokti-jivita 1923

Langer (Suranne) : Feeling and from. 1953.

Langer (Susanne) : Problems of art. 1953.

Lashley (K. S.) : Psychological Review. Vol. 45. 1938. p. 445.

Leech (Geoffrey N) : Linguistic guide 'o English poe'ry.

Lewis (C. Day) : Poetic image.

Mammata : Kavyaprakasa. 1911.

Mannheim (Karl) : Essays on the sociology of knowledge. 1952.

Maritain (Jacques) : Creative intuition in Art and poetry. 1953.

Mc Conbrey (J. W.) : American art. 1965.

Mc Dougall (William) : Introduction to Social Psychology 1916.

Mishra (Bhagirath) : Bhar.iya kavya shastra ka itihas.

Mishra (Bhagirath) : Hindi kavya shastra ka i ihas.

Mishra (Ramdahin) : Kavyadarpan.

Muktibodh : Chand ka munha tedha.

Muktibodh : Eka Sahityaka ki di ry.

Myers (Bernard. S.) : Understanding the art. 1958

Nagar : Hindi ki prayogshil kavita aur uske prerana sr tra.

Nagendra : Bhar'iya kavya shastra ki parampara.

Nagendra : Hindi vakrok'ijivi'am.

Nagendra : Kavya bimb.

Nagendra : Ras siddhant.

Nagendra : Riti kavya ki bhumika.

Naidu (P. S.) : Rasa doctrine and the concept of suggestion in Hindu Aesthetics (Journal of the Annamalai University. Sept. 1940. p. 8.)

Ogden and Richards : Foundations of Aesthetics. 1925.

Osborne (Harold) : Aesthetics and criticism. 1955.

Ozenfant : Foundation of modern art. 1952.

Pandey (K. C)	History of Indian Aesthetics 1950
Parmar (Shyam)	Akavita aur kala sandarbha
Pathak (Jagannath)	Dhvanyaloka
Pauddar (Kanhayalal)	Kavya kalpadrum
Pauddar (Kanhayalal	Ras manjari
Pollitt (J J)	Art of Greece 1965
Prasad Jaishankar)	Kamayani
Prescott (F C)	Poetic mind 1922
Raghavan (V)	Number of Ra as 1940
Raghavan V)	Some concepts of Alamkar shastra
Raghavan (V)	Studies in some concepts of the alamkara shastra 1942
Rajashekhara	Kavyamimam a 1916
Rathbun and Hayes	Layman's guide to modern art Ed 4 1957
Read Herbert)	Art and society
Read (Herbert)	Meaning of art.
Read (Herbert)	True voice of feeling (studies in English Romantic poetry 1954)
Read (L A)	Study in Aesthetics 1931
Riviere (Joan)	Introductory lectures on Psychoanalysis
Rosenberg Bernard) and Manningwhite (David)	Mass Culture 1964
Royce (James E)	Man and Nature
Rudrata	Kavyalamkara, 1906
Ruyyaka	Alamkar sarvasva 1915
Sankaran (A)	Some aspects of literary criticism in Sanskrit 1929
Santayana (George)	Sense of beauty 1955
Sastri (P P)	Philosophy of Aesthic Pleasure
Shand (A F)	Character and the emotions (Mind, New Series, Vo. 5 1896)
Sharma (Krishan Kumar)	Vyanjana Siddhi aur parampara

Sharma (Rama Kant) : Chayavad ttar Hi di kavi a.

Shastri (Kali Charan) : Requi ites f poet. (Journal of the Department of Letters. Vo. 26. p. 1-31)

Shastri (Shri Dharanand) : Laghu Siddhant Kaumu i.

Sukla (Ram Chandra) : Ras mimamsa.

Shyam Sundar Das : Sahityalcchan.

Singh (Namvar) : Kavita ke naye pratiman.

Singh (Shambhu Nath) : Prayogavad aur nayi kavita.

Singh (Shiv karan) : Kala Srijan prakriya.

Skard (A. G.) : Needs and needenergy (Character & personality Vol. 8. 1939. p. 28-41)

Smith (Alfred G.) : Communication and Culture. 1966.

Stranss (Anselum) : Mead on Social Psychology.

Straness and Lindesmith ; Social psychology. 1949.

Strong (L. A. G.) : Common sense about poetry 1952.

Tegera (Victoria) : Art and human intelligence. 1965.

Thomas (F. W.) : Making of a Sanskrit poet. (Bhandarkar Commemoration Volume. p. 375-86)

Thompson (Clara) : Psychoanalysis. 1951.

Tiwari (Ramanand) : Sahitya kala.

Tolstoy (Leo) : What is art ? 1905.

Udbhata : Kavyalamkara samgraha ed. by M. R. Telang. 1915.

Upadhyaya (Ayoudhya Prasad) : Raskalash.

Vajpeyi (Kailash) : Adhunik Hindi Kavita men shilp.

Vajpayi (Nand Dulare) : Naya sahitya : Naye Prashna.

Vamama : Kavyalamkar sutra vritti. 1922.

Varma (Lakshmi Kant) : Nayi Kavita ke partiman.

Varshney (L S.) : Beesvi shatabdi ka Hindi Sahitya. Naye Sandarbh.

Vasu (S C) — Panini Asthadhyayi Vol. I
Vishveswar, Ed — Dhvanyaloka.
Visvanath — Sahitya darpan 1951.
Vyas (Bhola Shankar) — Dhvani sampraday aur uske sidddhant
Weismann (Donald L) — Visual arts as human experience
Weitz (Morris) — Problems in Aesthetics, Ed 9 1969
Wellek (Rene) — History of modern criticism 1955
Wellek (Rene) and Warren (Austin) — Theory of Literature. 1949.
Whalley (George) : Poetic process 1953
Whitehead (A N) : Symbolism its meaning and effect 1928
Wickisu (Ralph L) : Introduction to art activities

JOURNALS

American Journal of Sociology, Vol 27
Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute Vol 24 (Poona)
Indian Culture Vol 6
International Journal of Social Sciences
International Encyclopedia of Social Sciences
Journal of Oriental Research, Madras Vol 7
Journal of Abnormal Psychology Vol. 14.
Journal of the Annamalai University, Sept 1949
Psychological Review, Vol 42
Psychological Review, Vol 35
Psychological Review, Vol 45
Psychological Review, Vol 28